॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

स्व० आचार्यकल्प १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

की

समाधि-स्मृति स्वरूप

श्री सन्मति दि० जैन महिला विद्यालय

सीकर

द्वारा प्रकाशित

प्रस्तुत 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ

श्री मान उमेद मलजी पॉड्या

(सीकर)

को सादर भेंट

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवविरचित

वृहद्द्रव्यसंग्रहः

तथा

लघुद्रव्यसंग्रहः

(श्री ब्रह्मदेवविरचितसंस्कृतवृत्तिसहितः एवं हिन्दीभाषानुवादसमुपेतः)

[भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतपञ्जिकासहितः]

स्व० आचार्यकल्प विवेकसागरजी महाराज के प्रति समर्पित

श्रद्धाञ्जलि एवं भावसुमन सामग्री से संयुक्त

सम्पादक :

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक :

श्री सन्मति दि० जैन महिला विद्यालय

सीकर (राज०)

△ बृहद्द्रव्यसंग्रहः

△ रचयिता :
श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव

△ संस्कृतवृत्तिकारः
श्री ब्रह्मदेव

△ टिप्पणकार :
पं० जवाहरलाल जैन सि० शास्त्री
भीण्डर (राज०)

△ सम्पादक :
डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

△ प्राप्तिस्थान :
प्रकाशचन्द जैन दीवानजीका
व्यवस्थापक,
श्री सन्मति दि० जैन महिला विद्यालय
सीकर (राज०)

△ प्रकाशन तिथि :
फाल्गुन कृष्णा अष्टमी, २०४३
(पूज्यश्री की प्रथम पुण्यतिथि)
२१ फरवरी, १९८६

△ मुद्रक :
बाकलीवाल प्रिन्टर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

स्व० आचार्यश्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज

जन्म—	दीक्षा—	समाधि—
स्थान–राणोली ग्राम (राज०)	स्थान–फुलेरा ग्राम (राज०)	स्थान–नसीराबाद (राज०)
वि० सं० १९४८	वि० सं० २०१४	वि० सं० २०२९

समर्पण

श्रेष्ठ तपस्वी, दृढ़ संयमी, कठोर चर्याशील

आगमनिष्ठ

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, जिनवाणी प्रसारक

परम शासन प्रभावक

'वज्र से भी कठोर, कुसुम से भी कोमल'

श्रेष्ठ तपोधन

अविचल ध्यानी

परम पूज्य १०८ श्री (स्व०) विवेकसागरजी महाराज

की

पावन स्मृति को

अनन्य श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक

सविनय समर्पित
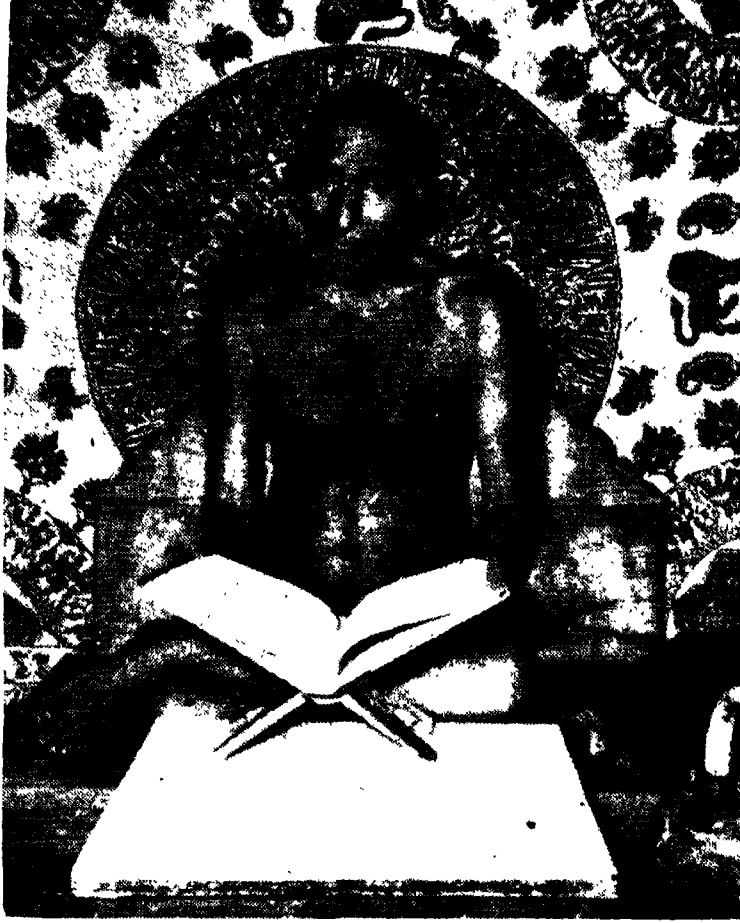
स्व० आचार्यकल्पश्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

जन्म—	दीक्षा—	समाधि—
वि. सं. १९७०	वि. सं. २०२५	वि. सं. २०४२
आषाढ़ कृष्णा १०	फाल्गुन कृष्णा ५	फाल्गुन कृष्णा ८
	नसीराबाद (राज०)	सीकर (राज०)

समर्पण

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय ज्ञानवृद्ध

स्व० आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज

के

द्वितीय दीक्षित शिष्य मुनिश्री तपोनिधि

स्व० आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज

को

पुण्य स्मृति को

सश्रद्ध सविनय समर्पित—

प्रकाशकीय

ये गुरु चरण जहां धरें, जग में तीरथ होय ।
सो रज मम मस्तक चढ़ो, 'भूधर' मांगे सोय ।।

राजस्थान के सीकर जिले का यह सौभाग्य है कि यहां दिगम्बर साधु-सन्तों के विहार की बड़ी लम्बी परम्परा रही है। वर्तमान के प्रायः सभी साधु-संतों का आशीर्वाद भी इस भूमि को प्राप्त है। स्व. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज इसी क्षेत्र के राणोली कस्बे के आदर्श पुरुष थे। स्व. मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज ने आपसे ही मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। मुनिश्री का २०३१ वि० सं० का चातुर्मास सीकर में सम्पन्न हुआ था तब आपकी प्रेरणा से 'चारित्रधर्मप्रकाश' ग्रन्थ का प्रकाशन सीकर समाज ने करवाया था।

वि० सं० २०४२ का अपना वर्षायोग पूर्ण कर आचार्यकल्पश्री संघ सहित नावां, कुचामन, सुजानगढ़ होते हुए माघ शुक्ला त्रयोदशी, शनिवार दिनांक २२ फरवरी' ८६ को सीकर पधारे थे। विहार का श्रम तो था ही, दुर्बल शरीर पर रोगों ने भी आक्रमण कर दिया था, फलतः १०–११ दिन की अस्वस्थता में ही आत्मस्वरूप में पूर्णतया सावधानीपूर्वक दिनांक ३ मार्च, १९८६ की रात्रि में १० बजे आपने इस नश्वर शरीर का त्याग कर पर्यायान्तर को प्रस्थान किया। आकस्मिक रूप से एक दिव्य विभूति के महाप्रयाण से सारा समाज हतप्रभ रह गया परन्तु प्रत्येक जीवन के निधन का वह क्षण अपरिहार्य है; यही मान कर सन्तोष करना पड़ा। पूज्य मुनिश्री अब हमारे बीच नहीं हैं, काल ने उनसे हमको छीन लिया परन्तु उनकी स्मृतियों को छीनने की शक्ति तो उसमें भी नहीं। पूज्य-श्री की समाधिस्मृति स्वरूप एक भव्य छतरी के निर्माण की योजना के साथ ही उनके गौरव के अनुरूप एक ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना भी तत्काल बनी। उदार भक्तों के सहयोग से दोनों महत्वपूर्ण कार्य सोत्साह सम्पन्न हुए हैं। छतरी निर्मित हो चुकी है और स्मृतिस्वरूप यह 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ भी प्रकाशित होकर आपके हाथों में है।

श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर ने इस ग्रन्थके प्रकाशन का उत्तरदायित्व स्थानीय श्री सन्मति दिग० जैन महिला विद्यालय को सौंपा था, हमें बड़ी प्रसन्नता है कि हम इस उत्तरदायित्व का सफलता पूर्वक निर्वाह कर सके हैं। इस महिला विद्यालय का शुभारम्भ महिलारत्न वि० ब्र० पतासीबाईजी के कर-कमलों द्वारा ज्येष्ठ शुक्ला ५ सं० २००७ को श्री दंग की नसियां में सम्पन्न हुआ था। इस संस्था की स्थापना आपके ही अथक प्रयासों एवं दृढ़ लगन से सम्भव हुई।

विद्यालय का मुख्य उद्देश्य समाज के महिला वर्ग को लौकिक एवं धार्मिक शिक्षा प्रदान कर उनके पारिवारिक जीवन को अधिक सुखी बनाने का है जिससे वे समाज और राष्ट्र के विकास में समुचित सहयोग देकर अपनी आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हो सकें। संस्थामें आठवीं कक्षा तक की शिक्षा की व्यवस्था है। धार्मिक एवं जीवनोपयोगी व्यावहारिक शिक्षण के साथ-साथ राज्य सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा निर्दिष्ट लौकिक विषयों का अध्यापन भी होता है। सिलाई एवं बुनाई शिक्षण की विशेष व्यवस्था है।

विद्यालय की छात्राएं एवं महिलाएं प्रतिवर्ष श्री मानिकचन्द दिगम्बर जैन परीक्षालय, (सोलापुर) बम्बई तथा श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा परीक्षालय, इन्दौर द्वारा आयोजित विविध धर्मग्रन्थों की परीक्षाओं में बैठती हैं। परिणाम भी शत प्रतिशत रहता है। विगत २५ वर्षों से विद्यालय का निजी भवन है जिसमें कक्षाओं के दस कमरे, एक प्रधानाध्यापिका कार्यालय और एक बड़ा हाल बना हुआ है।

विद्यालय की व्यवस्था हेतु सीकर जैन महिला समाज की एक कार्यकारिणी समिति बनी हुई है जिसके पदाधिकारियों एवं सदस्यों की संख्या ग्यारह है। एक पद व्यवस्थापक का भी है जो जैन समाज में से मनोनीत किया जाता है; उसकी योग्यता कम से कम बी. ए. बी. एड. है। मनोनीत सदस्य को कार्यकारिणी की ओर से कुछ अधिकार प्राप्त हैं जैसे—शिक्षा विभाग से पत्राचार करना, अध्यापन कार्य का निरीक्षण करना, नियुक्तियां करना आदि। वर्तमान में इस महत्त्वपूर्ण पद का उत्तरदायित्व श्री प्रकाशचन्दजी जैन दीवान, एम. ए., एम. एड. बखूबी निभा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उनका महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। अर्थ-संग्रह तथा कागज की खरीद से लेकर पत्राचार आदि के सभी कार्य आपने गुरुभक्तिवश सहज रूप से सम्पन्न किए हैं। वे अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। जिन दातारों ने उदारतापूर्वक इस पुनीत प्रयोजन के लिये अर्थ प्रदान किया है वे भी साधुवाद के पात्र हैं।

संस्था को इस पुनीत ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए बड़े गौरव का अनुभव हो रहा है। जैन समाज ने हमें इसके प्रकाशन का अवसर प्रदान किया, अतः हम समाज के विशेष आभारी हैं। आशा है, प्रस्तुत ग्रन्थ 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' का स्वाध्याय कर साधर्मी बन्धुगण सच्चे देवशास्त्र गुरु में अपनी श्रद्धा को अटल करेंगे और उनकी शिक्षाओं को जीवन में उतारने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे—यही दिवंगत मुनिश्री को सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

—मंत्री, श्री सन्मति दिगम्बर जैन महिला विद्यालय
सीकर (राजस्थान)

श्री सन्मति दिगम्बर जैन महिला विद्यालय, सीकर
की कर्मठ मंत्री
श्रीमती गुलाबदेवी धर्मपत्नी श्री नारायणमलजी बानूड़ा वाला
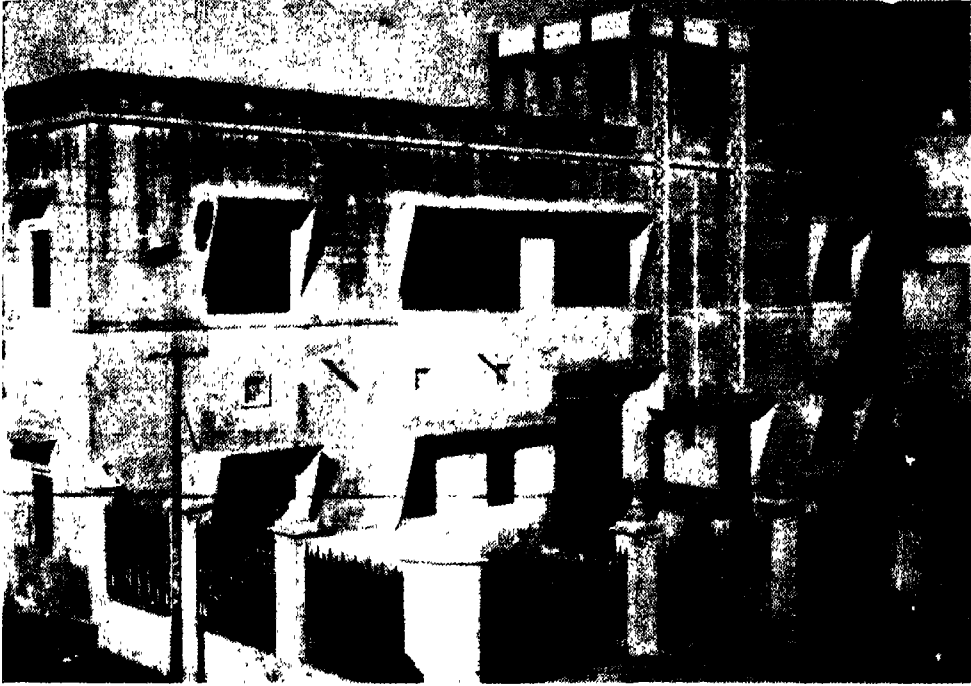
श्री सन्मति दिग० जैन महिला विद्यालय का भव्य भवन

विद्यालय के वर्तमान व्यवस्थापक : श्री प्रकाशचन्द्र जैन दीवान

श्री सन्मति दिगम्बर जैन महिला विद्यालय
सीकर (राजस्थान)

—: कार्यकारिणी समिति :—

अध्यक्ष	—	श्रीमती भंवरीदेवी W/o. श्री घीसालालजी छाबड़ा
उपाध्यक्ष	—	श्रीमती भंवरीदेवी W/o. श्री चौथमलजी पहाड़िया
मंत्री	—	श्रीमती गुलाबबाई W/o. श्री नारायणमलजी बानूड़ाका
उपमंत्री	—	श्रीमती सौभागबाई W/o. श्री सुगनचन्दजी मानजीका
कोषाध्यक्ष	—	श्रीमती धापूबाई W/o. श्री नाहरमलजी पहाड़िया
सदस्य	—	श्रीमती गुलाबबाई W/o. श्री केशरीमलजी दीवान
,,	—	श्रीमती घीसीदेवी W/o. श्री भगवानदासजी दीवान
,,	—	श्रीमती मलकूबाई W/o. श्री गजानन्दजी विनायक्या
,,	—	श्रीमती बिदामीबाई W/o. श्री मन्नालालजी संगही
,,	—	श्रीमती डगलीबाई W/o. श्री नेमीचन्दजी रारा
,,	—	श्रीमती सरस्वतीबाई W/o. श्री फूलचन्दजी छाबड़ा
व्यवस्थापक	—	श्री प्रकाशचन्द जैन, दीवानजीका (एम.ए.एम.एड.)

अपनी बात

जैनधर्म 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र'परक धर्म है जिसके प्रणेता वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरिहन्त देव होते हैं। उनकी दिव्यध्वनि से प्रवाहित तत्त्व आगम है। इन तत्त्वों के स्वरूप का प्रचार-प्रसार एवं आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सच्चे गुरु हैं। वर्तमान में जितना भी आगम उपलब्ध है, वह सब हमारे निर्ग्रन्थ गुरुओं की अनुकम्पा एवं धर्मवात्सल्य का ही फल है।

ऐसे ही श्रुतानुरागी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, दृढ़व्रती, अत्यन्त सरल परिणामी गुरुवर थे **आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज** जिन्होंने अपनी लेखनी से संस्कृत और हिन्दी भाषा में प्रौढ़ रचनाओं का प्रणयन किया। इनके प्रथम दीक्षित मुनि शिष्य हैं **आचार्य १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज** जो अक्षरशः गुरु-परम्परा का अनुसरण करते हुए सतत ज्ञानाराधना में संलग्न रहते हैं और गम्भीर गूढ़ तत्त्व-रहस्य को अपनी प्रतिभा से सरल गद्य और पद्य में संस्कृत व हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रेषणीय बनाते हैं। आचार्यश्री के द्वितीय दीक्षित मुनिशिष्य थे **स्व० आचार्यकल्पश्री विवेकसागरजी महाराज** यथा नाम तथा गुण सम्पन्न, जिन्हें ज्ञानप्राप्ति की अदम्य ललक थी और ज्ञान-प्रचार-प्रसार की तीव्र उत्कण्ठा।

आप सतत स्वाध्याय में सलग्न रहते थे और दर्शनार्थी बन्धुओं को भी इस 'पुनीत तप' (स्वाध्याय) की प्रेरणा देते थे। आपकी प्रेरणा से लगभग दो दर्जन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विविध नगरों के 'जैन समाज' ने प्रकाशन कराया और उनका निःशुल्क वितरण भी हुआ। आपकी ध्यान-दृढ़ता भी स्पृहणीय थी। लगातार ५-५, ६-६ घण्टे आप एकासन से सामायिक-ध्यान में तत्त्वों और द्वादश अनुप्रेक्षाओं का बिना किसी शिथिलता के चिन्तन करते थे। मिथ्यात्व और व्यसनों को—चाय को भी आप एक व्यसन ही मानते थे—पास में भी न फटकने देने के लिए आप सशक्त प्रभावशाली वाणी में उपदेश दिया करते थे। अपने व्रतों के पालन में आप बड़ कठोर थे।

समाधि : ऐसे ज्ञानी ध्यानी तपस्वी मुनिराज के सीकर (राज०) में समाधिमरण के समाचार जब ५ मार्च' ८६ के अखबार में पढ़े तो बड़ी वेदना हुई। मैं उन दिनों पूज्यश्री के ही आदेश से गुणभद्राचार्यकृत आत्मानुशासन की पं. टोडरमलजी द्वारा लिखित ढूंढारी टीका का खड़ी बोली हिन्दी में रूपान्तरण कर रहा था अतः महाराजश्री की छवि की स्मृति सतत बनी थी। अक्टूबर-नवम्बर १९८५ में मारोठ में मुझे पं० जवाहरलालजी सि. शा. भीण्डर वालों के साथ उनके दर्शनों का अन्तिम लाभ मिला था। ज्ञात हुआ कि १०-११ दिन की अल्प रुग्णावस्था में ही महाराजश्री की समाधि हो गई; वे अन्तिम क्षण तक अपने स्वरूप में पूर्ण सजग थे।

ग्रन्थ-प्रकाशन का निर्णय : तभी संघ से सीकर से पत्र आया कि सीकर समाज पूज्य दिवंगत मुनिश्री की स्मृति में उनके आदर्शों के अनुरूप किसी ग्रन्थ का प्रकाशन करने को उत्सुक है अतः आप प्रकाशित/अप्रकाशित/अप्राप्य किसी ग्रन्थ को प्रकाशित करने के निर्णय से सूचित करें। पं० जवाहरलालजी को भीण्डर भी ऐसा ही पत्र भेजा गया। परम पूज्य आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज मुझे कई वर्षों से बृहद्द्रव्यसंग्रह के नवीन संस्करण के प्रकाशन हेतु कह रहे थे—परन्तु अन्य ग्रन्थों के काम में लगे रहने के कारण यह कार्य टलता जा रहा था। स्व० पूज्य विवेकसागरजी की स्मृति में आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव प्रणीत बृहद्द्रव्यसंग्रह का प्रकाशन सर्वथा उपयुक्त जान कर मैंने इसकी सूचना पण्डितजी को भीण्डर भी दी और सीकर संघ में भी भेज दी। भीण्डर से पण्डितजी संघ के दर्शनार्थ दूजोद (तब संघ वहां आ गया था) पधारे, वहां से सीकर आकर इसी ग्रन्थ के प्रकाशन का अन्तिम निर्णय किया।

आधार प्रति : समस्या थी ईस्वी सन् १९५८ में श्री गणेशवर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला खरखरी (धनबाद) बिहार से प्रकाशित प्रति को प्राप्त करने की आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज के अनुग्रह से सुजानगढ़ के शास्त्रभण्डार से इसकी एक प्रति संघ में आई और उससे मुद्रणकार्य प्रारम्भ हुआ। कार्यारम्भ के बाद विचार आया कि ग्रन्थ की कुछ अस्पष्टताओं को यदि विशेष टिप्पणों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया जाए तो स्वाध्यायियों को कुछ सुगमता रहेगी। इस कार्य के लिए मैंने पण्डितजी को भीण्डर लिखा। पर समस्या थी—इस सस्करण की दूसरी प्रति प्राप्त करने की। खैर, पण्डितजी ने स्वयं ही प्रयत्न कर सुश्रावक श्रीमान् पन्नालालजी भोरावत नरसिंहपुरा, उदयपुर के निजी संग्रह से प्रति प्राप्त की और उसे यथावश्यक टिप्पणों से अलंकृत कर मुझे भिजवाया। उसी प्रति को योग्य प्रेस कापी के रूप में परिवर्तित कर मैं प्रेस को भेजता गया, उसी से यह मुद्रण हुआ है।

प्रस्तुत प्रकाशन : क्योंकि यह ग्रन्थ पूज्य मुनिश्री विवेकसागरजो महाराज की समाधि-स्मृति के रूप में प्रकाशित हो रहा है अतः इसमें उनका जीवनचरित और श्रद्धांजलि-संस्मरणों का समावेश उचित ही है। फलतः ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है—

प्रथम खण्ड में मुनिश्री का विस्तृत जीवन परिचय है और उनके प्रति निवेदित त्यागियों, व्रतियों, विद्वानों एवं भक्तों के श्रद्धांजलि, संस्मरणों के छोटे-छोटे प्रसंग संकलित हैं।

द्वितीय खण्ड में उनकी छाया-छवियां हैं, जिनका संकलन विविध स्रोतों से बड़े परिश्रमपूर्वक किया गया है।

तृतीय खण्ड में श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव विरचित **बृहद्द्रव्यसंग्रह** और श्रीब्रह्मदेवविरचित संस्कृतवृत्ति हिन्दीभाषानुवाद सहित प्रकाशित हैं। इसमें टिप्पण पं० जवाहरलालजी जैन, भीण्डर

वालों ने लिखे हैं। खरखरी से प्रकाशित संस्करण में हिन्दी भाषानुवाद कर्ता का नामोल्लेख नहीं है अत: प्रस्तुत संस्करण में भी वह नहीं दिया जा सका है। इस संस्करण के प्राक्कथन में ग्रन्थमाला के मन्त्री श्री सिखरचन्द जैन ने लिखा है—"इस ग्रन्थ के संशोधन-प्रकाशन में बा० ऋषभदास (मेरठ), ला० ग्रर्हदास, ला० मेहरचन्द, श्री रतनचन्द मुख्तार व बा० नेमचन्द वकील (सहारनपुर), पं. पन्नालाल साहित्याचार्य (सागर), पं० जुगलकिशोर मुख्तार (वीर सेवा मन्दिर, देहली), पं० सिखरचन्द शास्त्री (ईसरी), पं० सरदारमल (सिरोंज), भैया त्रिलोकचन्द्र (खातोली) तथा ब्र० चन्दनमल ने सहयोग दिया है।" प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन के समय भी हम इन सब महानुभावों के अतीव ऋणी हैं। इस खण्ड के प्रारम्भ में मूल ग्रन्थकार और ग्रन्थ का तथा संस्कृत टीकाकार और टीका का विस्तृत समीक्षात्मक परिचय दिया गया है और विस्तृत विषयानुक्रमणिका तैयार की गई है। अन्त में लघुद्रव्य संग्रह (अन्वयार्थ सहित) और वृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथासूची दी गई है।

प्रभाचन्द्रकृत लघुब्रह्मदेववृत्ति : वृहद्द्रव्यसंग्रह पर अद्यावधि एकमात्र संस्कृतटीका श्रीब्रह्मदेव कृत 'वृत्ति' ही उपलब्ध थी परन्तु **परम पूज्य १०८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी मुनिराज अजितसागरजी महाराज** के अनुग्रह से भट्टारक प्रभाचन्द्र कृत संक्षिप्त वृत्ति भी हमें प्राप्त हुई है। अन्त में उसका भी प्रकाशन किया जा रहा है। स्वयं भट्टारक प्रभाचन्द्र ने इसे 'लघुब्रह्मदेववृत्ति' कहा है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २०) पर प्रभाचन्द्र कृत एक द्रव्यसंग्रहपंजिका का उल्लेख किया है। सम्भवत: वह पंजिका यही हो। मुनिश्री को प्राप्त हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि **आर्यिका विशुद्धमती माताजी** ने दो कापियों में की है। उसी से इसका मुद्रण सम्भव हुआ है। हम मुनिश्री व आर्यिकाश्री दोनों के कृतज्ञ हैं।

आभार : ग्रन्थप्रकाशन अकेले व्यक्ति का काम नहीं, इसमें अनेक महानुभावों का सक्रिय सहयोग रहता है। प्रस्तुत प्रकाशन में मार्गदर्शन व सहयोग देने वाले, श्रद्धांजलि संस्मरण लिखने वाले व अर्थ प्रदान करने वाले सभी सज्जनों का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

सर्वप्रथम **आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज** के अनुग्रह की अपेक्षा करता हुआ उनके श्री चरणों में सविनय नमोस्तु निवेदन करता हूँ जिनकी प्रेरणा से ही 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' का प्रकाशन हो सका है।

स्वर्गीय पूज्य महाराजश्री की संघस्था **आर्यिका पूज्य १०५ विशालमती माताजी** एवं पूज्य **आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी** ने इस ग्रन्थ के सम्पादन का गुरुतर उत्तरदायित्व मुझे सौंप कर मुझ पर जो अनुग्रह किया है और जिनवाणी की सेवा का जो सुअवसर दिया है एतदर्थ मैं पूज्य आर्यिका द्वय का कृतज्ञ हूं। श्वेताम्बर परिवार में पली-पुसी कुसुमजी ने आर्यिका विशालमती के रूप में दिगम्बर श्रमण परम्पराओं को कितनी सूक्ष्मता से आत्मसात् किया है, यह उनके सम्पर्क में आने पर ही ज्ञात हो सकता है। आर्यिका विज्ञानमतीजी का स्वास्थ्य कर्मोदय से प्राय: प्रतिकूल ही रहता

है। सतत स्वाध्याय संलग्न आर्यिका द्वय अध्ययन-अध्यापन में ही अपने समय का सदुपयोग करती हैं और अपने कर्त्तव्यों के पालन में सदैव दृढ़तापूर्वक तत्पर रहती हैं। आपकी ज्ञानाराधना और संयम-साधना निरन्तर पुष्ट हो, यही कामना करता हुआ आपके चरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

मैं श्रीमान् **पण्डित जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर** का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थ को टिप्पणों से अलंकृत करने के अतिरिक्त भी समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन कर मेरा काम सरल किया है। पण्डितजी गम्भीर प्रकृति के ज्ञानी सद्पुरुष हैं, मैं उनके दीर्घ स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ।

प्रतियाँ सुलभ कराने के लिये **व्यवस्थापक, शास्त्रभण्डार सुजानगढ़** और **श्रीमान् पन्नालालजी सा० भोरावत नरसिंहपुरा**, उदयपुर को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर ने अपनी गुरुभक्ति के अनुरूप ग्रन्थ-प्रकाशन हेतु उदारता से वित्तीय सहयोग किया है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। **श्री सन्मति दिगम्बर जैन महिला विद्यालय की कार्यकारिणी** के पदाधिकारियों एवं विशेष रूप से **व्यवस्थापक श्री प्रकाशचन्दजी दीवानका** का आभारी हूँ जिन्होंने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को सुन्दर रीत्या प्रकाशित करने के अपने उत्तरदायित्व का बड़ी शालीनता से निर्वाह किया है।

आदरणीय **श्रीमान् माणकचन्दजी सा० पाटोदी, कुचामन सिटी**–जिन्हें मैं संघ का ही एक अंग मानता हूं, का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ। ग्रन्थप्रकाशन के निर्णय से लेकर इसके वर्तमान रूप में प्रस्तुतीकरण की अवधि में आपने सभी व्यवस्थाएँ धैर्यपूर्वक जुटा कर मेरे भार को काफी हल्का किया है। श्रद्धांजलि, संस्मरण और चित्र जुटाने हेतु सारा पत्राचार आपने सोत्साह किया है। आपके सहयोग के बिना ग्रन्थ को यह रूप देना मेरे लिए सम्भव नहीं था। स्व० गुरुदेव के प्रति आपकी अनन्यभक्ति के कारण प्रौढ़ावस्था में भी आपमें युवकोचित जोश और उत्साह है। मैं आपके सुन्दर स्वास्थ्य और संयमवृद्धि की कामना करता हूँ।

ग्रन्थ के स्वच्छ और मोहक मुद्रण के लिये मैं **बाकलीवाल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़** को हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

वस्तुतः अपने वर्तमान रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ **'बृहद्द्रव्यसंग्रह'** की जो कुछ उपलब्धि है, वह सब इन श्रमशील पुण्यात्माओं की है। मैं इन सबका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

सुधी गुणग्राही विद्वानों से अपनी भूलों के लिए क्षमायाचना करता हूँ।

श्री पार्श्वनाथ जैन मन्दिर	पौष शुक्ला पूर्णिमा	विनीत
शास्त्रीनगर,	वि. स. २०४३	**डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी**
जोधपुर ३४२००३	जनवरी १४, १९८७	सम्पादक
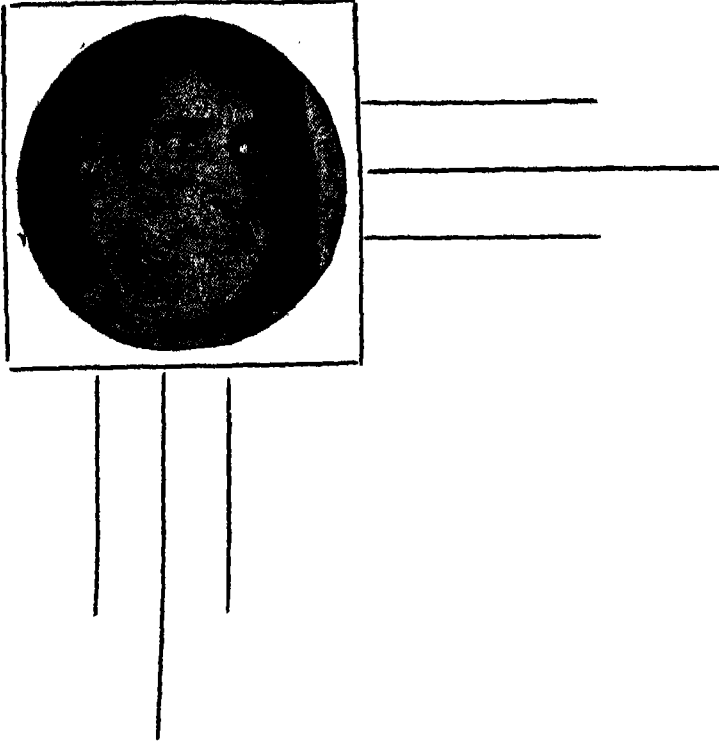
प्र
थ
म
ख
ण्ड

जीवनी, श्रद्धाञ्जलि, संस्मरण 卐

लक्ष्मीनारायण से विवेकसागर

(जीवनक्रम)

१. जन्म

मिल्टन और मुनव्वर, माणक और मोहिन्दर सबके जन्मों का लेखा-जोखा नगरपालिकायें रखती हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके जन्म का लेखाजोखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास स्नेह और श्रद्धा से अपने अंक में सुरक्षित रखते हैं। वि० सं० १९७० की आषाढ़ कृष्णा दशमी को जन्मा वह बालक भी ऐसा ही था—**लक्ष्मीनारायण**।

गेहूंआ वर्ण, औसत कद, क्षीण शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झांकती सी ऐनक धारण की हुई आंखें, हितमितप्रिय धीमा बोल, संयमित सधी चाल और सतत शान्त मुख मुद्रा·······बस, यही था उनका **अंगन्यास**।

विषयाशा विरक्त, अपरिग्रही, ज्ञान-ध्यान-तप में सदा निरत, करुणासागर, परदुःखकातर, शास्त्ररसिक, शान्तस्वभावी, निःस्पृह, समता-विनय-धैर्य और सहिष्णुता की साकार मूर्ति, भद्रपरिणामी, साधना में कठोर, वात्सल्य में नवनीतवत् मृदु, सरल प्रकृति, जिनवाणीप्रसारक तेजस्वी महात्मा—बस, यही था उनका **अन्तर आभास**।

छाबड़ा गोत्रीय श्रीमान् धर्मनिष्ठ श्रावक सुगनचन्दजी के घर श्रीमती राजमतीदेवी की कुक्षि से ग्राम मरवा, जिला जयपुर (राजस्थान) में जन्मे बालक **लक्ष्मीनारायण** से खण्डेलवाल जाति गौरवान्वित हुई।

२. अध्ययन और विवाह

लक्ष्मीनारायण शनैः शनैः बड़े हुए और अध्ययन के लिये पाठशाला में जाने लगे। प्रारम्भ से ही, माता-पिता के अटूट धार्मिक संस्कार की वजह से इनको लौकिक कार्यों की अपेक्षा धार्मिक कार्यों में ही अधिक रुचि रहती थी। बाल्यावस्था में जिनबिम्ब का अभिषेक करने में इनको बड़ा आनन्द आता था। एक दिन आपके हाथ से एक जिनबिम्ब खण्डित हो गया। आपने इसकी सूचना घर पर सबको दी। उस दिन घरके सभी सदस्यों ने उपवास रखा, णमोकार महामंत्र का अखण्ड जाप किया। शान्ति विधान कर, जाप कर प्रतिमाजी का विसर्जन जल में किया गया। इस घटना से विदित होता

है कि वे बचपन से ही पापभीरु रहे हैं। उन्होंने कभी अपने जीवन में रात्रि भोजन, अभक्ष्य भक्षण आदि नहीं किया। बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति परम सात्विक रही।

तत्कालीन सामाजिक पद्धति के अनुसार १५ वर्ष की उम्र में ही आपका विवाह जोबनेर निवासी श्रीमान् सेठ चौथमलजी गंगवाल की सुपुत्री **मनफूलदेवी** के साथ हुआ। विवाह के दो-चार वर्ष बाद ही श्रीमती मनफूलदेवी का स्वर्गवास हो गया। आपका दूसरा विवाह मारोठ निवासी श्रीमान् लालचन्दजी गोधा की सुपुत्री **रत्नमालाजी** के साथ हुआ। कितनी भाग्यशालिनी थी रत्नमालाजी जिन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मी को वरने की कामना रखनेवाले 'लक्ष्मीनारायण' मिले। भोजनशुद्धि का आपका आग्रह भी पुराना है, यह विवाह की उस रस्म से पता लगता है जब आपने कुँवर कलेवा भी मण्डप में न कर चौके में ही जाकर किया।

श्रीमती रत्नमालाजी की कोख से तीन पुत्रों **महावीर, निर्मल, राजकुमार** और चार पुत्रियों **भंवरी, कंचन, शकुन्तला** और **सरला** का जन्म हुआ।

३. व्यापार और वैराग्य

चरितनायक व्यापार हेतु वि. सं. २००१ में मरवा (राजस्थान) से वाशिम (महाराष्ट्र) आ गये। सद्गृहस्थ की भांति उन्होंने न्याय-नीति पूर्वक व्यापार कर धनार्जन किया। व्यापारी वर्ग में आपकी बहुत प्रतिष्ठा थी। एक बार किसी सरकारी कर्मचारी ने आपको कुछ अपमानजनक शब्द कह दिये, जिसके विरोध में पूरे तीन दिन तक वाशिम का बाजार बन्द रहा और कर्मचारी को क्षमा याचना करनी पड़ी। वाशिम की खण्डेलवाल दिगम्बर जैन समाज में आपका बड़ा सम्मान था। आपका अन्त:करण वैराग्य से मण्डित होने लगा था। व्यापार-कार्य से निवृत्त हो आप प्रतिदिन संध्या समय जिनमन्दिर में जाकर जिनबिम्ब के समक्ष घण्टों बैठकर किए हुए पापों की निन्दा-आलोचना करते थे।

४. शूद्रजल त्याग

एक बार आप अपनी बहिन के यहां कलकत्ता गये। वहां आपने देखा कि गन्दे कपड़े पहने मराठी लोग अपने घुटनों से आटा गूंद रहे हैं और उनका पसीना भी आटे में मिल रहा है। इस दृश्य से उनके मनमें ग्लानि हुई और उन्होंने जिनबिम्ब की साक्षी पूर्वक शूद्रजल का त्याग कर दिया तथा आजीवन हाथ चक्की का आटा एवं कुए का जल ग्रहण करने का संकल्प कर लिया। उस दिन का आपने उपवास किया। इस स्थिति से आपकी बहिन बहुत घबराई क्योंकि न तो वहां कुए के जल की सुविधा थी और न हाथचक्की के आटे की। लक्ष्मीनारायणजी ने बहिन को आश्वस्त किया—कुए से जल भरकर वे स्वयं लाये और खिचड़ी खाकर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया।

कलकत्ता से वाशिम लौटने पर जब आपकी मातुश्री को आपकी इस प्रतिज्ञा की जानकारी

मिली तो वे बहुत बिगड़ीं। उन्होंने यहां तक कह दिया कि हम कुए के पानी व हाथचक्की के आटे का भोजन बनायेंगी ही नहीं, रहो कब तक भूखे रह सकते हो? परन्तु इन धमकियों से आप विचलित नहीं हुए। आपने विनम्रतापूर्ण शब्दों में अपने माता-पिता से निवेदन किया—"हम आपको कष्ट नहीं देंगे। अपने हाथ से खिचड़ी बना कर खा लेंगे किन्तु प्रभु की साक्षी पूर्वक ली हुई प्रतिज्ञा को हम भंग नहीं करेंगे। हमने जो प्रतिज्ञा ली है वह आत्मकल्याण हेतु स्वयं के बल पर ली है, औरों के बल पर नहीं।" आपकी दृढ़ता के आगे मातुश्री को झुकना पड़ा। इसप्रकार आप विवेकपूर्वक संयम के पथ पर अग्रसर हुए। आप प्रातः शीघ्र उठकर सामायिक करते फिर श्रीमन्दिरजी पहुंच कर प्रक्षाल पूजन नियम से करते। मध्याह्न में भी सामायिक करते और सायंकाल की सामायिक के बाद शास्त्र स्वाध्याय प्रवचन करते।

५. संयम की ओर

सुश्रावक लक्ष्मीनारायणजी ने क्षुल्लक विद्यासागरजी से वाशिम में **प्रथम प्रतिमा** के व्रत ग्रहण किये तो इनकी माँ की ममता आहत हुई। वह कुपित होकर क्षुल्लकजी को उपालम्भ देती रही, जब भी कोई मुनिराज नगर में पधारते माता राजीमती के कषायों की गति तीव्र हो उठती, वह आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान में निमग्न हो जाती क्योंकि उन्हें और परिवार के अन्य सदस्यों को यह आभास होने लगा था कि 'अब ये घर में नहीं रहेंगे।' व्रती लक्ष्मीनारायणजी ने आचार्य विमलसागरजी से **दूसरी प्रतिमा** के व्रत ग्रहण किये। शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी १६ पहर का उपवास करते। भीषण गर्मी में भी प्रोषधोपवास का नियम दृढ़तापूर्वक पालते। आपने सचित्त पदार्थों का त्याग और एक भुक्ति का नियम दूसरी प्रतिमा से ही धारण कर लिया था। भोजन में गृद्धता आपको कभी नहीं रही।

तभी वाशिम में मुनि १०८ श्री आर्यनन्दी महाराज का पधारना हुआ। व्रती लक्ष्मीनारायण जो अपना सारा समय मुनिश्री के सान्निध्य में ही बिताते; आपने मुनिश्री से **सप्तम प्रतिमा** के व्रतों की याचना की। परन्तु महाराजश्री आपकी दृढ़ लगन की कड़ी परीक्षा लेते रहे और अन्त में वाशिम से प्रस्थान करने के बाद प्रथम विश्राम स्थान पर पूर्णतः योग्यपात्र जानकर मुनिश्री ने आपको सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये। अब आप ब्रह्मचारी बन गये। और उसी दिन से जिनालय में ही रात्रि व्यतीत करने लगे। आपके मित्रों ने आपके पिताश्री को आपके ब्रह्मचर्यव्रत लेने की सूचना दी। पिताश्री आपकी वैराग्यवृत्ति से परिचित ही थे—उन्हें इसमें कुछ भी अनहोनापन नजर नहीं आया। व्रती पुरुष की साधना अग्रसर होती रही।

ब्रह्मचारी लक्ष्मीनारायणजी ने रत्नत्रय के १३ तेले किये। उनकी भक्तितत्परता और संसार शरीर भोगों से अनासक्ति स्पृहणीय थी। वे निरन्तर यही भावना भाते कि "मैं कब इस मोह जाल से छूटकर मुनिमुद्रा अंगीकार करूं?" उनकी विरक्ति वृद्धि पर थी। व्यापार का भार उन्होंने पुत्रों पर

डाल दिया और स्वयं स्वाध्याय, ध्यान, पूजा-भक्ति में ही अपना समय यापन करने लगे। केवल भोजन करने घर पर आते शेष सारा समय शुभोपयोग में ही व्यतीत करते। आज जबकि ८०-८५ वर्ष की पकी अवस्था में भी संसारी व्यक्ति का राग नहीं छूटता, उसे घर-व्यापार-दुकान की चिन्ता लगी रहती है तब ब्र. लक्ष्मीनारायणजी की वह विरक्ति कितने आत्मिक बल का प्रतिफल थी, यह विचारणीय है।

अब तो घर से निकलने की छटपटाहट बढ़ती ही गई। दैवयोग से एक मुनिराजश्री का नगर में शुभागमन हुआ—मानो अन्धे को आंखें मिल गई हों, प्यासे के सामने मीठे जल का स्रोत लहराने लगा हो। मुनिश्री का सान्निध्य प्राप्त कर चरितनायक ने अपनी चिर साध—जैनेन्द्री दीक्षा धारण करने की अभिलाषा—उनके समक्ष अभिव्यक्त की। मुनिश्री ने साधक की वृत्ति और प्रवृत्ति का निरीक्षण कर उन्हें सद्परामर्श दिया कि "भाई! तुम आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी के परमशिष्य मुनि श्री ज्ञानसागरजी के पास जाओ। वहां तुम्हारी साधना निखर उठेगी।" ब्र. लक्ष्मीनारायणजी अब 'ज्ञानसागरजी' के सामीप्यलाभ हेतु अधीर रहने लगे। पता लगा कि गुरुदेवश्री अजमेर नगर में विराजमान हैं, अब तो उनकी दशा उस वत्स की सी हो गई जो सायंकाल होते ही जंगल से लौटने वाली अपनी माँ (गौ) की प्रतीक्षा में व्याकुल हो उठता है।

६. गुरु-मिलन की व्यग्रता

ब्र. लक्ष्मीनारायणजी ने परिजनों के समक्ष गुरुदर्शनार्थ अपनी अजमेर जाने की इच्छा व्यक्त की तो सबने स्पष्ट मना कर दिया क्योंकि सबकी यही धारणा थी कि ये फिर लौटेंगे नहीं। दोनों ओर जिद थी—साधक जाना चाहते थे, परिजन विरोध करते थे। खैर, परिजनों की जिद रही तो साधक ने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक पूज्य गुरुदेव ज्ञानसागरजी के दर्शन नहीं होंगे तब तक भोजन में मीठा, घी, दूध, गेहूं ग्रहण नहीं करूंगा। वे अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। इस अटलता ने परिजनों के कठोर हृदयों को द्रवीभूत कर दिया। उन्होंने भाद्रपद माह में १०-१२ दिनों के लिये अजमेर जाने की अनुमति दी। साधर्मियों को ज्ञात हुआ तो वे सभी दौड़-दौड़े आए और बोले—"आप भाद्रपद में जाने के लिये तैयार हो गये। परन्तु आपके चले जाने से इस माह में यहां मण्डलविधानपूजन, स्वाध्याय आदि कैसे सम्भव होंगे? कौन करेगा? आप पधार जायेंगे तो यहां धर्मामृत बरसाने वाला कोई नहीं रहेगा, अतः आपसे अनुरोध है कि आप पर्युषण पर्व के बाद अजमेर पधारें।" साधर्मियों के अनुरोध को ब्र. लक्ष्मीनारायणजी न टाल सके। पर्वाराधना विशेष प्रभावनापूर्वक सम्पन्न हुई।

७. श्रेयांसि बहुविघ्नानि

अजमेर के लिये प्रस्थान से पूर्व आप अस्वस्थ हो गये, आपको दस्त लगने लगे परन्तु आपने रोके जाने के भय से किसी को बताया तक नहीं और वाशिम से चल दिये। मार्ग में बहुत असुविधा

तो हुई पर गुरुदर्शन की उमंग के आगे आपने किसी की परवाह नहीं की और जा पहुंचे गुरु-चरणों में पूर्ण समर्पण भाव से फिर कभी घर न लौटने के लिये।

पर असाता के उदय से आप ज्वरग्रस्त हुए और फिर 'मोतीझरा' ने आ घेरा। वापिस आप लौटना नहीं चाहते थे। साधर्मी बन्धुओं ने आपके चचेरे भाई श्रीमान् उम्मेदमलजी छाबड़ा को दूदू समाचार दिये। वे आए। उन्होंने पूज्य मुनिश्री से इन्हें दूदू ले जाने की अनुमति प्राप्त की। न चाहते हुए भी आपको दूदू आना पड़ा। शनैः शनैः असाता का रस सूखने लगा तो आप अजमेर आने की हठ करने लगे। रिश्तेदारों ने आपके दुर्बल स्वास्थ्य की दुहाई देते हुए कुछ दिन और रुकने को कहा परन्तु वे कब मानने वाले थे। उन्होंने प्रस्थान की तैयारी की तो एक के बाद एक कई अपशकुन— खाली घड़ा, लकड़ी का गट्ठर, अपशकुनी का दर्शन—हुए परन्तु आपने उन सब की अनुकूल व्याख्या कर सबको सन्तुष्ट किया और चल दिये 'ज्ञानसागर' की ओर।

८. मुनिदीक्षा हेतु श्रीफल भेंट

अजमेर पहुंच कर ब्र. लक्ष्मीनारायणजी ने पूज्य मुनिश्री ज्ञानसागरजी के चरण-कमलों में श्रीफल भेंट करते हुए मुनिदीक्षा की प्रार्थना की। मुनिश्री ने पात्र की कठोर विरक्ति को देखकर उनकी परीक्षा के लिये केशलोच करने की आज्ञा दे दी, थोड़ी ही देर में ब्र. लक्ष्मीनारायण केश लुञ्चन कर गुरुदेव के चरण-कमलों में पुनः उपस्थित हुए। मुनिश्री दीक्षार्थी की आहार, सामायिक आदि प्रवृत्तियों से सन्तुष्ट थे वे बोले—"देखो, मुनि बनने पर सदैव—चाहे शीत हो चाहे घाम—नग्न रहना पड़ेगा, घास में सोना पड़गा, अन्य भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।" ब्र. लक्ष्मीनारायणजी ने रात्रि में मुनिश्री के समीप नग्न रहना और घास आदि में सोना प्रारम्भ कर दिया। आपकी क्रियाओं से मुनिश्री ज्ञानसागरजी सन्तुष्ट हुए। आप उनसे शीघ्र दीक्षा की प्रार्थना करते।

९. दीक्षा समारोह

दीक्षा का मुहूर्त निकलवाया गया। स्थान निश्चित नहीं किया गया। अजमेर में लगभग एक वर्ष पूर्व ही संघस्थ युवा मुनिश्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा आषाढ़ सुदी पंचमी संवत् २०२५ को सम्पन्न हुई थी। समीपस्थ नगर नसीराबाद के जिनभक्तों को जब यह ज्ञात हुआ कि मुनिश्री ज्ञानसागरजी के कर कमलों द्वारा एक मुनिदीक्षा सम्पन्न होनेवाली है, तिथि निश्चित हो चुकी है, स्थान तय होना शेष है तो ४०-५० श्रावक श्राविकायें मुनिश्री के चरणों में नसीराबाद की ओर विहार करने की सविनय प्रार्थना करने जा पहुंचे और दीक्षा के संस्कार भी नसीराबाद में ही हों— ऐसी प्रार्थना करने लगे। सबने श्रीफल भेंट किये। नसीराबाद वासियों का पुण्य प्रबल था शीघ्र ही मुनिसंघ का विहार नसीराबाद की ओर हुआ। वहां के समाज का उत्साह देखने योग्य था।

देवशास्त्रगुरु भक्त श्रावकगण तन-मन-धन से दीक्षामहोत्सव की तैयारियों में संलग्न हुए। आबालवृद्ध सभी में अपरिमित उत्साह था। ८ दिन तक भक्ति और वैराग्य के विविध कार्यक्रम आयोजित किये गये। शोभायात्रा में भी दीक्षार्थी का वस्त्रविन्यास ब्रह्मचारी का ही था। धवल धोती दुपट्टे के अतिरिक्त उन्होंने कोई अलंकार धारण नहीं किया।

वि सं. २०२५ की फाल्गुन कृष्णा पंचमी शुक्रवार का दिन नसीराबाद वासियों के लिये स्वर्णिम दिवस था, उस दिन ब्र. लक्ष्मीनारायणजी का 'दीक्षा समारोह' और 'मुनिश्री ज्ञानसागरजी महाराज' का आचार्यपद समारोह जो सम्पन्न हुआ। विशाल जनसमुदाय के समक्ष मुनिश्री ने ब्र. लक्ष्मीनारायणजी के दीक्षा संस्कार सम्पन्न किये और दीक्षार्थी लक्ष्मीनारायण ने मुक्तिलक्ष्मी के वरण करने हेतु निरावरण होकर 'विवेकसागर' नाम पाया। गुरु और शिष्य की जय-निनाद से वातावरण गूंज उठा। इस वैराग्यपूर्ण दृश्य के दर्शन का लाभ प्राप्त कर विशाल जनसमुदाय ने सातिशय पुण्य संचित किया।

दीक्षा समारोह के तुरन्त बाद चतुर्विधसंघ के समक्ष, उपस्थित विशाल जनसमुदाय ने वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध मुनिश्री ज्ञानसागरजी महाराज को आचार्य पद से अलंकृत किया। आचार्य श्री का आध्यात्मिक प्रवचन हुआ और दीक्षित मुनि विवेकसागरजी का भी प्रवचन हुआ।

१०. प्रथम प्रवचन

"परम पूज्य ज्ञानमूर्ति, चारित्रभूषण, गुरुवर १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज! श्री विद्यासागरजी महाराज! अन्य त्यागी गण! धर्मप्रेमी बन्धुओं! मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि बहुत समय से तड़फती हुई इस आत्मा को तैरने के लिये आज ज्ञान का सरोवर मिला जिसमें मैं अब स्वतंत्रता से तैर सकता हूं। यानो बहुत समय से चाही हुई जिनदीक्षा आज मुझे गुरुदेव की कृपा से प्राप्त हुई है। सर्वप्रथम मैं इस गाथा का स्मरण करना चाहता हूं—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वैरं मज्झं ण केणवि ॥

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की मेरे निमित्त से ज्ञान भाव या अज्ञान भाव से किसी प्रकार की विराधना हुई हो उसके लिये मैं प्राणिमात्र से क्षमा चाहता हूं। मेरे भी सबके प्रति क्षमाभाव हैं। सब प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव है।

"अनादिकाल से यह जीव अज्ञानता के कारण ८४ लाख योनियों में भटकता हुआ बड़ी कठिनाई से इस मनुष्य गति के अन्तर्गत जैनधर्म के पालन करने का अधिकारी हुआ। आदर्श गृहस्थ का कर्त्तव्य पूर्ण करके संयमधारण करना वास्तव में मनुष्य जीवन की सार्थकता है। मनुष्य गति के अलावा अन्य कोई दूसरी गति नहीं है जिसमें प्राणी अनन्तकाल के दूषित संस्कारों को दूर कर अपने

शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके सदा के लिये अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकें। वे धन्य हैं जो चढ़ती हुई जवानी में ही संयम धारण करके गुरुओं एवं आगम के अगाधज्ञान को प्राप्त कर दिगम्बर जैन श्रमण संघ की संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं।"

"इस शरीर के सम्बन्धियों की धर्म भावना में निरन्तर वृद्धि हो जिन्होंने मेरे संयमधारण के आवश्यक कार्य में बाधक न बनकर साधक का ही कार्य किया। इस नगर के साधर्मिकों के उत्साह को मैं भूल नहीं सकता जिन्होंने इस महत् कार्य का आयोजन किया।"

"मेरा इतना ही कहना है कि आप लोगों ने शोभायात्रादि में अपना तन-मन-धन लगाकर जैसी उमंग प्रदर्शित की है, ऐसी ही उमंग अपने उपेक्षित भाइयों की रक्षा में, अकाल पीड़ित दुःखियों की रक्षा में, जैन संस्कृति की रक्षा में तथा श्रावकोचित अन्य सभी कार्यों में बराबर बनी रहे और सभी संयम को धारण कर मानवजीवन को सार्थक करें।"

"अन्तमें, परम पूज्य दीक्षागुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, मुनिश्री विद्यासागरजी महाराज को त्रिबार नमोस्तु करता हुआ, अन्य त्यागियों को समाधिर्भवतु का आशीर्वाद देता हुआ, सभी प्राणियों को धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देता हुआ, पापियों के पापक्षय की भावना करता हुआ श्रीमद् देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान से प्रार्थना करता हूं कि संयममार्ग में मेरी भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि हो और मैं अपने रत्नत्रय में कुशलता प्राप्त करता हुआ अपनी आत्मा के शाश्वत स्वरूप को प्राप्त कर सकूं।"

११. व्रतपरिसंख्यान

मुनिश्री विवेकसागरजी व्रतपरिसंख्यान में दीक्षा-दिवस से ही बड़े कठोर रहे। बड़ी कठोरता से कड़ी आखड़ियां लेकर उनका पालन करते थे। दीक्षा के तुरन्त बाद तीन उपवास हो गये किन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। मुनिजीवन में ऐसे अनगिनत प्रसंग आए जब चार-चार पांच-पांच उपवास भी हुए परन्तु उस महान् आत्मा के चेहरे पर कभी किसी प्रकार का क्षोभ नहीं दिखाई दिया।

१२. वर्षायोग एवं श्रुतसेवा

मुनिश्री ने अपने साधना काल में कुल १७ वर्षायोग किये। रत्नत्रय के तेज से उन्होंने आत्मा की प्रभावना तो की ही परन्तु शुभोपयोग के अनगिनत कार्यों—जिनायतन स्थापना, धार्मिक पाठशालाओं की स्थापना, संयम के पथ पर रुचिशील जिज्ञासुओं को प्रेरणा देना आदि से जैनधर्म की पुष्कल प्रभावना की। आपकी श्रुतसेवा तो चिरकाल तक अविस्मरणीय रहेगी। प्रत्येक वर्षायोग में आपकी सद्प्रेरणा से धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ और उनका निःशुल्क वितरण भी। नीचे की तालिका से इसकी पूर्ण जानकारी मिल सकेगी—

क्र. सं.	वर्षायोग	संवत्	स्थान	प्रकाशित ग्रन्थ
१.	वि. सं.	२०२६	नसीराबाद (अजमेर राज०)	....
२.	„	२०२७	माधोराजपुरा (जयपुर राज०)	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
३.	„	२०२८	फुलेरा (जयपुर राज०)	सहजसुख साधन
४.	„	२०२९	कुचामन सिटी (नागौर राज०)	धर्मध्यान प्रकाश, व्रतीश्रावक प्रतिक्रमण
५.	„	२०३०	मारोठ (नागौर राज०)	शुद्ध श्रावकधर्मप्रकाश (प्रथम संस्करण)
६.	„	२०३१	सीकर (राजस्थान)	चारित्रधर्मप्रकाश
७.	„	२०३२	टोंक (राजस्थान)	....
८.	„	२०३३	कुचामन सिटी (नागौर राज०)	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण
९.	„	२०३४	मन्दसौर (म० प्र०)	तीन लोक पूजन विधान
१०.	„	२०३५	बड़नगर (म० प्र०)	आत्मसुप्रबोध
११.	„	२०३६	कूकनवाली (राज०)	परमात्मप्रकाश, वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
१२.	„	२०३७	भीलवाड़ा (राज०)	लघुसंयम प्रकाश
१३.	„	२०३८	वाशिम (महाराष्ट्र)	सिद्धचक्रमण्डलविधान
१४.	„	२०३९	भिण्डर (उदयपुर राज०)	पद्मनन्दि पंचविंशतिका
१५.	„	२०४०	भानपुरा (म० प्र०)	परमात्मप्रकाश प्रवचन-पूर्वार्द्ध
१६.	„	२०४१	कुचामन सिटी (राज०)	वृहज्जिनोपदेश, नन्दीश्वर मण्डलविधान
१७.	„	२०४२	मारोठ (नागौर राज०)	मूलाचार प्रदीप, आत्मानुशासन, सम्यक्त्वसारशतक

उपर्युक्त ग्रन्थ प्रकाशन के अतिरिक्त आपकी प्रेरणा से सं० २०३६ में मारोठ से शुद्ध श्रावक धर्मप्रकाश (द्वि० सं०) सं० २०३७ में कुचामन सिटी से धर्मध्यान प्रकाश (द्वितीयवृत्ति), सं० २०४० में रामगंजमण्डी कोटा से परमात्मप्रकाश प्रवचन उत्तरार्ध और सं० २०४२ में कूकनवाली से चारित्र-शुद्धि मण्डलविधान का प्रकाशन हुआ है। [1]इसप्रकार आपकी प्रेरणा से २० ग्रन्थोंका सम्यक् प्रकाशन और निःशुल्क वितरण हुआ है। लगभग बीस हजार प्रतियां जिनालयों में स्वाध्याय-पूजा हेतु पहुंच चुकी हैं।

---

१. सभी ग्रन्थ डाक व्यय भेजकर निम्न पते से निःशुल्क मंगवाये जा सकते हैं।

श्रीमान् माणकचन्दजी पाटोदी

कपड़ा मार्केट, कुचामन सिटी (नागौर-राजस्थान)

१३. न धर्मो धार्मिकैर्विना

१. भौतिकता की बढ़ती लालसाओं ने आज धार्मिकता **और आध्यात्मिकताको पूर्णत:** उपेक्षित कर दिया है। मुनि श्री को सदैव इस बातकी चिंता रहती थी अतः वे जहाँ भी पहुँचते, बालक-बालिकाओं में धार्मिक संस्कारों के अकुरारोपण की प्रेरणा करते। मुनिश्री की प्रेरणा से अनेक स्थानों पर **धार्मिक पाठशालाओं** का शुभारम्भ हुआ। **कुचामन सिटी** में लम्बे समय से बन्द विद्यालय को आपकी प्रेरणा ने नवजीवन प्रदान किया। **मारोठ, नावां शहर, कूकनवाली, लाडनूं, दूदू, मालपुरा और जूनिया**, में आपके उद्‌बोधन से नवीन पाठशालायें प्रारम्भ हुई। ज्ञानके माध्यम से डाले गए संस्कार ही बच्चों को भविष्य में श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं और वे धार्मिक बने रह सकते हैं। धर्म की परम्परा तो धार्मिकों पर ही निर्भर है।

२. पाठशालाओं के अतिरिक्त **जिनालयों का निर्माण** भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि ये धर्म के आयतन होते हैं। जहाँ बैठ कर श्रावक श्राविकायें शुभोपयोग के माध्यम से अनवरत किये-जाने वाले आरम्भ-परिग्रह से बचते हैं। मुनिश्री का लक्ष्य इस ओर भी था—वे सदैव धर्म प्रभावना के इन कार्यों के लिए प्रेरित करते थे। आपकी प्रेरणा से **भीलवाड़ा (शास्त्रीनगर)** और **नागदा** में **नवीन मन्दिर** और **दूदू** में **चैत्यालय** का निर्माण हुआ। **वासिम** के पुरातन मन्दिर का **जीर्णोद्धार** हुआ; **भानपुरा, मारोठ, कूकनवाली, चितावा, छप्प्या** में **वेदी प्रतिष्ठा समारोह** आयोजित हुए और **शाहपुरा, नावां, मीठड़ी** और **देराठू** में **कलशारोहण** के पुण्य अनुष्ठान सम्पन्न हुए। **कुचामन शहर** में नागौरी नसियाजी के प्राङ्गण में भव्य **मानस्तम्भ** की रचना भी आपकी ही प्रेरणा से सम्पन्न हुई।

३. पूज्य महाराजश्री के दृढ़ तपोनिष्ठ व्यक्तित्व और समीचीन देशना से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने संयम और व्रत-ग्रहण का उत्कृष्ट मार्ग अपनाया। स्मृति के आधार पर उनकी सूची यहाँ प्रस्तुत है, सम्भव है कुछ नाम छूट गये हों—

द्वितीय प्रतिमा—

(१) श्री छीतरमलजी सेठी, कूकनवाली
(२) „ श्रीमती विमलचन्दजी जैन, नागदा
(३) „ मूलचन्दजी कासलीवाल, बड़नगर
(४) „ श्रीमती मोतीलालजी चौधरी, भीलवाड़ा
(५) „ रतनलालजी छाबड़ा, खण्डवा
(६) „ मोतीलालजी लिखमावत, भीण्डर
(७) „ जवेरीलालजी, भीण्डर
(८) „ कस्तूरचन्दजी दांतड़ावाला, रामगंज मण्डी
(९) „ श्रीमती नेमीचन्दजी दांतड़ा वाला, भानपुरा
(१०) „ सज्जन बाई टोंग्या, मिश्रोली

(११) श्री माणकचन्दजी पाटोदी, कुचामन सिटी
(१२) श्रीमती ताराबाई पाटोदी, कुचामन सिटी
(१३) श्रीमती मनोरमा बाई पाटोदी, कुचामन सिटी
(१४) श्री रतनलालजी गोधा, मारोठ
(१५) सुश्री मधु, पिड़ावा (संघस्थ)
(१६) श्री ज्ञानानन्दजी, बिजोलिया (संघस्थ)
(१७) श्री सोहनलालजी छाबड़ा, टोडारायसिंह (राज०)
(१८) श्रीमती बुद्धिदेवी चौधरी W/o श्री भँवरलालजी चौधरी (कुड़की बाई), मारोठ
(१९) श्रीमती मोटरबाई W/o श्री फूलचन्दजी पाटनी, मारोठ

तृतीय प्रतिमा— (१) श्रीमान् सुगनचन्दजी छाबड़ा, वासिम
(२) श्री पूनमचन्दजी जैन, बड़नगर

पंचम प्रतिमा— (१) श्रीमती ग्यारसी बाई, इन्दौर
(२) श्रीमती सुलोचना बिलाला, इन्दौर
(३) श्रीमती कमलाबाई पाटनी, मिश्रोली
(४) सुश्री सन्तोष, कुचामन सिटी (संघस्थ)
(५) श्री माणकचन्दजी शाह, मारोठ

सप्तम प्रतिमा— (१) श्री.................................., दूदू
(२) श्रीमती कमला बाई गंगवाल, मिश्रोली
(३) श्रीमती कंचनबाई, भीलवाड़ा (संघस्थ)

आर्यिका दीक्षा—

(१) ब्र० रत्नमालादेवी छाबड़ा को वि० सं० २०३४ में बड़वानी में : **आर्यिका विपुलमतीजी**
(२) ब्र० कुसुमबाई चोरडिया को वि० सं० २०४० में पिड़ावा में : **आर्यिका विशालमतीजी**
(३) ब्र० लीलाबाई, भीण्डर को वि० सं० २०४१ में कूकनवाली में : **आर्यिका विज्ञानमतीजी**
(४) ब्र० उमरावबाई, रूपनगढ़ को वि० सं० २०४२ में मारोठ में : **आर्यिका विद्युतमतीजी**

मुनि दीक्षा—

(१) श्री १०५ क्षुल्लक विनयसागरजी को सं० २०३० में रेनवाल में : **मुनि श्री विजयसागरजी**
(२) ब्र० रतनलालजी, दूदू को सं० २०३३ में नावांशहर में : **मुनि श्री विनयसागरजी**

संघस्थ साधुओं के समाधिमरण के प्रसंगों पर पूज्य श्री ने निर्यापकाचार्य के उत्तरदायित्वों का भी सफलता पूर्वक निर्वाह किया है। संघस्थ क्षुल्लक १०५ श्री सुखसागरजी का समाधिमरण रेनवाल में, क्षुल्लक १०५ श्री सम्भवसागरजी का समाधिमरण राणोली में और आर्यिका १०५ श्री विपुलमतीजी का समाधिमरण मन्दसौर में हुआ।

१४. तीर्थदर्शन

अपने १७ वर्ष के लम्बे दीक्षाकाल में मुनिश्री ने हजारों मील की पद यात्रा की। अपनी लम्बी विहार यात्रा में आपने राजस्थान, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र प्रान्तों के सभी प्रमुख तीर्थों की संघ सहित क्षेत्रवन्दना की। अतिशयक्षेत्र शिरडशाहपुर, मींतर (नेमगिरि), नवागढ़, शिरपुर, अन्तरिक्षपार्श्वनाथ, मुक्तागिरि, अमरावती, भातकुली, कारंजा, बड़वानी, सिद्धवरकूट, बनेड़िया अतिशयक्षेत्र सोनागिरि, मक्सीपार्श्वनाथ, अशोकनगर, गुना, खजुराहो, चन्देरी, आहारजी, पपौराजी, चाँदखेड़ी, झालरापाटन, श्रीमहावीरजी, श्री पद्मप्रभुजी, खानिया-जयपुर आदि पुण्यस्थलों की आपने भावपूर्ण वन्दना की।

१५. व्याधि और उपसर्ग

(अ) जन श्रमण की चर्या बड़ी संयमित और कठोर होती है। हीन संहनन के कारण शरीर सदैव रोगाक्रान्त बनने की स्थिति में रहता है। मुनिश्री का स्वास्थ्य सदैव दुर्बल ही रहा, दीक्षा से पूर्व ही मोतीझरा निकल आया था। छोटी मोटी व्याधियों को आपने कभी परवाह नहीं की—अपनी चर्या में कभी शिथिलता नहीं आने दी। संवत् २०३२ के टोंक चातुर्मास में पूज्यश्री को असाता वेदनीय कर्म ने बुरीतरह घर लिया। प्रतिदिन आंवखून के ३०-३५ दस्त लगने लगे थे, शरीर बिलकुल कृश हो गया था तथापि आपने धैर्य और विवेक का अवलम्बन नहीं छोड़ा; ब्रह्मचारी रतनलालजी दूदू वालों ने खूब परिचर्या की था।

(ब) साधु परिषहों और उपसर्गों को समताभाव पूर्वक सहन कर कर्म-निर्जरा करते हैं। मुनि श्री विवेकसागरजी ने भी परीषहों और उपसर्गों के बीच अपनी समता वृत्ति का अवलम्बन नहीं छोड़ा। वि० सं० २०३४ का वर्षायोग मन्दसौर (म०प्र०) में सानन्द पूर्ण कर मुनि श्री संघ सहित प्रतापगढ़ (राज०) की ओर विहार कर रहे थे। मार्ग में सूर्यास्त होने पर रात्रि विश्राम एक बगीचे में किया। महाराज श्री जब सामायिक में बैठ गए तो पता नहीं किधर से एक तीन-चार फुट लम्बा काला सर्प आकर उनके चारों ओर चक्कर लगाने लगा। साथ के श्रावकों का आकुलित होना स्वाभाविक था। सर्प थोड़ी देर कहीं दूर चला जाता और फिर लौट आता। वह महाराजश्री की चटाई के नीचे आकर बैठ गया। महाराजश्री रात्रि भर उसी तरह बैठे रहे-प्रातः होने पर सर्प स्वतः चला गया तभी उस स्थान से उठे।

(स) वि० सं० २०३६ में मुनिश्री कूकनवाली (राज०) से विहार कर कुचामन शहर पधार

रहे थे। सूर्यास्त होने से जंगल में ही ठहर गये। सामायिक में बैठे तो लाल चींटियाँ उनके शरीर पर चढ़ आईं। सारी रात चींटियां उनके शरीर पर घूमती रहीं, काटती रहीं परन्तु यह तपस्वी अपने आसन से विचलित नहीं हुए। महाराजश्री ध्यान की मुद्रा में ही बैठे रहे। प्रातःकाल जब श्रावकों ने देखा कि महाराजश्री का शरीर चींटियों के कारण आहत हुआ है तो पश्चाताप पूर्वक क्षमायाचना करने लगे किन्तु मुनिश्री ने समतापूर्वक इतना ही कहा कि "कर्मनिर्जरा के ऐसे अवसर तो कदाचित् ही मिलते हैं।"

(द) आर्यिका विपुलमतीजी की समाधिके बाद सं० २०३७ में मन्दसौर से सिद्धवरकूट हेतु आपका विहार हुआ। मार्ग में बड़वाह का सघन जंगल आता है, रात्रि विश्राम हेतु निश्चित किये गये स्थान पर नहीं पहुंच सके तो उस भयानक जंगल में ही मुनिश्री रात्रिविश्राम हेतु ठहर गये। श्रावकों ने जंगल की भीषणता का बखान करते हुए बहुत कहा कि "महाराजश्री ! यहाँ रात में रुकना खतरे से खाली नहीं, यहाँ जंगली जानवरों का निवास है।" पर मुनिश्री का उत्तर था–"हमें आगम की आज्ञा नहीं है। विपत्तियाँ होने पर भी मुनि सूर्यास्त के बाद नहीं चलते।" फलतः वहीं रुके। मुनिश्री के साथ एक दो श्रावक रहे-शेष निश्चित किये गये स्थान पर चले गये। सामायिक के समय मुनिश्री तो ध्यानमग्न हो गये-तभी एक जहरीला बिच्छू उनकी चटाई पर चढ़ आया और सारी रात वहीं स्थित रहा। साथ के श्रावक घबरा रहे थे। तभी मानवशरीर की गन्ध पाकर एक सिंह भी झाड़ियों के बीच से निकल आया। पर जब मृगराज ने वीतराग मुद्राधारी मुनिराज को देखा तो बिना किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए शान्तभाव से उनकी परिक्रमा कर अपने स्थान को लौट गया, मानों मृगराज अपने प्रदेश में उन्हें निर्भयता पूर्वक विश्राम करने को आश्वस्त कर गया हो। रात्रि में फिर किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई।

(य) सं० २०४० के भानपुरा वर्षायोग में भाद्रपद माह में जब मुनिश्री प्रातःकाल प्रवचन कर रहे थे तब न जाने कहाँ से एक लम्बा साँप पूज्यश्री के कन्धे पर आ गिरा। दर्शक श्रोता विचलित हो गए परन्तु महाराजश्री ने शान्तभाव से सबको आश्वस्त किया और कोई छेड़-छाड़ करने से मना किया। श्रावक गण णमोकारमन्त्र का सस्वर पाठ करने लगे। मुनिश्री ने कायोत्सर्ग मुद्रा में मौन धारण कर लिया। कुछ ही क्षणों में मुनिश्री के वक्षस्थल से उतर कर सर्प चरणों में आया फिर पाटे के नीचे घुस कर अपने आप वहाँ से चला गया।

इस प्रकार इस महान् आत्मा ने उपसर्गों के बीच भी समता और सहिष्णुता का ही अवलम्बन लिया। धन्य है इस दृढ़ता और निस्पृहता को।

१६. समाधिमरण

'जातस्य हि ध्रुवोमृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च'; प्रकृति के इस ध्रुव नियम को तो चरमशरीरी मोक्षगामी जीव ही मिथ्या सिद्ध करते हैं, परन्तु निकट भव्य भी अपनी सुसमाधि से अपना संसार

बहुत सीमित कर लेते हैं। पूज्यश्री का तो सम्पूर्ण जीवन ही श्रेष्ठता का निदर्शन है, वैसा ही उनका पण्डित मरण भी हुआ। मारोठ का (अन्तिम) वर्षायोग पूर्णकर संघ कुचामन शहर होते हुए सुजानगढ़ आया। वहाँ २२ दिन रुकने के बाद सीकर की ओर विहार हुआ। माघ शुक्ला त्रयोदशी को (दिनांक २२ फरवरी, ८६) संघ का सीकर में प्रवेश हुआ। संघस्थ सभी त्यागी व्रती अस्वस्थ हो गये थे। महाराजश्री के सम्पूर्ण शरीर में दर्द था-विशेष रूप से हाथ पैरों में। महाराजश्री को उठने बैठने में भी तकलीफ होने लगी थी फिर भी चर्या के वक्त किसी का अवलम्ब नहीं लिया उन्होंने। ३ मार्च, ८६ को प्रातः उनकी स्थिति बहुत गिरी हुई दीख रही थी। उस दिन चर्या को निकले तो अवश्य परंतु अञ्जुलि भी बराबर नहीं जुड़ पाई और एक बून्द पानी भी पेट में नहीं पहुँच पाया। चक्कर आने से पूज्यश्री वहीं बैठ गये। थोड़ी देर बाद उठ कर चले तो उनके लिए चलना सम्भव नहीं हो पा रहा था। साथ के श्रावक उन्हें हाथों पर उठा कर वसतिका में लाये।

अनन्तर उन्होंने मध्याह्न की सामायिक की। दिनभर स्तोत्र, समाधिमरण आदि का पाठ चलता रहा। सायंकाल पूरे संघ ने प्रतिक्रमण किया, महाराजश्री ने भी किया, कायोत्सर्गादि बराबर किये। सायंकाल की सामायिक के बाद पूज्यश्री की श्वास की गति तीव्र हो गई। संघस्थ सभी माताजी, त्यागी व्रती गुरुचरणों में पहुंच गये। आर्यिका विशालमतीजी ने पूज्यश्री से प्रार्थना की- "गुरुदेव ! आपका शरीर अब विदा लेना चाहता है अतः अब आप सर्व प्रकार के आहार का त्याग कर दीजिए।" महाराजश्री ने हाथ जोड़ कर प्रत्याख्यान का कायोत्सर्ग कर पेय को छोड़ कर तीन प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया। रात्रि में शरीर पर लेप-आदि का भी त्याग कर दिया। थोड़ी देर बाद श्वास की गति और तीव्र हुई तो पेय पदार्थ का भी आजीवन त्याग कर दिया। फिर उन्हें बैठ दिया गया, पद्मासन लगाया गया। जब हाथों को कायोत्सर्ग मुद्रा में कर रहे थे (तो मानों स्वयं ही कायोत्सर्ग मुद्रा में हाथ रखना चाहते हों) तभी तीन हिचकियाँ आईं और रात्रि १० बजे कायोत्सर्ग मुद्रा में ही उस महान् पुण्यात्मा ने अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर पर्यायान्तर के लिए प्रस्थान कर दिया।

डाक्टर वैद्यों से ज्ञात हुआ कि ७ दिन पूर्व ही उनके पैरों की नाड़ियाँ टूट चुकी थीं, फिर भी उनमें इतना बल कैसे रहा ? यह आश्चर्य की बात है। शारीरिक वेदना इतनी तीव्र होने पर भी उनके मुख पर मलिनता, झुंझलाहट नहीं आई, कराह नहीं सुनी गई। अन्तिम क्षण तक वे अपने स्वरूप में पूर्ण सावधान रहे। स्वावलम्बन की उनकी वृत्ति अन्त समय तक बनी रही।

१७. अन्तिम उपदेश

अन्तिम दिनों में पूज्यश्री ने संघस्थ त्यागियों को इस प्रकार सम्बोधित किया—

* अरे ! तुमने घर छोड़ा, परिवार छोड़ा, किसलिए ? आत्मकल्याण के लिए। तो आत्मकल्याण करो क्यों प्रपंचों में फँसते हो ?

★ मन को वश में करो, वचन को वश में करो, काय की अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागो।

★ प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है-निश्चय प्रतिक्रमण और व्यवहार प्रतिक्रमण। व्यवहार प्रतिक्रमण तो इस जीव ने अनेक बार किया किन्तु निश्चय प्रतिक्रमण तो एक बार भी नहीं किया।

★ समता भाव में रमण करना ही तो सामायिक है। हिंसा दो प्रकार की होती है-द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। भावहिंसा तो यह जीव निरन्तर करता है परन्तु द्रव्यहिंसा कभी-कभी। अरे भाई! भाव हिंसा से बचो, झूठ मत बोलो, सदा हित मित प्रिय वचन बोलो। अपने व्रतों का निर्दोष पालन करो। आत्मा में रमण करो, इससे ही संवर निर्जरा होगी।

★ संसार संयोग-वियोग रूप है। इष्ट के वियोग व अनिष्ट के संयोग में दुःखी मत होओ। राग-द्वेष मत करो। रागद्वेष ही संसारवृद्धि का कारण है।

★ (आत्मसम्बोधन) रे पापी! तेरा कल्याण कैसे होगा? चेत, स्व में रमण कर; पर में भटकेगा तो संसार अटवी में अटक जायेगा।

★ क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं। मान आत्मा का स्वभाव नहीं। मायाचार आत्मा का स्वभाव नहीं। लोभ करना पाप है-यह आत्मा का शत्रु है। क्षमा मार्दव आर्जव ही आत्मा का धर्म है। इसका ही ध्यान करो, इसे ही धारण करो। भाव सहित प्रतिक्रमण करो।

फाल्गुन कृष्णा ८, सोमवार ३ मार्च, ८६ को सीकर (राजस्थान) में पूज्यश्री का समाधिमरण हुआ। स्मृति स्वरूप भक्तों ने वहाँ एक भव्य छतरी का निर्माण किया है और महाराजश्री की श्रुत-प्रीति के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत वृहद्द्रव्यसंग्रह का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन।

मुझ अल्पज्ञ सरागी द्वारा पूज्य मुनिश्री सदृश विरक्त महापुरुष के गुणों का वर्णन सम्भव नहीं। मेरी तो यही भावना है कि उत्तम स्वर्गीय सुखों के उपभोग के अनन्तर मुक्ति के योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री प्राप्त कर आप अविनश्वर आत्मीय सुख के अधीश्वर बनें।

स्वर्गीय पूज्यश्री के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन!

—डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

सागरवत् गम्भीर

△ आचार्य श्री १०८ सन्मतिसागरजी महाराज (अजमेर वाले)

परम तपोनिधि प्रशान्त मूर्ति १०८ आ. क. श्री विवेकसागरजी महाराज के सत्संग का लाभ मुझे कुछ समय तक मिला। मैंने उनका अन्तर्बाह्य चारित्र देखा। उनकी कथनी और करनी में कहीं भी अन्तर नहीं दिखाई पड़ता था।

सागर की महिमा, उसकी विशालता, गहराई तथा गर्भ में स्थित अमूल्य अनन्त रत्नराशि से है। विवेकसागर भी सर्वजनहित की विशालता, आत्मचिन्तन की अनुपम गहराई और उससे विस्तृत अनुपम ज्ञान सुधा रस से संयुक्त थे।

छद्मस्थ अवस्था में मोक्षमार्ग का अनुसरण करने के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही अनुपम सोपान हैं जिसकी उपलब्धि का माध्यम है सतत स्वाध्याय और आत्मचिन्तन। इसके लिए मुनिश्री ने वीतरागता की पोषक जिनवाणी को सामान्यजन तक पहुंचाने का अथक प्रयास किया था।

जिनके सहज दर्शनों से, अन्तर की कटुता दूर हुई।
करुणा के सागर स्वविवेक से रागादिक प्रभुता चूर हुई।।

वसुन्धरा की भाँति आपके विशाल गम्भीर व्यक्तित्व के दर्शनमात्र से कलुषित हृदय भी आनंद एवं शान्ति की अपरिमित तरंगों से परिपूरित हो जाता था। युयुत्सा प्रवृत्ति के अनेक लोगों ने अपना प्रवृत्ति-व्यामोह त्याग कर आपकी प्रशान्तमूर्ति से अभिभूत हो अपने जीवन में शान्ति की धारा प्रवाहित की है।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं उनके प्रति अपनी भावाञ्जलि अर्पित करता हूं। △

ज्ञानप्रचारक

△ मुनिश्री १०८ उत्तमसागरजी महाराज (आचार्य १०८ श्री धर्मसागरजी के शिष्य)

तपस्वी जीवनके समान संसार में और कुछ भी उत्कृष्ट सार नहीं है। पूज्यश्री विवेकसागरजी महाराज ने जीवन भर निरतिचार रत्नत्रय धर्म की आराधना कर मुनि चर्या के प्रति लोगों के मन में आस्था जागृत की। नई पीढ़ी को अणुव्रत ग्रहण कराके आपने श्रावक समुदाय में सुदृढ़ रक्षा पंक्ति का निर्माण किया जिससे आगे का श्रावकवर्ग सुसंस्कारित जीवन व्यतीत करता हुआ धर्म की सेवा में लीन रहे।

पूज्य श्री विवेकसागरजी महाराज ने ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अपना अधिकांश समय

लगाया। शास्त्रों को छपवाकर सर्व सुलभ बनाने की तीव्र आकांक्षा सदैव आपके मन में बनी रहती थी। अपने जीवन में आपने अनेक धर्मग्रन्थों को छपवाकर समाज में निःशुल्क वितरण कराया। आज जब धर्मग्रन्थों का प्रचार-प्रसार काफी कठिन है, उनका प्रकाशन कठिन है तब ग्रन्थों को छपवाकर जिनवाणी को घर-घर तक पहुंचाने का प्रयास वास्तव में स्तुत्य प्रयास है।

साधना मार्ग में आपकी तपश्चर्या भी स्पृहणीय है, जीवन का अधिकांश समय उपवास द्वारा आत्म-शोधन में बिताया। चार पांच दिनों तक लगातार, उपवास कर लेना आपके लिये अत्यन्त सहज था। इन दिनों आप एकाग्रचित्त से ज्ञान-ध्यान में लीन रहते थे। आप मृदुभाषी सरल परिणामी तथा शांतमूर्ति थे। आपकी उपदेश शैली अत्यन्त मनोहर तथा प्रभावक थी। जो भी आपके सम्पर्क में एक बार भी आ जाता वह अणुव्रत धारण कर मुक्ति के मार्ग पर अपना प्रारंभिक कदम बढ़ाकर जीवन को सफल बना लेता था। वास्तव में संतों के जीवन का प्रभाव ही ऐसा होता है। पारस के स्पर्श से लोहा यदि सोना नहीं बन सके तो पारसमणि का भला क्या मूल्य? महाराज के पास पहुंचते ही व्यक्ति आत्म सुधार के पथ पर अग्रसर हो पड़ता था। सचमुच ही, श्री विवेकसागरजी महाराज महान् तपस्वी थे। मेरी भावना है कि सभी लोग उन जैसा ज्ञान प्रसारक तपस्वी बन कर आत्म कल्याण करें तथा समाधि को प्राप्त करें। △

श्रेष्ठ तपस्वी

△ मुनिश्री १०८ अजितसागरजी महाराज (आचार्य १०८ श्री सन्मतिसागरजी के शिष्य)

पूज्य विवेकसागरजी महाराज की हम जितनी भी महिमा गायें, उतनी ही थोड़ी है। वे महान् तपस्वी थे। ज्ञान, ध्यान और तप में ही लीन रहते थे। जब मैं कुचामन में था तब उनका भी वहां आगमन हुआ जिससे कुछ दिन उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ। वहाँ मैंने देखा कि वे रात्रि २ बजे से प्रातः ७ बजे तक एक आसन से बैठ कर ध्यान करते थे। चर्या को निकलते थे तो उनकी प्रतिज्ञा (व्रतपरिसंख्यान नियम) नहीं मिलने के कारण लगातार दो-दो, तीन-तीन दिनके उपवास हो जाते थे।

धर्म ही जीवन का प्राण है, यही परम साध्य है। पूज्य विवेकसागरजी ने इसे आत्मसात् कर अपने जीवन को सफल बनाया है। मैं भी उसे अपने जीवन में उतारूँ एवं समाधि के समय सजग रह समस्त साधना को सफल करूँ, ऐसी भावना है। पूज्य विवेकसागरजी महाराज के गुणों का स्मरण कर भव्यजन कल्याण मार्ग पर अगसर होकर आत्महित करेंगे, ऐसी आशा है। △

विरले साधु

△ आर्यिका १०५ गुणमती माताजी (आ० धर्मसागरजी महाराज की शिष्या)

मैं अज्ञानलीन तुच्छबुद्धि से पूज्य १०८ श्री विवेकसागरजी म० सा० के क्या गुण गा सकती

हूं। उग्र तपस्वी, चारित्रविभूषण, प्रातः स्मरणीय पूज्य महाराजश्री एक विरले ही साधु थे। अद्भुत और असामान्य आखड़ी लेते थे। चाय न पीने का नियम दिलाते थे। बड़े कट्टर थे। उनका शान्त स्वभाव था, मैंने गावां में उनके दर्शन किये थे। वे सतत् स्वाध्याय में लीन रहते थे।

आपकी पूर्वपर्याय की बहिन ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली है। और भी आर्यिकायें आपकी दीक्षित हैं जो प्रभावना पूर्वक धर्मसाधनारत हैं। पूज्य मुनिश्री की समाधि सीकर में बड़ी सावधानी पूर्वक हुई। ऐसे मुनियों को बारम्बार विनयपूर्वक त्रिबार नमोस्तु करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित करती हूं कि वे शीघ्र से शीघ्र मुक्तिवधू के कन्त बनें। △

अनुपम ज्ञानज्योति बुझ गयी

△ आर्यिका १०५ श्री विशालमती माताजी (संघस्थ)

श्रमणसंस्कृति के मूर्तिमन्त (स्व०) गुरुदेव १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज की अलौकिक साधना के सम्बन्ध में क्या लिखूं ? कैसे लिखूं इस जड़ लेखनी से उनकी जीवन्त गाथा को ? असमर्थ हूं, फिर भी 'कृतमुपकारं साधवः न विस्मरन्ति' की भावना बलात् प्रेरित करती है, कुछ लिखने को, कुछ कहने को।

जीवन में सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण आदि के क्षण तो प्रायः आते ही रहते हैं परन्तु किसी महान् सन्त-आत्मा के सन्निकट साधु-चर्या का बोध कराने वाले क्षण दुर्लभता से ही आते हैं।

सन् १९६९। मुझे पहली बार प्रेरणा मिली आत्मकल्याण की, परिचय मिला वीतराग धर्म का, एक दिशा मिली आत्म-उत्थान हेतु। संकल्प कर लिया गुरुवर्य मुनि १०८ श्री भव्यसागरजी के चरणों में कि आराधिका बनूंगी तो वीतराग निर्ग्रन्थ धर्म की। दीक्षा लूंगी तो दिगम्बर पद्धति की अन्यथा आजीवन अविवाहिता रह कर जीवन के क्षण काटूंगी।

दिशा तो मिली पर कदम अब भी स्तब्ध। मोड़ तो मिला पर प्रवाह नहीं—बढ़ूं भी कैसे ? दिगम्बर मार्ग से सर्वथा अपरिचित, श्वेताम्बर पद्धति के संस्कारों से जकड़ी। अन्तरात्मा तो मोक्षमार्ग की सच्ची पथिक बनने के लिए मचल रही थी परन्तु कोई उपाय नहीं। प्रतीक्षा में कट गया ८ वर्ष का लम्बा काल। आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर होने के लिए हृदयभूमि पर बीज तो डाला था पूज्य भव्यसागर गुरुवर ने परन्तु पानी, प्रकाश, खादरूप अनुकूलताओं के अभाव में वह नहीं हो पाया विकसित। बस, एक लम्बी प्रतीक्षा थी ....।

एक दिन सूचना मिली कि कोई दिगम्बर मुनिराजश्री नगर में पधारने वाले हैं; मन में अपार हर्ष, हृदय में असीम उत्साह लिये अपने सपनों को साकार बनाने हेतु मैं भी नगर से बाहर मंगल स्वागत हेतु निकल पड़ी। प्रथम दर्शन ! आनन पर दर्शन की सौम्यता, नयनों में ज्ञान और तप

की तेजस्विता और चर्या में चारित्र की दृढ़ता देखकर अभिभूत हो उठी मेरी आत्मा। मुनिश्री वसतिका में पधारे..........। मेरा चित्त सब कुछ भूलकर मृग की भाँति एक टक उस वीतराग मुद्रा को निहारता रहा। आपकी सौम्य शान्त मुद्रा, तप से दीप्त मुख मण्डल में न जाने मेरे लिए क्या आकर्षण था कि चित्त गुरु चरणों से विदा नहीं लेना चाहता था। हृदय धड़क रहा था—कैसे पूछूं—विवेक के सागर इन महामुनि से। मनमें जिज्ञासा थी......शंकाओं का समाधान पाने की अभिलाषा थी, त्रिलोकाकृति को समझने के भाव थे......साहस बटोर कर पूछ बैठी। गुरुवर ने अत्यन्त सरल और सुबोध नपे-तुले शब्दों में मेरी जिज्ञासाओं का शमन किया।

क्षीणकाया में भी आपके अक्षीण आत्मबल को देखकर सबको आश्चर्य होता था। असाता-वेदनीय के उदय से शरीर में असह्य वेदना हो गई। अन्तराय कर्म ने चार दिन तक लगातार आहार में बाधा पहुंचाई परन्तु आपकी श्रमणोचित क्रियाओं में तनिक भी शिथिलता नहीं आई। निर्भीक होकर आपने पाँचवें दिन नीमच की ओर विहार कर दिया। गुरुदेव का विहार मुझ आकिञ्चन के दुःख का कारण बना। पुनः पुण्योदय से आपके दर्शनों का लाभ ८ दिन तक मन्दसौर में मिला परन्तु पापोदय से पुनः गुर्वविरह की आग में झुलसते हुए गृह-कारागृह में लौटना पड़ा।

तभी ज्ञात हुआ कि गुरुदेव का वर्षायोग मन्दसौर में स्थित हुआ है। सुनकर हृदय प्रमोद से भर उठा, अभागिन भाग्य को सराहने लगी। आत्मा कहती थी कि अब इस अवसर को नहीं चूकना। मन तो कहता, उड़कर पहुंच जाने की प्रेरणा करता, पर कैसे? नारी जीवन परतन्त्र जो है। दूसरी ओर सम्प्रदाय का मोह परिजनों को आशंकित करता रहता, वे तो 'कुसुम' को श्वेताम्बर परम्परा में ही दीक्षित देखना चाहते थे, वीतराग निर्ग्रन्थ परम्परा में नहीं। पर......पुण्योदय होता है, भावना प्रबल होती है तो मार्ग भी निकल ही आता है। मन्दसौर से बहिन का निमन्त्रण आ गया तो घर से भी सहज स्वीकृति मिल गई। पहुंच गई गुरुचरणों में और ८ दिन के बाद ही यह संकल्प कर लिया कि चार माह तक गाड़ी-मोटर में नहीं बैठूंगी ताकि गुरुदेव के सान्निध्य से वंचित नहीं होना पड़े। चार माह तक निरन्तर धर्मामृत का पान करने से हृदय में अपूर्व शान्ति का अनुभव हुआ।

मैंने भाद्रपद मास में पञ्चमेरु के पाँच उपवास किये थे। अपने हीन हाथों को पवित्र बनाने के प्रयोजन से मैंने भी गुरुदेवश्री को आहार देने की प्रबल इच्छा व्यक्त की परन्तु पारखी गुरुदेव बोले—"तुम्हारे माता-पिता श्वेताम्बर परम्परा के अनुसर्ता हैं। कल को वे तुम्हारे नियम भंग करा दें तो? अतः पहले वे संकल्प लेवें।" मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी, मैं बार बार अनुरोध कर रही थी—"महाराज! मैंने तो वीतराग धर्म अपनाया है। आजीवन विवाह न करने का संकल्प लिया है, अभक्ष्य पदार्थों का भी भक्षण नहीं करती, फिर क्या है? मैं आहार दिए बिना पारणा नहीं करूंगी।" शायद मेरी दृढ़ता ने गुरुदेव को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मेरे घर वालों को कहा—"तुम्हारी यह सुपुत्री दिगम्बर परम्परा को अपनाना चाहती है। बोलो, क्या करना?"

मेरी होनहार अच्छी थी। तपस्वी गुरुदेव के वचनों का इतना प्रभाव पड़ा कि बिना विशेष तर्क के परिजनों ने मुझे दिगम्बरत्व का अनुसरण करने की अनुमति दे दी। उस दिन मुझे भी विश्वास हो गया कि गुरुदेव पारखी हैं और बाहरसे चाहे वे नारियल सदृश कठोर हों पर अन्तस् में तो वे नवनीत से भी अधिक कोमल हैं।

पाँच माह के सान्निध्य में मैंने निर्णय कर लिया कि मेरी धर्मनौका के खिवैय्या मिल गये हैं, बस नाव को मोक्षद्वीप की ओर अग्रसर करना है। वर्षायोग की समाप्ति के बाद जावरा (म०प्र०) में पूज्य गुरुवर्य ने असीम कृपा करके मुझ असंयमी को पंचम प्रतिमा के व्रत देकर मोक्षमार्गी बनाया। आपकी छत्रछाया में मैंने प्रतिक्रमण, सहजसुखसाधन, मूलाराधना, संयमप्रकाश, मूलाचार मूलाचार प्रदीप, पञ्चास्तिकाय, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, शुद्ध श्रावकधर्म प्रकाश, पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, सम्मेदशिखर माहात्म्य, परमात्मप्रकाश, स्वयम्भू स्तोत्र, समयसार, अमृतकलश आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने ज्ञान को निर्मल, श्रद्धान को दृढ़ और चारित्र को उज्ज्वल बनाया।

वि० सं० २०३६ में बड़नगर में आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के दिन मैंने आपसे सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। आपने मुझे नारी-जीवन के अर्ध श्रृंगार स्वरूप केशों को निकालने की प्रेरणा दी। मेरी कमजोरी भाँप कर आपने मुझे जो उद्‌बोधन दिया वह आजभी मेरे स्मृति पटल पर ज्यों का त्यों है। "ये बाल तो नारी के चेहरे की सुन्दरता का कारण मात्र हैं। इन्हीं के कारण कामीजनों की दृष्टि नारी के चेहरे पर टिकती है। अरे ! जब ब्रह्मचारिणी बन गई हो, आर्यिका बनना है तो फिर व्यर्थ में इन तुच्छ बालों से क्यों राग करती हो ?" गुरु के उद्‌बोधन ने मुझमें असीम शक्ति का संचार किया, मैंने केशों को निकालने की प्रतिज्ञा भी ले ली।

दो वर्ष पश्चात् आपने मुझे नवम प्रतिमा के व्रत प्रदान किये। परन्तु शायद कर्मबली को मेरे संयमित जीवन का विकास ठीक नहीं लगा, मुझे कई रोगों ने आ घेरा। ढाई माह तक अविरल खाँसी बुखार और दस्तों के रोग से शरीर बिल्कुल कृश हो गया, उस समय भी आपने मुझे असीम धैर्य और सन्तोष रखनेका बल प्रदान किया। उसी समय संघस्थ आर्यिका १०५ विपुलमति माताजी की समाधि हुई थी। आप उन्हें अनेक प्रकार से सम्बोधित करके धर्ममार्ग में दृढ़ करते थे।

पूज्य विपुलमति माताजी की समाधि के बाद मेरी दशा वही हुई जो माँ के वियोग में अल्पायु वाली सन्तान की होती है। परन्तु गुरुदेवश्री ने माँ से भी अधिक धर्मस्नेह प्रदान कर माँ की विरह वेदना को विस्मृत करवाया। उन महान् उपकारी गुरुदेव का उपकार एक क्षण भी नहीं भूला जा सकता है। आपके पुनीत आशीर्वाद से मेरे रोगों का शमन हुआ और मैं पुनः मोक्षमार्ग में बढ़ने लगी।

भानपुरा वर्षायोग के बाद आपने मुझे अनेक बार आर्यिका के व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा दी परन्तु मैं उन उच्चव्रतों को पालने में अपने को कमजोर समझ टालती रही। आपने पिड़ावा में

मुझे पुनः मोहनिद्रा से जगाया—"आगे बढ़ोगी या यहीं रहोगी ? क्या सोचती हो ? अवसर निकल गया तो फिर पछताना पड़ेगा ।······ तुम्हारे परिणाम/प्रवृत्ति आदि अच्छे हैं, ऐसे ही विशुद्ध परिणाम रहे तो तुम जल्दी ही स्त्रीलिंग छेद कर कल्याण कर लोगी । [यही आशीर्वाद मुझे आज भी पुनः पुनः विशुद्धि की ओर अग्रसर करता रहता है ।] कल-कल क्या करती हो ? काल सिर पर मंडरा रहा है, उसे क्यों नहीं देखती ? चेतो, नहीं तो पश्चाताप हाथ लगेगा ······।"

तीन दिन तक निरन्तर ऊहापोह करने के बाद मैंने गुरुचरणों में आर्यिका दीक्षा हेतु निवेदन कर दिया तो मुझे दसवीं प्रतिमा के व्रत देकर बोले—"आर्यिका दीक्षा के लिये मैं सोचूंगा ।" कई दिनों तक आपने मेरी भावना और प्रवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण किया; दीक्षा ग्रहण की मेरी भावना प्रबलतर होने लगी—मैं सतत् प्रार्थना करती और गुरुदेव टाल देते ।

आखिर, पिड़ावा में फाल्गुन शुक्ला पंचमी वि. सं. २०४० के पवित्र दिवस में आपने मुझे विधिवत् 'आर्यिका व्रत' प्रदान कर कृतार्थ किया । आप सदैव मुझे आर्यिका समाचारी को आगमानुसार पालने की चेतावनी देते रहे ।

मेरी दीक्षा के दो वर्ष बाद ही सीकर में फाल्गुन कृष्णा अष्टमी सं० २०४२ की रात्रि में दस बजे आपका स्वरूप की पूर्ण सावधानोपूर्वक समाधिमरण हो गया । मैं उन परमपूज्य गुरुदेव के महान् उपकारों को एक क्षण भी विस्मृत नहीं कर सकती जिन्होंने मुझे वीतरागरूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त किया, मुझ अबोधको सम्यग्बोध प्रदान किया और केवल वाणीसे ही नहीं अपितु अपनी चर्या से संयम, तप, त्याग, सहिष्णुता, सतत आगमाभ्यास की सद्शिक्षा दी । वह अनुपम ज्ञान ज्योति देह के रूप में भले ही हमारे बीच न हो परन्तु उसका प्रकाश तो सदैव हमारा मार्गदर्शक रहेगा ।

मेरे अज्ञानतिमिरान्ध चक्षुओं को ज्ञानांजन से खोलने वाले, हृदय मन्दिर में विवेक ज्योति जगाने वाले, उन परम विवेकी गुरुदेव को सतत नमस्कार करती हुई यही भावना भाती हूं कि हे गुरुदेव ! मुझमें ऐसी क्षमता पैदा हो कि आपके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर निर्दोषरीत्या बढ़ती रहूं ।

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूं तथा वीर प्रभु के चरणों में प्रार्थना करती हूं कि पूज्य गुरुदेव अतिशीघ्र निर्वाण का लाभ प्राप्त करें ।

△

मिथ्यात्व विरोधी गुरुदेव

△ आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी (संघस्थ)

मुझ अभागिन को संसार-सागर से निकालने के लिए ही मानो अन्य अनेक स्थानों के श्रावकों के वर्षायोग-निवेदनों को स्वीकार कर पूज्य गुरुदेवश्री विवेकसागरजी महाराज इस देह की जन्मभूमि (भीण्डर) पर वर्षायोग करने के लिए पधारे । महाराजश्री की वृत्ति, आहारचर्या आदि सभी क्रियाएँ

निर्दोष थीं। सूर्योदय से पूर्व आप अपनी वसतिका से कभी बाहर नहीं निकलते थे। आपके प्रवचनों में मिथ्यात्व त्याग की प्रेरणा मुख्य रहती थी। मैं यद्यपि कुदेवों की उपासना तो नहीं करती थी फिर भी व्यन्तरों की पूजा, चढ़ाये हुए भोजन का भक्षण आदि रूप मिथ्यात्व का सेवन करती थी। पूज्य महाराजश्री एवं संघस्थ बहिन कुसुम जीजी (अब आर्यिका विशालमतीजी) के निरन्तर पांच माह तक व्याख्यानों का श्रवण करने से ससार-शरीर और भोगों से मेरी विरक्ति पुष्ट हुई, दृढ़ हुई। मेरी भावना बनी कि पूज्यश्री के संघ में रहकर आत्मकल्याण करूं, मुझे अनुमति भी मिल गई। मुझ पर आई अनेक विपत्तियां पूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद से टलती रहीं। माघ शुक्ला १२ सं० २०४१, दिनांक २-२-८५ को कूकनवाली में मुझे पूज्यश्री से आर्यिका के व्रत अंगीकार करनेका परम सौभाग्य तो मिला पर मेरे दुर्भाग्य से ३-३-८६ को सीकर में पूज्यश्री का स्वरूप में सावधानीपूर्वक समाधिमरण हो गया। बस कुछ ही समय तक महाराज के चरणों का सान्निध्य लाभ मिल सका। मैं हीन बुद्धि हूं; पूज्यश्री की विशेषताओं का वर्णन करने की क्षमता मुझमें कहां ?

पूज्यश्री मितभाषी थे। आपकी सौम्य मुद्रा ही संघ को पूर्ण अनुशासन में रखने में समर्थ थी। आपकी आज्ञा के बिना संघस्थ कोई भी त्यागी-व्रती कुछ भी करने को तत्पर नहीं होता था। जिस शीशी पर डाट नहीं होता है तो उसके भीतर का सामान भी सुरक्षित नहीं रहता, उसी प्रकार जिस शिष्य पर डाट (अंकुश) न हो, वह शिष्य भी सुरक्षित नहीं रह पाता।

पूज्यश्री के कठोर अनुशासन के कारण ही मुझे शीघ्र आर्यिका दीक्षा धारण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं उन महान् गुरुदेव के चरणों में त्रिधा नमोस्तु निवेदन करती हुई अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूं और आपकी समाधि की भांति ही सु-समाधि की भावना करती हूं। △

सन्मार्गदर्शक परम गुरुदेव

△ आर्यिका १०५ श्री विद्युत्मती माताजी (संघस्थ)

स्त्रीपर्याय तिस पर अज्ञानी विधवा जीवन......... अभिशाप खुद के लिए और अपशकुन दूसरों के लिए। बढ़ती आयु, ढलता जीवन, हीन बुद्धि, वात्सल्य वंचित मैं दुविधाग्रस्त, किंकर्त्तव्य-विमूढ़, निराश, हताश। तभी श्रीमाधोराजपुरा में पहली बार परम पूज्य गुरुदेवश्री विवेकसागरजी का सुखद सान्निध्य मिला। विचार आया कि एक ही कोख से जन्मे हम दोनों। इनका अद्भुत पुरुषार्थ है जो आत्मकल्याण में संलग्न हैं और मैं अभागिन अभी भोगों के कीचड़ में निमग्न हूं। मैंने भी कल्याणकारिणी दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया पर संकल्प को साकार न कर सकी।

दूसरी बार टोंक में संघ के दर्शनों का सौभाग्य मिला, फिर मैं कूकनवाली वर्षायोग में आई, उस समय आर्यिका विपुलमतीजी ने भी मुझे काफी प्रेरित किया परन्तु मेरा संकल्प मूर्त न हो सका। मैं छटपटाती रही पर निकल न सकी। डिब्रूगढ़ (आसाम) आना पड़ा जहां कोई सत्समागम नहीं

मिला। दो-ढाई माह तक मैं श्रीमन्दिरजी में ही रह कर धर्माराधना करती रही; अब अनुकूल काल आया और मैं पूज्य गुरुदेव विवेकसागरजी की छत्रछाया में पहुंच गई। मैंने अपनी पुनीत भावना गुरु-देव के समक्ष व्यक्त की। कृपालु गुरुदेव ने मुझे क्रमश: द्वितीय प्रतिमा, पंचम प्रतिमा फिर सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये परन्तु मुझे सन्तोष नहीं हो रहा था। मारोठ वर्षायोग में मैंने पुन: गुरुदेव से आर्यिका के व्रत प्रदान करने की सविनय प्रार्थना की। महाराजश्री ने मुझे नवम प्रतिमा के व्रत दिये और अनन्तर मंगसिर कृष्णा १२ सं० २०४२ दिनांक ९-१२-८५ को मेरी चिर अभिलषित साध पूर्ण हुई। कृपालु गुरुदेव ने मुझे आर्यिका के व्रत प्रदान कर कृतार्थ किया।

पर मेरा दुर्भाग्य, बहुत शीघ्र ही गुरुदेव का, मेरे संरक्षक का सीकरमें समाधिमरण हो गया। ऐसे परमोपकारी, स्वपरहितैषी, सन्मार्गदर्शक गुरुदेव का उपकार मैं कदापि कथमपि नहीं भूल सकती हूं। परम तपस्वी गुरुदेव के चरणों में कोटि कोटि नमोस्तु निवेदन करती हुई यही भावना भाती हूं कि उन्हें शीघ्र ही मुक्तिरमा वरण करे। △

उत्कृष्ट साधक

△ क्षुल्लक १०५ श्री रत्नसागरजी महाराज (आचार्य विमलसागरजी के शिष्य)

परम पूज्य १०८ विवेकसागरजी महाराज से एक बार नसीराबाद में अष्टाह्निका पर्व में मेरी भेंट हुई थी। वे बहुत सरल परिणामी थे। ज्ञान प्रचार में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने १५-२० ग्रन्थों का नि:शुल्क वितरण करवाया था। आहार के लिए व्रतपरिसंख्यान स्वरूप वे बड़ी कठिन अट-पटी लिया करते थे फलतः अनेक बार उनके तीन-तीन, चार-चार उपवास भी हो जाते थे, परन्तु इसका कभी उन्हें क्षोभ नहीं होता था।

मैं उस पुनीत आत्मा के प्रति अपनी सविनय श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं। △

अब स्मृति ही शेष रह गई

△ कु० सरला जैन (संघस्थ)

परम पूज्य गुरुदेव ! साधु परमेष्ठिन् ! मेरे उपास्य ! आज हमारे बीच नहीं रहे, अब कहां पाऊं ? कहां खोजूं उन्हें ? क्योंकि वे तो स्वर्गीय सुखों के बीच होंगे; मेरे लिए तो अब उनकी स्मृति मात्र ही शेष है।

मुझे याद आरहे हैं बचपन के वे क्षण जब वे मेरे पूज्य पिताश्री के रूप में थे। मुझे अपने पास स्नेह से बिठा कर मधुर शब्दों में भक्तामर और तत्वार्थसूत्र आदि पाठ बोलना सिखाते थे, देव-दर्शन पूजन का महत्व बताते थे और शील सदाचार की कहानियां सुनाते थे। इन्हीं संस्कारों ने मेरे अपावन जीवन को पावन किया। पर मुझे यह कहां ज्ञात था कि पूज्य पिताश्री मुझे ९-१० वर्ष की उम्र में

ही असहाय छोड़कर मोक्षमार्ग के पथिक बन जायेंगे । मुझे अपने शुभ संस्कारों से संस्कृत कर वे पहुंच गए परम पूज्य गुरुदेव ज्ञानसागरजी के चरणों में और मैं रोती बिलखती रह गई ।

ऐसे ही पूज्य मातुश्री ने भी मुझे संस्कारवती बनाया । पिताश्री की दीक्षा के बाद आपने ही मुझे हेयोपादेय का ज्ञान कराया । आप घर में अवश्य रहती थीं पर निरासक्त भाव से । जब मैं १५-१६ की हुई तो मातुश्री कहती थी—"मैं तेरे हाथ पीले कर दूं, फिर मैं भी संसार तारक दीक्षा अंगीकार करूंगी ।" मैं कहती—"मातुश्री ! आप भी पूज्य पिताजी की भाँति अपने संसार का समापन चाहती हो तो फिर मुझे क्यों संसार बढ़ाने हेतु धकेलती हो, मेरा भी संकल्प है कि मैं विवाह के बन्धन में नहीं बँधूंगी ।" माताजी मेरे कथन से आश्वस्त होती, कहती—"सच में बेटा ! संसार में किंचित भी सुख नहीं है, इसका तो जितनी शीघ्रता से अन्त किया जाय, इसी में बुद्धिमानी है ।" मेरी परमोपकारी मातुश्री ने मेरे संकल्प को दृढ़ किया । मैं उनका उपकार कदापि नहीं भूल सकती ।

पूज्य गुरुदेव श्री विवेकसागरजी महाराज राजस्थान में ६-७ वर्षायोग पूर्ण कर मन्दसौर (म० प्र०) पधारे । वहाँ मातुश्री ने नवमी प्रतिमा के व्रत लिये और संघ में ही रहने का निश्चय किया । (मातुश्री की यह विशेषता रही कि जिस स्थान पर उन्होंने गृह त्याग किया, उसी स्थान पर (मन्दसौर में ही) उन्होंने अपनी देह का त्याग किया, वि० सं० २०३७ में उनका समाधिमरण यहीं हुआ ।)

मन्दसौर में सघ-दर्शन का लाभ मुझे भी मिला । मेरा हृदय पुष्प भी वैराग्य की सुरभि से महक उठा, मैंने गृहकारा में न लौटने का मानस बनाया । मैंने अपने मनोभाव 'कुसुमजीजी' (अब आर्यिका विशालमतीजी) के सम्मुख अभिव्यक्त किये । उन्होंने उस समय मुझे उद्‌बोधन दिया, उससे मुझे अपने संकल्प में बल मिला । मैं उनके उपकार को कभी नहीं भूल सकती ।

किन्तु मुझे अपने भाइयों से भय था । आखिर जिस दिन वाशिम लौटने का अवसर आया— मैंने उनके साथ घर लौटने से इन्कार कर दिया । बस, फिर क्या था; वही नजारा उपस्थित हो गया जो मोही संसारी करता है । मुझे घर ले जाने की जिद की गई । रोना-धोना शुरू हुआ । फिर भी मैं न मानी तो पूज्य गुरुदेव के पास फरियाद की गई । उन्होंने कहा—"देखो भाई ! यदि कोई प्राणी आत्मकल्याण हेतु संसार छोड़ना चाहता है तो मैं उसे कभी भी संसार रूपी कारा में लौटने की प्रेरणा नहीं कर सकता । तुम जानो, तुम्हारी बहन जाने ।"

गुरुदेव के शब्दों से बल मिला मुझे । मैंने कहा—"गुरुदेव ! अब मैं आपके चरण सान्निध्य में ही रहूंगी । ये लोग मेरा विवाह कर मेरे सुनहरे स्वतंत्र जीवन को नष्ट करना चाहते हैं ।" गुरुदेव बोले—"देखो भाई ! तुम यह नियम करो कि हम इसकी १२ माह तक शादी नहीं करेंगे ।" भैया का उत्तर था—"ठीक महाराजश्री ! ६ माह तक इसकी शादी नहीं करेंगे ।" किन्तु उसी समय मैं बोल

उठी—"गुरुदेव ! मैं जीवन पर्यन्त विवाह के बन्धन में नहीं बंधूंगी। मैं अपने स्वतंत्र जीवन को बोझिल नहीं बनाऊंगी। आपकी साक्षी पूर्वक संकल्प करती हूं कि आजीवन अविवाहित रहूंगी।

फिर क्या था ! इस दृढ़ प्रतिज्ञा ने मेरी सारी समस्यायें हल कर दी। पूज्य मातुश्री की दीक्षा बड़वानी सिद्धक्षेत्र में हुई थी। मैं भी अपने भाइयों के साथ 'आर्यिका दीक्षा समारोह' में सम्मिलित हुई। भाइयों ने फिर घर लौटने के लिए परेशान किया परन्तु मैंने एक वर्ष तक घर न लौटने के दृढ़ निश्चय से उन्हें अवगत कराया। मेरी इस दृढ़ता के पीछे पूज्य माता-पिता के संस्कारोंका ही बल है। गर्व है मुझ अपने जन्मदाता पिता और जन्मदात्री मां पर जिन्होंने मुझे भी सन्मार्ग पर लगाया पर खेद इस बात का है कि उनके लगाये इस पौधे पर उत्कृष्ट चारित्र के फल अभी तक नहीं आ सके हैं; असाता वेदनीय कर्म ने मुझे बुरी तरह से घेर रखा है।

आज स्मरण आते हैं वे क्षण जब मैं अस्वस्थ होती तो पूज्य गुरुदेव मुझे मार्मिक सम्बोधन देते, महापुरुषों के उदाहरण देकर मुझ समताभावपूर्वक वेदना सहन करने का बल प्रदान करते किन्तु दुर्भाग्य मेरा...... आज वैसी प्रेरणा, वैसी सान्त्वना देने वाले गुरुदेव का आश्रय भी छूट गया। अब तो केवल स्मृति ही शेष रह गई है उनकी। छह माह पूर्व ही अपनी गम्भीर अस्वस्थता के कारण मैं संघ से इन्दौर उदासीन श्राविकाश्रम में आगई थी। वर्तमान में पं० रतनलालजी के पास अध्ययन कर रही हूं।

अपने पापोदय से मैं पूज्य गुरुदेव की समाधि में भी सम्मिलित नहीं हो सकी, इसका मुझे बेहद अफसोस है। पर अब क्या करूं ?

पूज्य गुरुदेव से प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष रूप से यही सविनय प्रार्थना करती हूं कि "हे गुरुदेव ! मैं भी चारित्रपथ पर आगे बढ़ अपने जीवन को सफल बनाऊं और आपका परोक्ष आशीर्वाद मुझे हर क्षण मिलता रहे।......मैं भी आपके ही समान सर्वोत्कृष्ट समाधि सहित इस देह का त्याग करूं।"

इसी पवित्र भावना के साथ गुरुचरणों में श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हुए उन्हें कोटि-कोटि वन्दन करती हूं। △

करुणासागर यतिराज

△ ब्र० कंचन जैन (संघस्थ)

सन् १९८० में पूज्य गुरुदेव विवेकसागरजी का भीलवाड़ा में पदार्पण हुआ था, उनकी सौम्य शान्त मुनि मुद्रा ने मुझ बहुत प्रभावित किया; मन में भावना उठी कि यदि गुरुदेव की कृपा दृष्टि हो जाए तो मेरा यह विधवा जीवन भी वरेण्य हो सकता है। मैंने गुरुदव से निवेदन किया कि गुरुवर ! मैं आपके सान्निध्य में रहकर धर्ममार्ग पर बढ़ना चाहती हूं, आप मुझ अभागिन पर अनुकम्पा करें। गुरुदेव ने करुणापूर्वक मधुर शब्दों में कहा—मैं अकेली स्त्री को संघ में कैसे रख सकता हूं। यह आगम

विरुद्ध बात होगी। उस समय संघ में न कोई आर्यिकाजी थी न कोई ब्रह्मचारिणी बहन। मैं अभागी मन मसोस कर रह गई।

कुछ समय बाद मैं परिवार सहित श्रीमहावीरजी गई; वहां मुझे पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शनों का लाभ मिला। संघ में एक आर्यिका विपुलमतीजी और दो ब्रह्मचारिणी बहनें भी थीं। उनके वात्सल्य से मैंने घर न लौटने का संकल्प किया किन्तु पुत्र मोह से थोड़े ही समय में आना पड़ा। किंतु मुझे लगा कि कृपालु गुरुदेव की करुणामयी दृष्टि, माताजी के वात्सल्य और ब्रह्मचारिणी बहनों के सौहार्द से मेरे वैधव्य का बोझ कुछ कम हुआ है। अवसर पाकर मैं संघ में कुली में जा मिली। वहां उस समय गुरुदेवश्री के प्रथम दीक्षित मुनिशिष्य श्री विजयसागरजी अस्वस्थ थे।

उन परम आदर्श गुरुदेव ने मुझ पामर की आत्मा को प्रेरणा के स्रोतों में स्नान कराया और भवरूपी समुद्र में डूबती हुई मुझ अज्ञानी को उबारा। किन शब्दों में गाऊँ गुरुवर की महिमा के गीत। शब्द बौने हैं और वे महान्। मेरी वृत्ति/प्रवृत्ति देख कर गुरुदेव ने मुझे तीसरी प्रतिमा के व्रत दिये। कूकनवाली में वर्षायोग की समाप्ति पर पू० आर्यिका विपुलमतीजी को पिच्छिका प्रदान करते हुए मैंने सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। गुरुदेवश्री निरन्तर प्रेरित करते थे कि मैं आर्यिका के व्रत अंगीकार करूं परन्तु मैं अभागिन अस्वस्थता के कारण यह साहस नहीं जुटा पाई और अब वह प्रेरणा भी नहीं रही। फिर भी मोक्षमार्ग पर जितना चल रही हूं, उस सबका श्रेय पूज्य गुरुदेव को ही है। गुरुदेव बहुत करुणाशील थे। संसार के दुःखी प्राणियों को देखकर उनके मन में करुणा का स्रोत प्रवाहित हो जाता था, सबके कल्याण की कामना करना उनका जीवन लक्ष्य बन गया था। संसारी मोही प्राणियों को वे अपने प्रवचनों में मार्मिक उद्‌बोधन प्रदान करते थे तभी तो उनकी प्रेरणा से अनेक भव्य व्रत संयम को अंगीकार कर सके हैं।

मैं भी उन शील शिरोमणि, उत्कृष्ट सन्त, योगिराज, करुणामूर्तिके पथ की अनुगामिनी बनूं, चारित्र मार्ग पर आगे बढ़ूं; इसी उत्कृष्ट भावना के साथ पूज्यश्री के चरणों में अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूं। △

अनुपम सौम्यमुद्रा

△ कुमारी सन्तोष जैन (संघस्थ)

संसार के सभी प्राणी सुख और शांति चाहते हैं किन्तु सुखी बनने के लिए आदर्श चाहिए उन गुरुवरों का जिन्होंने सुख-शांति का अनुभव किया है।

क्षु० प्रवचनमतीजी माताजी से मैंने कुचामन में ब्रह्मचर्य व्रत लिया था परन्तु अभी भी तलाश थी संसार सागर से पार कराने वाले खेवटिया गुरुदेव की। मेरे माता-पिता की पूज्य गुरुदेव विवेकसागरजी में दृढ़ आस्था और अटूट भक्ति रही है, गुरुदेव के कुचामन वर्षायोगोंमें इन्हें उनकी वैयावृत्ति

और सेवा का अपूर्व अवसर मिलता रहा है। महाराजश्री के मध्यप्रदेश की ओर बिहार करने पर मैं भी अपने माता-पिता के साथ उनके दर्शनों को चेची जिला चित्तौड़ गई। हम लोग जब वहां पहुंचे तो उस समय रात्रि हो चुकी थी। पूज्यश्री रात्रि में स्त्रियों को अपने स्थान पर दर्शनों के लिए आने की भी अनुमति नहीं देते थे अतः मैं रात भर दर्शनों से वंचित रही। प्रातःकाल होते ही मैं दर्शनार्थ पहुंची, मुनिश्री ध्यानस्थ थे, उनकी वह मुद्रा आज भी मेरे स्मृति पटल पर अंकित है। उसी ध्यानमुद्रा ने मुझे मोक्षमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया, आशा लगाये खड़ी रही कि कब ध्यान पूर्ण हो और मैं गुरुदेव को अपनी बात कहूं। मुनिश्री का ध्यान पूर्ण हुआ—हमने नमोस्तु निवेदन किया। मुनिश्री ने सब को आशीर्वाद प्रदान किया। मुझ से ही उन्होंने प्रश्न किया—मानो वे मेरे विचारों से अवगत हों—"क्यों बाई! संसार में सुख है या नहीं?"

मुझ अबोध ने कहा—"यदि सुख होता तो आप क्यों त्यागते?"

मेरी परीक्षा लेते हुए फिर बोले—"त्याग मार्ग में बहुत दुःख हैं। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि अनेक विपत्तियां हैं। पैदल चलना पड़ता है। रूखा सूखा भोजन कभी मिल भी जाए और कभी वह भी नहीं। इसकी अपेक्षा संसार में सुख तो है ही।" मैंने अपने उत्तरों से पूज्यश्री को आश्वस्त किया कि सांसारिक सुख तो सुख ही नहीं है सुखाभास है, सच्चा सुख तो आत्मोपलब्धि में ही है। महाराजश्री मेरे विचारों से तुष्ट हुए। आहार के समय मैं चौके में आहार देने गई तो मैंने गुरुदेव से आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया और आहारदान देकर अपने मन और हाथों को पवित्र किया। महाराज श्री का भोजन नीरस होता था। वह भी विधि मिलने पर।

असाताकर्म के उदय से अस्वस्थता की दशा में मुझे अपने घर कुचामन लौटना पड़ा। सन् १९८३ का चातुर्मास संघ ने भानपुरा में किया। घर न लौटने की प्रतिज्ञापूर्वक मैं भानपुरा पहुंची। वर्षायोग के बाद संघ पिड़ावा आया। वहां गुरुदेवश्री का केशलोच हुआ, घास फूस की तरह निर्ममता से अपने केशों को उखाड़ते देख मेरा मन भी संयमीजीवन के लिए मचल उठा। मैंने गुरुदेवश्री से व्रतों की याचना की। आपने दूसरी प्रतिमा के व्रत देकर मुझे उपकृत किया। गुरुदेव शिष्यों की पात्रता को देख कर ही उन्हें व्रत-नियम आदि देते थे।

१९८४ के कुचामन वर्षायोग में मैंने पंचम प्रतिमा के व्रत स्वीकार किये और घर का त्याग किया परन्तु अफसोस है कि अल्पकाल में ही गुरुदेव की समाधि होने के कारण मैं उस छत्रछाया से वंचित हो गई। २० वर्ष की अवस्था, अज्ञानता, अपरिपक्व बुद्धि के कारण मैं गुरुचरणों में आर्यिका के व्रत धारण करने में समर्थ न हो सकी।

मेरी यही भावना है कि मैं भी चारित्र के मार्ग पर अपने गुरुदेव का पूर्ण अनुसरण करूं और अपनी स्त्री पर्याय को सार्थक करूं। पूज्य गुरुदेव का परोक्ष आशीर्वाद मुझे सदैव मिलता रहे। अद्वितीय अनुपम गुरुदेव के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन। △

अनेकान्त के उपदेष्टा

ब्र० मधुकान्ता जैन (संघस्थ)

परम पूज्य गुरुदेव १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज के सान्निध्य ने मुझे नव-जीवन प्रदान किया। उन्होंने ही मुझ अज्ञानी बाला को एकान्त पक्ष से हटा कर अनेकान्त मार्ग में लगाया।

सन् १९८३ में पूज्य गुरुदेव का वर्षायोग भानपुरा में हुआ था। पश्चात् आप संघ सहित विहार करते हुए पिड़ावा (झालावाड़) पधारे। जैसे ही शहर में आपका शुभागमन हुआ तभी से आपकी महिमा चारों ओर बखानी जाने लगी—एक कहता था मुनिश्री रात्रि में १ बजे से लेकर सुबह ७-८ बजे तक एक आसन से ध्यान में बैठते हैं, दूसरा कहता था—मुनिश्री का व्रत परिसंख्यान तप अत्यन्त उत्कृष्ट है। कोई उन्हें अनेकान्तदर्शक बताता था तो कोई अध्यात्म ज्योति। महिमा सुन कर मुझ से उनके दर्शनों का लोभ संवरण नहीं हुआ। मैं दर्शनार्थ चली गई। और जब चर्चाओं का सजीव साक्षात् स्वरूप देखा तो मस्तक अपने आप नम गया उन चरणों में।

आहार-दान का लाभ लेने के लिए जब मैं चौके में पहुंची तो महाराजश्री सबको नियम दिलवा रहे थे। मेरी भी बारी आई—मैंने कहा महाराजश्री ! मैं तो सभी नियमों को पहले से ही पाल रही हूं। गुरुदेव ने इशारे से पूछा—"विवाह किया है या नहीं ?" मेरा उत्तर था—"नहीं"। उन्होंने बाहर निकल जाने को कहा। मैं बोली—"गुरुदेव ! मैं आजीवन अविवाहित रहूंगी तो क्या जीवन भर आहारदान के लाभ से वंचित रहूंगी।" मेरी भावना को देखकर गुरुदेव ने इशारे से पूछा—"कितने वर्ष का नियम है ?" मैं बोली—"पांच वर्ष के लिए किन्तु परिणामों में जीवन भर का त्याग है।" गुरुदेव ने पुनः संकेत किया कि—गुरू की साक्षीपूर्वक आजीवन ब्रह्मचर्य अंगीकार करो।" मैंने तत्काल आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया और तभी से मेरे हितैषी गुरू पूज्य विवेकसागरजी हुए। गुरुदेव के नीरस आहार, उत्कृष्ट ध्यान, अयाचक वृत्ति और सौम्य शान्त मुद्रा ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

दोपहर में मार्मिक, सारगर्भित, वैराग्यपरिपूर्ण आध्यात्मिक प्रवचन श्रवण का लाभ मिला। प्रवचन में सयम—चारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा थी। सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। प्रवचनोपरान्त मैंने भी अपनी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान किया। संघ एक माह तक पिड़ावा में रुका। गुरुदेव के प्रवचनों का लाभ मिला। संघ का विहार हुआ तो मैं भी संघ में सम्मिलित हो गई—गुरुदेव से मैंने दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये उस समय मेरी अवस्था सोलह वर्ष की थी।

मैं एकान्त पक्ष के कारण यह मानने लगी थी कि पंचम काल में सच्चे मुनि नहीं होते किन्तु इन महान् सन्त को देख कर ऐसा प्रतिभास हुआ कि जिनवाणी मिथ्या नहीं कहती पंचमकाल के अन्त तक पवित्र मुनि धर्म बना रहेगा।

अफसोस इस बात का है कि गुरुदेव की छत्रछाया में केवल दो-ढाई वर्ष ही रहने का सौभाग्य मिला और मैं शीघ्र आर्यिकाव्रत ग्रहण न कर सकी। सीकर (राज०) में पूज्य गुरुदेव की सम्यक्

समाधि गत वर्ष हो गई। पूज्य गुरुदेव की आत्मा शीघ्रातिशीघ्र अविनाशी शाश्वत सुख को प्राप्त करे, यही भावना है। पूज्यश्री को शत-शत वन्दन। △

वात्सल्यमूर्ति गुरुदेव

△ ब्र० ज्ञानानन्द (संघस्थ)

मुझ अज्ञानी के एक मात्र अवलम्ब, परम वात्सल्यमूर्ति गुरुदेव का वियोग मेरे लिए दुःखद है। उस अनन्त उपकारी के उपकारों को मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्होंने मुझ जैसे पामर को जिसे णमोकारमंत्र का भी ज्ञान नहीं था, मोक्षमार्ग का पथिक बनाया। परन्तु खेद है कि मैं अधम उनकी विशेष सेवा-वैय्यावृत्य भी नहीं कर पाया।

मैं अल्पबुद्धि उनके गुणों का वर्णन करने में भी समर्थ नहीं हूं। उन्होंने करुणा करके मुझे दूसरी प्रतिमा के व्रत दिये; उनकी विशाल हृदयता, करुणाबुद्धि और वात्सल्यवृत्ति को मैं कभी नहीं भूल सकता। उनकी वैराग्यपूर्ण शान्त छवि मेरे मन मन्दिर में सदैव विराजमान रहे।

मैं उन उग्र तपस्वी गुरुवर के चरणों में अपनी भक्तिपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। पूज्यश्री को कोटि कोटि वन्दन, शत-शत नमन। △

परम कृपालु, श्रुतानुरागी महान् आत्मा

△ श्री माणकचन्द पाटोदी, कुचामन सिटी

परमपूज्य गुरुदेव श्री विवेकसागरजी के पुण्यदर्शनों का लाभ सर्वप्रथम मुझे संवत् २०२८ के फाल्गुन मास में मारोठ में मिला। मुनिश्री से मैंने कुचामन पधारने का निवेदन किया। मुनिश्री स्वयं कुचामन के जिनालयों के दर्शन को उत्सुक थे। नावां, मीठड़ी होकर महाराजश्री कुचामन पधारे। लगभग २८ दिन विराजे। आपकी प्रेरणा से यहां का बन्द विद्यालय चालू हुआ। तीन-चार प्रमुख सज्जनों ने—श्री किशनलालजी पहाड़िया, श्री मांगीलालजी गंगवाल एवं पिताश्री घासीलालजी पाटोदी—विद्यालय वास्ते ४०-४५ हजार रुपया इकट्ठा किया। महाराजश्री की वाणी सार्थक हुई। विद्यालय प्रांगण में महाराजश्री स्वयं पधारे, मैंने शांति-विधान की पूजा की। श्रीमान् नेमीचन्दजी पाण्ड्या (स्व०) ने विद्यालय का उद्घाटन किया। पूज्यश्री के आशीर्वाद से तब से विद्यालय सुचारू रूप से चल रहा है और फण्ड भी बढ़ कर एक लाख से अधिक हो गया है।

मैंने पूज्य गुरुदेव से सिर्फ ६ मास के लिए भगवान की सेवा-पूजा का नियम लिया था परन्तु गुरुदेव की कृपा से वह आजीवन का व्रत हो गया और बड़े उल्लास से उसका पालन हो रहा है। संवत् २०२९ का वर्षायोग कुचामन नगर में ही स्थापित हुआ। साथ में क्षुल्लक सम्भवसागरजी भी थे। गत कई वर्षों से यहां किसी भी त्यागी का चातुर्मास नहीं हुआ था अतः यह चातुर्मास सोत्साह

सम्पन्न हुआ। स्थानीय जैन वीर मण्डल के सदस्यों ने 'महामन्त्र नवकार' को अनेक तर्जों में ढाल कर बोलना तभी से प्रारम्भ किया। वर्षायोग समापन पर श्रीफलों से श्रीसिद्धचक्रमण्डल विधान किया गया। यहां के प्रसिद्ध रजत रथ में श्रीजी की सवारी निकाली गई। अधिकांश व्यय भार स्व० सेठ कन्हैयालालजी पहाड़िया मद्रास वालों ने वहन किया था।

संवत् २०३३ में पूज्य मुनिश्री का चातुर्मास फिर यहां हुआ। साथ में १०८ मुनिश्री विनय-सागरजी विद्यमान थे। ब्र० ज्ञानानन्दजी भी इसी चातुर्मास में संघ में आये। मुझे और मेरे सारे परिवार को सेवा-वैयावृत्य का सुअवसर प्राप्त हुआ। पता नहीं क्यों मेरे मन में पूज्यश्री की अटूट भक्ति उमड़ती थी, गुरुचरणों में रहने में मुझे बड़ा आनन्द आता था।

संवत् २०३९ में कुचामन शहर में आर्यिका १०५ समयमती माताजी का वर्षायोग था। मेरी पुत्री सन्तोष धार्मिक प्रवृत्ति की होने के कारण बराबर आर्यिका संघ के सान्निध्य में रही। वर्षायोग समापन के समय माताजी ने मुझे कहा—सन्तोष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले रही है। मुझ मोही को यह सुन कर वेदना तो हुई फिर भी कठोर बन कर समाज के समक्ष मैंने माताजी से निवेदन किया कि मेरा हृदय तो विषाद से रो रहा है किन्तु एक भव्यात्मा को आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने से रोक कर मैं पापार्जन नहीं करना चाहता। पर मेरी इतनी ही विनय है कि संतोष को मैं जिस संघ में चाहूंगा उसी में भेजूंगा।

लगभग चार माह बाद मैं पं० विद्याकुमारजी को लेकर अपने परिवार सहित पूज्य गुरुदेव विवेकसागरजी के संघ के दर्शनार्थ चेची जिला चित्तौड़ पहुंचा। संतोष भी साथ थी। उसके दुर्बल स्वास्थ्य के कारण मैं उसे वहां नहीं छोड़ सका। सं० २०४० का वर्षायोग पूज्य गुरुदेव ने भानपुरा में स्थापित किया तब मैं भाद्रपद मास में सपरिवार वहां पहुंचा। लगभग २२ दिन ठहरा। सन्तोष की रुचि देखकर हम उसे संघ में ही गुरुदेव की छत्रछाया में छोड़ आए, सन्तोष ने तभी से घर का त्याग कर दिया, वह संघ में ही आत्मसाधना कर रही है। दो-चार माह बाद ही उसने अपना केश लुञ्चन कर लिया और दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर लिये। महाराजश्री ने हमें भी व्रतग्रहण की प्रेरणा की। उस समय हम पति पत्नी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। संघ को अपने क्षेत्र की ओर लाने की हमारी भावना थी अतः प्रतिमा स्वरूप व्रत कुचामनवर्षायोग में ही लेने का संकल्प किया।

मैं और श्रीनथमलजी गंगवाल दोनों परिवार सहित लगभग एक माह तक संघ के साथ रहे और संघ का विहार कुचामन की ओर कराया। सं. २०४१ का तृतीय वर्षायोग कुचामन में स्थापित हुआ इस समय संघ में मुनिश्री के अतिरिक्त नवदीक्षित आर्यिका १०५ विशालमती माताजी, चार ब्रह्म-चारिणी बहनें और एक ब्रह्मचारी जी थे। दोनों परिवारों ने संघ की सेवा-वैयावृत्य करने का अपूर्व लाभ लिया। चातुर्मास के समापन पर हमने(पति-पत्नी दोनोंने)पूर्व संकल्प के अनुसार दूसरी प्रतिमाके

व्रत धारण किये और पूज्य महाराज श्री व माताजी को प्रिच्छिका अर्पित की।

वर्षायोग के बाद संघ विहार कर कूकनवाली आ गया। पूज्य महाराज श्री की आँखों के उपचार हेतु लगभग तीन माह तक वहीं संघ का वास्तव्य रहा। इस अवधि में एक आर्यिका दीक्षा (पू० विज्ञानमती माताजी) भी हुई। कूकनवाली में भी मुझे सेवा भक्ति का अवसर मिलता रहा क्योंकि यह कुचामन के निकट ही है।

सं. २०४२ का वर्षायोग मारोठ में हुआ। यह स्थान भी निकट होने के कारण मेरा आना-जाना बराबर बना रहा। यहाँ भी मंगसर बदी १२ को एक आर्यिका दीक्षा (पू० विद्युत्मतीजी) सम्पन्न हुई। चारित्रशुद्धि मण्डल विधान में मैं सपरिवार सम्मिलित हुआ। मेरी अन्तरंग हार्दिक भक्ति पूज्य गुरुदेव के प्रति उमड़ी पड़ती थी, गुरुदेव भी मुझ पर पूर्ण विश्वास करते थे। चातुर्मास के बाद गुरुदेव श्री संघ सहित कुचामन पधारे। यहाँ से उनका विहार लाडनूं, सुजानगढ़ की ओर हुआ। मैं और श्री फूलचन्दजी झाँझरी मय परिवार संघ के साथ रहे। सुजानगढ़ पहुँचने पर हम कुचामन लौट आये। संघ करीब २२ दिन सुजानगढ़ रहा। इस अवधि में महाराज श्री के ६-७ उपवास हो गये। वहाँ से विहार कर संघ सीकर आया। वहाँ महाराजश्री गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये, बुखार, जुकाम ने उनकी देह को जकड़ लिया। छाती में कफ का जमाव हो गया। २६-२-८६ को दिन में बारह बजे मुझे सूचना मिली, मैं अविलम्ब १२-१५ बजे की बस पकड़ कर सीकर पहुंचा। महाराजश्री की स्थिति चिन्ताजनक थी, अपनी शक्ति भर उपचार, सेवा-वैयावृत्य की। स्थिति गिरती गई और इनकी पुण्यात्मा ३ मार्च की रात्रि १० बजे सम्यक् समाधि पूर्वक इस देह-पिञ्जर को छोड़कर स्वर्ग के लिये प्रयाण कर गई। अन्तिम क्षण तक महाराजश्री को पूर्ण चेतना थी।

महाराजश्री अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधु थे। व्यर्थ चर्चा आपको कतई पसन्द नहीं थी। ज्ञान के प्रचार प्रसार में आपकी रुचि अप्रतिम थी। अपने १७ वर्षों के मुनिजीवन में आपने बीस शास्त्रों का निःशुल्क वितरण करवाया। कुचामन में श्री आदिनाथ जैन शास्त्र भण्डार की स्थापना हुई जहाँ से ये प्रकाशित शास्त्र डाक व्यय भेज कर मंगाये जा सकते हैं। इस भण्डार की व्यवस्था का भार मेरे ही पास है।

मेरी तो यही कामना है कि पूज्य महाराजश्री यथाशीघ्र शिव वनिता को वरण करें और मुझे भी ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि मैं भी उनके बताए मार्ग पर अग्रसर हो सकूँ। △

श्रीगुरवे नमः

△ श्रीमान् पूनमचन्द गंगवाल, झरिया (बिहार)

समवसरण में विराजमान तीर्थंकर अरिहन्त देव और वेदीजी में प्रतिष्ठापित श्री जिनबिम्ब जिसप्रकार अपनी परम शांत मुद्रा से भव्य जीवों को आत्मस्थ होने का सन्देश देते हैं उसी प्रकार

दिगम्बर जैन सन्त 'अवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं' बिना बोले ही अपनी परम वीतराग मुद्रा से दर्शनार्थी को संसार की आसारता और क्षणभंगुरता से आसक्ति छोड़ भगवान जिनेन्द्र प्ररूपित मोक्षमार्ग पर चलने को उत्साहित करते हैं। भगवान महावीर की श्रमण परम्परा वर्तमान के विषम वातावरण में भी सतत प्रवहमान है। धन्य है उन महान् आत्माओं को जो चारित्र के रथ पर आरूढ़ हो शिव रमणी को वरण करने चले हैं। मैं सदैव उनके चरणों में नत मस्तक हूँ।

ऐसी ही एक वीर आत्मा कुछ समय पूर्व तक हमारे बीच थी-जिसे हम पूज्य मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज के नाम से पहचानते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन हम सबके लिए साधना का उत्कृष्ट निदर्शन है। भौतिक व्यापार और अध्यात्मसाधना दोनों में यह आत्मा अग्रणी रही। आंतरिक वैराग्य से दीप्त उनका मुखमण्डल बड़ा प्रभावशाली था। वे 'कथनी' से कम बल्कि अपनी करनी से अधिक उपदेश देते थे। आचरण पर बहुत बल देते थे। अपनी पर्याय से उन्होंने अपने नाम 'विवेकसागर' को पूर्ण सार्थक किया।

समभावी, नियानुरागी, चारित्रनिष्ठ उस महान् आत्मा के प्रति मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। △

गुरु दीवो गुरु देवता

△ श्रीमान् उम्मेदमल पाण्ड्या, दिल्ली

"गुरु दीवो गुरु देवता, गुरु बिण घोर अंधार"; जैनशासन में गुरु पद का विशिष्ट स्थान है। देव-शास्त्र-गुरु की त्रयी में रहा गुरु पद दोनों तत्त्वों को प्रकाशित करता है। देव और शास्त्र की वास्तविक पहिचान गुरु ही कराते हैं। 'तित्थयरसमो सूरि' इत्यादि उक्तियों से गुरु तत्त्व की गरिमा का बोध होता है। तीर्थंकर के अभाव में शासन की धुरा को वहन करने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ही होते हैं।

अज्ञान रूपी अन्धकार में भटकती हुई आत्मा को सम्यग्ज्ञान की मशाल देने वाले गुरु का उपकार कैसे भूला जा सकता है! गुरु तो एक सफल व कुशल नाविक की भांति हैं जो हमारी जीवन-नैया को भवोदधि से पार पहुंचाते हैं।

स्व० साधु मुनिश्री विवेकसागरजी भी समृद्ध श्रमण परम्परा के प्रकाशमान नक्षत्र थे। अपनी कठोर संयम साधना, उत्कृष्ट विवेक और ज्ञान प्रसार में अपनी विशिष्ट रुचि के कारण वे जैन जगत् में कभी विस्मृत नहीं होंगे। उनका शरीर दुर्बल अवश्य था परन्तु उसमें एक बलिष्ठ आत्मा का निवास था। सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनके व्यक्तित्व और चरित्र से अप्रभावित रह ही नहीं पाता था। फलतः कुछ-न-कुछ नियम ग्रहण करने को उत्साहित होता था। ऐसे स्व-पर उपकारी मुनिश्री की सीकर (राज०) में समता भाव पूर्वक समाधि हुई। मैं महाराजश्री के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ। △

गुरुवर को श्रद्धाञ्जलि अर्पण

△ आर्यिका विशालमती

परम सन्त विवेकसागर गुरुवर को श्रद्धाञ्जलि अर्पण ।
सतत ध्यान अध्ययन में डूबे, आप्त वाणी का करते मन्थन,
क्रोधादि भावों पर जय पाने को सदा बढ़े थे जिनके चरण ।
अर्ध-निशा में आत्मध्यान से, खोज रहे थे आतम धन,
परम सन्त विवेकसागर मुनिवर को श्रद्धांजलि अर्पण ।।१।।
कल्याणमयी वाणी सुन कर, टूटे मम वासनाओं के बन्धन,
चाय जैसे व्यसन पर पाते, तब चरणों में जय जन जन ।
अम्बर सम बन गये दिगम्बर, छोड़ दिया सब कुटुम्ब धन,
परम सन्त विवेकसागर गुरुवर को श्रद्धांजलि अर्पण ।।२।।
आर्ष मार्ग के आप अनुसर्ता निर्भीक साधक थे अनुपम,
व्रत संयम के दृढ़ परिपालक आदर्श जीवन था अत्युत्तम ।
'ज्ञानसिन्धु' के द्वितीय शिष्य 'विवेकसिन्धु' को मेरा वन्दन,
परम सन्त विवेकसागर गुरुवर को श्रद्धांजलि अर्पण ।।३।।
निस्पृही बन तुमने श्रुत सेवा का किया था उत्तम काज,
आज आपकी महिमा गाता, हर पल हर क्षण जैन समाज ।
मुझ तुच्छ को कर 'विशाल' अनुग्रह किया मुझ पर उत्तम,
परम सन्त विवेकसागर गुरुवर को श्रद्धांजलि अर्पण ।।४।।

आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज : एक विशिष्ट व्यक्तित्व

△ पं० विद्याकुमार सेठी, न्याय-काव्यतीर्थ, कुचामन सिटी

परम पूज्य १०८ मुनिश्री विवेकसागरजी के सम्पर्क सान्निध्य का अवसर मुझे कई बार मिला। उनका मुझ पर बड़ा अनुग्रह था। वे विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न महापुरुष थे, परम करुणाशील थे। मनुष्य किस प्रकार अपनी कुटेवों से छूट कर संयम के मार्ग पर आवें इसके लिए वे सदैव सचिन्त रहते थे और प्रेरणा दिया करते थे। चाय आज का एक लोकप्रिय पेय है। इसको पीने वाले इसके इतने आदी हो जाते हैं कि वे इसके बिना व्रत, उपवास करने को सोच भी नहीं सकते। पूज्य महाराज-श्री ने शरीर, धन एवं धर्म की हानि की रक्षा का विचार करके हजारों बन्धुओं से चाय-पान का त्याग करा कर उनके शरीर, धन और धर्म की रक्षा की है। इस कारण वे **'चाय छुड़ाने वाले महाराज'** के नाम से ही ख्यात हुए थे। आपके वात्सल्यपूर्ण सदुपदेश से प्रेरित होकर दिन भर में ३०-३५ प्याले

चाय पीने वालों ने भी आजीवन इसका त्याग कर अपने आप को सुखी बनाया है।

मुनिश्री धर्मकार्यों में आडम्बर का निषेध करते थे। आप अपने प्रवचनों में कहते थे कि पर्वादि विशेष अवसरों पर जो स्त्री पुरुष उपवासादिक करके भी प्रदर्शन की मुख्यता से अपने शरीर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करते हैं वे वास्तविक आत्मदर्शन से वंचित रह जाते हैं। उनका कहना था कि जिनालय परिसर में व्यर्थ के वाद-विवाद, विकथा, विसंवाद आदि करके क्षेत्र को दूषित नहीं करना चाहिए। महाराजश्री स्वयं भी कभी किसी प्रकार की अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करते थे। या तो स्वाध्याय या फिर मौन पूर्वक उसका मनन। कुन्दकुन्दाचार्य ने जो 'ध्यान और अध्ययन' को ही मुनियों का मुख्यधर्म बताया है उसका आप पूर्णतः पालन करते थे।

आपके ध्यान की एकाग्रता तो सबके लिए विस्मयकारी थी। वर्षों के अभ्यास से आप ७-७, ८-८ घण्टे एकासन से स्थिर होकर ध्यान-सामायिक में लीन रहते थे। मध्यरात्रि से प्रातःकाल तक आपका यह क्रम चलता रहता था। पूछने पर कहते थे साधुओं के कमाई का अवसर तो रात्रि में ध्यान के समय ही होता है। संघस्थ सभी त्यागियों को आप निरन्तर ध्यान के अभ्यास के लिए प्रेरित करते थे।

आचारसार आदि ग्रन्थों के 'णिद्दं ण बहुमण्णेज्ज' कथन को मानकर आपने निद्रा को बहुमान नहीं दिया। आपको आगम वचन सदैव याद रहते थे कि करोड़ों रोग होने पर भी साधु को रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में निद्रालीन नहीं होना चाहिए क्योंकि निद्रा आत्मा को चेतना हीन अज्ञानमय बनादेती है और शुभ क्रियाओं से वंचित कर प्रमादी बना देती है। दिन में आप कभी नहीं सोते थे। बस रात्रि १० बजेसे १-२ बजे के बीच ही थोड़ी नींद लेते थे; इस प्रकार आप निद्राजयी थे।

'नहि स्वाध्यायात् परं तपः' सूक्ति में आपकी दृढ़ आस्था थी। स्वयं भी घण्टों स्वाध्याय करते थे और दूसरों को भी इसकी प्रेरणा देते थे। इसी आवश्यकता के लिये आपने अपने जीवन काल में ग्रंथ प्रकाशन की प्रेरणा देकर बीसियों ग्रन्थ प्रकाशित करवाये और उनका निःशुल्क वितरण करवाया। आपकी यह श्रुत सेवा अपूर्व एवं अद्वितीय है।

रसपरित्याग, ध्यान, स्वाध्याय आदि तपों के साथ-साथ आप व्रत परिसंख्यान तप पर विशेष जोर देते थे। आप सम्पूर्ण साधु एवं श्रावक समाज में 'कड़ी आखड़ी' लेने वाले के रूप में जाने जाते थे। आपके अटपटे नियमों से कभी-कभी आपको ३-३, ४-४ दिन के उपवास भी हो जाते तो भी आपकी चर्या में कभी शिथिलता नहीं देखी जाती थी। अपूर्व तप था आपका। श्रावक गण आपके 'उपवासों' के सम्बन्ध में चर्चा करते तो आप उन्हें चुप कराते हुए कहते—"कौन कहता है कि मैं भूखा हूं। मैं स्वाध्याय रूपी भोजन अभी कर रहा हूं और ध्यान रूपी भोजन सामायिक में करूंगा।" विहार काल में भी आपके उपवास हो जाते थे फिर भी आप षड् आवश्यक क्रियाओं को पालने में तत्पर रहते थे। श्रावकों को भी वे भोजनवेला में छोटे-छोटे नियम लेने की प्रेरणा किया करते थे। जैसे आज

मुझे कोई भोजन के लिए कहेगा तो भोजन करूंगा, एक बार परोसा हुआ भोजन ही ग्रहण करूंगा, भोजन में अमुक वस्तु मिलेगी तो भोजन करूंगा, आदि आदि।

सभी दिगम्बर जैन साधु निर्ग्रंथता का पालन करते हुए कभी किसी से किसी तरह की याचना नहीं करते। पूज्यश्री की यह सिंहवृत्ति भी अनुकरणीय ही होती थी। आहार के समय "हूं, हां, चेहरे की विकृति, भ्रकुटी आदि से संकेत करना" जैसी क्रियाएँ आप कदापि नहीं करते थे। शायद पाठक यह सन्देह करें कि महाराजश्री से प्रेरणा पाकर समाज ने इतने ग्रन्थ छपवाये तब तो महाराजश्री को याचना करनी ही पड़ी होगी परन्तु यह विलक्षण बात है कि बिना याचना और दीनता के ही उनकी प्रेरणा क्रियान्वित हो जाती थी। आप प्रायः कहते थे कि समाज का द्रव्य है, समाज ही छपवाती है और वितरण करती है, मैं तो मात्र प्रेरणा देने वाला हूं। आपकी यह निस्पृहता श्लाघनीय थी।

पूज्यश्री में वात्सल्य भाव भी कूट-कूट कर भरा था। प्रत्येक जिज्ञासु को बड़े मधुर शब्दों में समझाते थे। संघ में कोई भी अस्वस्थ हो जाता तो बड़े वात्सल्य से उसे धैर्य बँधाते और रोग परिषह जीतने की कला समझाते। संघस्थ त्यागी से कोई भूल हो जाती तो भी उसे वात्सल्य परिपूर्ण शब्दों में ही सम्बोधित करते। संघ संचालन की कला में भी आप कुशल थे।

महामन्त्र नवकार पर आपका अटल श्रद्धान था। आप प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में इस मन्त्र-राज का स्मरण करते थे। कुचामन सिटी के श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल ने आपकी प्रेरणा से इस महामन्त्र का कई धुनों में कीर्तन, पाठ करना प्रारम्भ किया था। उनका यह क्रम आज भी जारी है। आप ने स्वयं अन्तिम चातुर्मास मारोठ में सव्वा लक्ष जाप्य महामन्त्र का किया था।

आप आर्षमार्ग के दृढ़ प्रतिपालक थे। सूर्योदय से पूर्व या सूर्यास्त के बाद आपने कभी विहार नहीं किया। विहार में भी आप न अधिक जल्दी जल्दी और न अधिक धीमी चाल से गमन करते। ईर्यापथशुद्धि का आपको विशेष ध्यान रहता था। ब्रह्मचर्य महाव्रत को पूर्णतः निरतिचार पालने का प्रयत्न करते थे। स्त्रियों की सभा में उपदेश देने भी नहीं जाते। बिना पुरुष के चौके में आहार हेतु नहीं जाते थे। अकेली महिला को द्वारापेक्षण करते देख दूर से ही लौट जाते थे।

पूज्यश्री में अनेक गुण थे, कहां तक उनका वर्णन करूं, लेख का कलेवर बढ़ने के भय से अपनी लेखनी को विराम देता हूं। इन्हीं गुणों के कारण उनका विशिष्ट व्यक्तित्व अतिशय प्रभाव-शाली एवं मोहक था। एक बार सम्पर्क में आने वाला बार बार आपके सान्निध्य के लिए लालायित रहता था। अब वह महान् आत्मा हमारे बीच नहीं रही—

उस पुनीत आत्मा को वन्दन, नमन, अभिनन्दन ! △

दुर्लभ सन्त समागम

△ मुनि श्री १०८ विरागसागरजी महाराज (आचार्य श्री विमलसागरजी के शिष्य)

आर्ष मार्ग में साधना की प्रधानता है। ज्ञान से साधना को महान् बताया गया है। ज्ञान

आदरणीय है तो साधना शिरोधार्य है। चारित्रहीन महा विद्वान पंडित की अपेक्षा सामान्य साधक श्रेष्ठ है। सच्ची साधना कर्मदल निर्मूलन करने में सक्षम है किन्तु कोरा ज्ञान क्लेश का ही कारण है। चारित्रहीन पंडितवर्ग का उपदेश कार्यकारी नहीं। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आज साधु-वर्ग दृढ़ता से चारित्र का पालन करते हुए ज्ञान और तप का प्रभाव दर्शा रहे हैं। साधुओं द्वारा अहर्निश धर्म प्रभावना का ही यह परिणाम है कि आज इस भीषण पंचम काल में त्यागी व्रती साधु संघों के दर्शन हो रहे हैं। उनकी निर्दोष चर्या देखकर श्रावकों में धर्ममार्ग के प्रति गहरी आस्था जाग्रत होती जा रही है। अन्यथा पंचमकाल में साधना मार्ग पर चलने वाले साधुओं के दर्शन भी अति दुर्लभ हैं। कहा भी है—

काले कलौ चले चित्ते, देहे चान्नादिकीटके।
एतद् चिच्चमत्कारः जिन रूप धरा नराः ॥

कलिकाल में चित्त की चंचलता को रोकना आसान नहीं। अधिकांश व्यक्ति भौतिकता की ओर अग्रसर हैं। नित नये आविष्कारों से प्रभावित व्यक्ति चित्त चलायमान कर रहे हैं। फिर भी, ऐसी विकट स्थिति में जिन्होंने अपने मन को वहां से हटा लिया है, सारी जिज्ञासाओं को रोक दिया है, ऐसे वे महामुनि धन्य हैं।

आज प्राणी अन्न का कीड़ा बना हुआ है। दिन भर चर्वण करने पर भी क्षुधा शांत नहीं होती। वह दिन-रात भक्ष्याभक्ष्य का विवेक भी भूलता जा रहा है। एक दिन भी भोजन प्राप्त न हो तो शरीर शिथिल पड़ जाता है। दिमाग कार्य नहीं करता। क्षुधा सहने की शक्ति किंचित् भी नहीं रही। प्राचीनकाल में छप्पन प्रकार के व्यजन थे, आज छप्पन हजार प्रकार के व्यंजन हैं फिर भी तृप्ति नहीं है। मैं उन महापुरुषों को धन्य मानता हूं, जिन्होंने अपनी रसनेन्द्रिय को वश कर लिया है। दिन में १ बार निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं। वे खाने के लिये नहीं जाते अपितु जीने के लिए खाते हैं, अर्थात् देह से निरपेक्ष हो चुके हैं। संयम साधना ही मात्र लक्ष्य शेष है।

उत्तम साधकों की पंक्ति में पू० तपोमूर्ति श्री १०८ विवेकसागरजी महाराज का नाम स्मरणीय है। उनसे सम्बन्धित अनेक संस्मरण जब स्मृति में उभरते हैं तब मैं सोचता हूं कि उन्होंने सचमुच जैन धर्म की महान् प्रभावना की। कुचामन में उनका साहचर्य मिलने पर उनकी समस्त साधना क्रियायें मुझे अत्यन्त निकट से देखने को मिलीं। तब मैंने अनुभव किया कि आप निर्मल भाव से ज्ञान ध्यान में सदैव तत्पर रहते थे। नसियांजी में आप रुके थे तब मैंने पू० श्री अजितसागरजी महाराज के साथ जाकर आपसे निवेदन किया कि महाराज एक ही शहर में साधु पृथक् पृथक् दो स्थानों में रुकें इसकी अपेक्षा एक जगह रुकना ही श्रेयस्कर है तथा परस्पर विचार विनिमय स्वाध्याय आदि में भी सुविधा रहती है। महाराज ने मेरा अनुरोध तुरन्त स्वीकार कर लिया व वे २० पंथी कोठी में आ गये। साथ रहने से उनकी दृढ़ चर्या, स्वाध्याय-सामायिक आदि समस्त क्रियायें अत्यन्त निकट से

देखने को मिली। तब मैंने पाया कि वे रात्रि २-३ बजे से प्रातः ७-८ बजे तक एकासन से ध्यान मग्न रहा करते थे। व्रतपरिसंख्यान भी उनका असाधारण होता। प्रायः बड़ी विचित्र एवं कठिन प्रतिज्ञा ले लेते थे जो ४-५ दिनों तक भी नहीं मिलती थी। ऐसी स्थिति में भी आप शांतचित्त से ध्यानमग्न रहा करते थे।

विहार के समय उन्होंने मुझे एक शास्त्र दिया। आर्यिका श्री विशालमतीजी, आर्यिका श्री विज्ञानमतीजी तथा विशाल जन समुदाय नगर सीमा तक पहुंचाने भी आया। मारोठ होकर मैं लूणवां पहुंचा। श्री विवेकसागरजी म० भी कुचामन से लाडनूं सुजानगढ़ होकर सीकर पहुंचे। वहां से उनकी अस्वस्थता का समाचार मेरे पास पहुंचा। एक बार श्री गौरीलालजी पांचवा वाले स्वयं समाचार लेकर आये कि समाधि का समय निकट आ पहुंचा है और वैयावृत्ति समाधि कराने योग्य कोई साधु भी निकट नहीं है। मुझे बड़ा विस्मय हुआ। स्थान ७० किलोमीटर दूर था। विचार किया कि जब हम तिर्यंचों की भी समाधि में नहीं चुकते तो फिर ये मुनिराज तो हमारे आदरणीय हैं। ऐसा विचार कर मैंने कहा कि "हम शीघ्र पहुंचने का प्रयत्न करेंगे। आप १-२ दिन में उत्तर दें" किन्तु कर्मयोग से दूसरे ही दिन उनकी समाधि का समाचार प्राप्त हुआ। सारे दिन मन में विकल्प सा चलता रहा कि अहो। मैं साधु की समाधि भी नहीं करा सका। और न ही उनकी वैयावृत्ति ही कर सका। समाधि के बाद मैंने जाना कि उनका हृदय कितना विशाल और निर्मल था। उन्होंने समाधि जैसे महान् कार्य के लिए मुझे स्मरण किया। उनकी आत्मा निश्चय ही पुनः उत्तम नर भव पाकर आत्मकल्याण के मार्ग में अग्रसर हो ऐसी भावना है। हम सभी लोग भी उत्तम रत्नत्रय भावना का चिन्तवन करते हुये उनकी जैसी ही समाधि को पावें ऐसी भावना है। △

प्रातःस्मरणीय पूज्य महाराजश्री

△ मुनि श्री अध्यात्म सागर

जिनवर-कथित शास्त्रों में लिखा है कि देव-गुरु शास्त्र के निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। गुरु की भक्ति इसीलिये की जाती है कि वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये निमित्त बने, पुण्य बंध का उद्देश्य रखकर भक्ति नहीं की जाती है। पुण्यबन्ध हुये बिना न रहेगा, लेकिन पुण्यबन्ध के उद्देश्य से गुरु भक्ति करना जैन सिद्धान्त के विपरीत है। उस भक्ति में भी हर गुरु की भक्ति सम्यग्दर्शन के लिये निमित्त नहीं बनती है। वर्तमान समाज में एक मत वाले मात्र भाव शुद्धि युक्त गुरु को सद्गुरु मानते हैं। दूसरे मत वाले आचार शुद्धि वाले को सद्गुरु मानते हैं, कोरे व्यवहार चारित्र से युक्त गुरु की भक्ति सम्यग्दर्शन के लिये कारण नहीं बनेगी और सम्यग्दर्शन युक्त, किन्तु चारित्र रहित अविरति भी सद्गुरु नहीं है, क्योंकि मात्र सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है। गुरु तो चारित्र से सुशोभित होना चाहिये। चारित्र का अर्थ बहिरंग चारित्र मात्र नहीं, इसलिये नहीं कि सम्यग्दर्शन रहित चारित्र मिथ्याचारित्र है। मिथ्यादृष्टि का चारित्र मिथ्या ही होगा, सम्यग्दृष्टि का चारित्र सम्यक्चारित्र है, इसलिये गुरु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होना चाहिये। रत्नत्रय से युक्त मोक्षमार्गी सद्गुरु है,

ऐसे सद्‌गुरु की भक्ति सम्यग्दर्शन के लिये निमित्त बनती है। पंचमकाल में इस प्रकार के रत्नत्रय स्वरूप सद्‌गुरु विरले ही देखे जाते हैं। ऐसे एक सद्‌गुरु के प्रथम बार मैंने नावां शहर में दर्शन किये थे। मेरे द्वारा दृष्ट वे गुरु समन्त भद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ में गुरु के स्वरूप का जैसा वर्णन किया है, वैसे ही थे। प्रथम तो गुरु विषयों की आशा से रहित होना चाहिये। विषय का अर्थ पांचों इन्द्रियों के माध्यम से भोगने की आशा है। इतना मात्र नहीं, उसे सम्पूर्ण आरम्भ रहित, अपने लिये अथवा दूसरों के लिये कृत कारित-अनुमोदना से भी आरम्भ का विचार नहीं करना चाहिये। बहुत से लोग घर का आरम्भ तो बहुत जल्दी छोड़ देते हैं, लेकिन मन में नाना प्रकार के आरम्भ का विचार करते रहते हैं।

मिथ्यात्व त्याग के बिना न तो आरम्भ का त्याग होता है, न परिग्रह का त्याग। मिथ्यात्व को नष्ट करने के लिये घोर तप करने की आवश्यकता नहीं, लेकिन सच्चे देव गुरु-शास्त्र में भक्ति की परम आवश्यकता है। मिथ्यादृष्टि भी शास्त्र के माध्यम से, उपदेश के माध्यम से सच्चे गुरुको पहचान सकता है। मैंने जो उस दिन दर्शन किये थे उस गुरु में न आरम्भ था न परिग्रह। पूर्वाचार्य प्रणीत शास्त्रों को धर्म प्रभावनार्थ तीर्थ रक्षणार्थ छपवाने की प्रेरणा देने में मुनि को दोष नहीं लगता है। यह काम गुरुदेव करते थे। उनकी प्रेरणा से प्रकाशित ग्रन्थ अभी भी हमारे भ्रम का नाश करने में बहुत उपयोगी हो रहे हैं। पूज्यपाद, पुष्पदंत, भूतबलि, वीरसेन, समन्तभद्र, कुंदकुंदादि पूर्वाचार्य भी शास्त्र लिखते थे, प्रचार करते थे।

जिनलिंग रूप महाव्रत को धारण करने मात्र से कल्याण नहीं, महाव्रतों को पालन करते हुए सतत् ध्यान और अध्ययन में लीन रहना चाहिये। मैंने जिन्हें देखा था वे हमेशा चिन्तन, ध्यान और अध्ययन में लीन रहते थे। कोई भी अमीर हो या गरीब, ज्ञानी हो या अज्ञानी सबको समान रूप से आशीर्वाद देकर अपने चिन्तन ध्यान में लीन रहते थे। उपकारियों से राग नहीं, अपकारियों से द्वेष नहीं। परिषह सहन करने में वज्र के समान कठोर। शिष्यों के प्रति कुसुम के समान कोमल प्रवृत्ति जितेन्द्रियता, सहिष्णुता, समानता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे। कोई प्रशंसा करे या निन्दा, सबके प्रति समान दृष्टि रखते थे। मौन मुद्रा में भी वात्सल्य की झलक, पृथ्वी के समान क्षमाशीलता। किसी ने कहा भी कि **"क्षमारूपो तपस्विनाम्"**। सद्‌गुरु का रूप शरीर नहीं, क्षमता भाव ही सद्‌गुरु का रूप है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि **अवाग्विसर्गवपुषानिरूपयंतम्**। मौन प्रशान्त मुद्रा में भी सर्वांग से मोक्षमार्ग का संकेत करने वाले सद्‌गुरु हैं। श्री वीरसेन आचार्य ने षट्खण्डागम ग्रन्थ में लिखा है कि साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह वृत्ति वाले, सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान शीतल, सर्प के समान अनियत-वासी, रत्न के समान कांतिवान् तथा समुद्र के समान गम्भीर होना चाहिये। ये सब गुण मैंने पूज्य श्री में देखे। अट्ठाईस मूलगुणों को निरतिचार पालन करने में वे बड़ी जागरूकता रखते थे। सतत् आत्मध्यान में लीन रहने वाले साधु कभी-कभी पृथ्वी पर जन्म लेते हैं।

ऐसे सद्गुरु के दर्शन वन्दन भक्ति, सम्यग्दर्शन के लिये निमित्त बनते हैं, उपादान में शुद्धता हो तो। ऐसे सद्गुरुओं के प्रवचन, उनके लिखे हुए शास्त्र सुनना-पढ़ना चाहिये। वर्तमान देश काल परिस्थिति के अनुसार जो कुछ भी मुनिमार्ग या मोक्षमार्ग चल रहा है उसको विशेष रूप से आगे बढ़ाने के लिये, सुधारने के लिये प्रयत्न होना चाहिये। शिथिलाचार को नष्ट करने का प्रयत्न होना चाहिये। शिथिलाचार के नाम से साधुओं को ही नष्ट कर देने में क्या पुरुषार्थ है ?

मात्र दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि वन्दनीय पूजनीय हैं या अन्य लिंगी भी ? इस शंका को आचार्य कुंदकुंद ने दर्शनपाहुड़ में समाधान किया कि कौन २ से लिंग सम्यग्दर्शन के लिये निमित्त बनते हैं—

एगं जिणस्सरूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणंतु ।
अवरठियाए तइयं चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि ।।१८।।

एक जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक रूप दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिंग, तीसरा आर्यिका रूप स्त्रीलिंग ये तीन लिंग श्रद्धान, विनय योग्य हैं तथा चौथा और कोई लिंग श्रद्धान योग्य नहीं।

वर्तमान में असली जिनवाणी और पूज्य गुरुओं का तिरस्कार-अविनय-निन्दा बहुत हो रही है, ये ठीक नहीं है, ऐसा नहीं होना चाहिये।

स्व० पूज्य मुनिश्री को सिद्ध भक्ति सहित विनय पूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। △

अनुशासनप्रिय आचार्यकल्पश्री

△ मुनि १०८ श्री समकितसागरजी महाराज (आचार्य धर्मसागरजी के शिष्य)

सन् १९८४ के चातुर्मास के श्रावण एवं भाद्रपद मास में आ. कल्पश्री विवेकसागरजी महाराज के संघ में मुझे ब्रह्मचारी के रूप में रहने का अवसर मिला था। उन दिनों पूज्यश्री में विवेक की खरी कसौटी देखने को मिली। अनुशासन पद-पद पर देखने में आया। संघ के सभी सदस्य भी उनके अनु-शासन पूर्ण आदेश का सहर्ष पालन करते थे। अनुशासन जीवन में आगे बढ़ने का मूलमंत्र है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की प्रेरणा से श्री दिगम्बर जैन मंदिरों एवं पुस्तकालयों आदि को अनेक शास्त्र पठनार्थ निःशुल्क प्रदान किये गये थे। फलटन के जिनभक्त श्रावकों ने इस आदेश का पूर्णतः निर्वाह किया था। उसी प्रकार आ. क. विवेकसागरजी म. ने अपनी मुनिपर्याय में प्रत्येक चातुर्मास के समय श्रावकों को प्रेरणा देकर एक या अधिक धर्मग्रन्थ प्रकाशित कर निःशुल्क वितरित करवाये। ज्ञान के प्रचार का यह महान कार्य आपने किया।

आप ध्यान करने में विशेष तपस्वी थे। रात्रिको १-२ बजे के लगभग उठकर ७-७।। बजे सुबह तक एक आसन से आपकी सामायिक चलती रहती। जब हमने पूछा—"इतने समय तक कैसे मन

लगता है, महाराज !" तो बोले—"अरे भाई ! हम दश धर्म और बारह भावनाओं का खूब मन्थन करते हैं, तब अन्य चिन्ताओं को भूलने के साथ आत्मचिन्तन में अग्रसर होने की कोशिश करते हैं।"

ऐसी परम पूज्य स्वर्गीय आत्मा के प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। △

विनीत श्रद्धांजलि

△ बाबूलाल बाकलीवाल, वास्ते श्री दि० जैन समाज, माधोराजपुरा (जयपुर)

विद्वत्वर, तपसूरि, चरित-सम्यक् के धारी ।
वेश दिगम्बर धारि, कर्म काटे तप-धारे ॥
कठिन तपस्या लीन, आत्म रत रहे निरन्तर ।
सार तत्व पहिचान, मुक्ति पथ भये अग्रसर ॥
गरिमा–गुण–आगार, श्री विवेकसागर मुनि ।
रज–पद, मस्तक धार, श्रद्धांजलि अर्पित तुम्हें ॥

—भँवर सेठी "भ्रमर"

तपोमूर्ति, प्रकाण्ड विद्वान् एवं सबल और निर्मल चारित्र के धनी मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज ने सं० २०२७ में कस्बा माधोराजपुरा (त० फागी जिला जयपुर) में चातुर्मास किया। मुनि श्री के अध्यात्म ज्ञान से युक्त प्रभावी प्रवचनों से क्षेत्रके नर-नारियों में अध्यात्म के प्रति प्रबल उत्कंठा और जिज्ञासा का प्रादुर्भाव हुआ। केवल जैन ही नहीं अपितु अजैन भी सैंकड़ों नर–नारी महाराजश्री के नित्य प्रवचन का लाभ उठाने लगे। जो एक बार प्रवचन सुनने आया वह प्रतिदिन आकर उनके मुखारविन्द से तत्वचर्चा सुनने का लाभ संवरण न कर सका।

महाराज के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक जैन व अजैन लोगों ने चाय, पान, बोड़ी, सिगरेट, मद्य, मांस आदि व्यसनों का परित्याग किया, जिसे आज भी अधिकांश लोग बखूबी निभा रहे हैं। महाराजश्री आहार ही उस घर में लेते थे कि जब घर के सभी जन अथवा आहार देने वाले व्यक्ति चाय, पान, बीड़ी, सिगरेट आदि दुर्व्यसनों का त्याग करे। क्षेत्र के अजैन लोगों में महाराजश्री चाय-पान छुड़ाने वाले महाराज के नाम से ही विख्यात हो गये थे। एक बार टोंक नगर से आये एक मुसलमान बन्धु ने महाराज का प्रवचन सुना और प्रभावित होकर स्वेच्छा से महाराज के समक्ष मद्य मांस के परित्याग का दृढ़ संकल्प किया।

महाराजश्री के चातुर्मास से स्थानीय समाज को अनेक प्रकार से धर्म लाभ तो हुआ ही, किन्तु कई सामाजिक सुधार भी हुऐ। यहां के जैन समाज में आपस में, बिखराव था, किन्तु महाराजश्री की

प्रेरणा से सम्पूर्ण समाज एक सूत्र में बन्ध गया, और स्थानीय शान्तिसागर दिगम्बर जैन पाठशाला जो सामाजिक बिखराव के कारण काफी समय से निष्क्रिय अवस्था में थी, पुनः सक्रिय हुई। जैन समाज में जैन विधि से विवाह संस्कार आदि करने की पद्धति प्रचलित हुई और समाज के सभी लोग विभिन्न लोक-संस्कारों में जैन विधि का पालन करने लगे।

महाराजश्री जहाँ आत्मकल्याण के मार्ग पर स्वयं व्यवस्थित और सुदृढ़ थे, वहाँ सभी भव्य जीवों को आत्म कल्याण का उपदेश नित्य देते थे। स्वाध्याय में उन्हें स्वयं काफी रुचि थी और सर्व साधारण में स्वाध्याय के प्रति रुचि जाग्रत करने पर जोर देते थे। आपकी प्रेरणा से "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" नामक शास्त्र का पुनर्मुद्रण करवाया गया और समाजके सहयोग से इसकी प्रतियां आस पास के सभी जैन मंदिरों में भेजी गई, तथा धर्म जिज्ञासु लोगों में वितरित की गई।

महाराज श्री द्वारा देह त्याग के समाचारों से स्थानीय समाज को काफी दुःख हुआ कि समाज ने एक ऐसे धर्मनिष्ठ, तत्त्वज्ञ और तपस्वी को खो दिया है। महाराजश्री को समाज कभी नहीं भूल सकता। उनका नाम सदैव अमर रहेगा। अपनी मधुर स्मृतियों के साथ माधोराजपुरा जैन समाज उन्हें अपने पवित्र हृदय से नत मस्तक होकर शत-शत श्रद्धांजलि अर्पित करता है। △

चारित्र में चमचमाते चन्द्रमा

△ श्री गम्भीरमल सोनी, फुलेरा

पूज्य विवेकसागरजी महाराजसे मेरा परिचय १५ वर्ष से अधिक का रहा। इनके गुरु आचार्य १०८ ज्ञानसागरजी महाराज असीम ज्ञान भण्डार के धनी, सरल प्रकृति के साधुराज थे। पूज्य विवेकसागरजी महाराज यथा नाम तथा गुण वाले मुनि पुंगव थे। वे सम्यक् श्रद्धा में अडिग, ज्ञान में गहन, संयम में सजग, चारित्र में निर्मल, गुणों में गम्भीर, स्वभाव से सरल, व्रतपरिसंख्यान में सुदृढ़, शिथिलता से कोसों दूर, शरीर से निर्मोह, स्वसमय में जागरूक, सफल संघ संचालक, ज्ञान के प्रसार के लिए उत्सुक महामुनि थे। लगभग १२ वर्ष पूर्व महाराजश्री का चातुर्मास फुलेरा में हुआ था। आपने तब 'सहजसुखसाधन' नामक उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित करवाया। चातुर्मास में मुझे भी आपके साथ स्वाध्याय करने का सौभाग्य मिला था। लोक में ये 'चाय वाले महाराज' के नाम से प्रसिद्ध थे। क्योंकि ये चाय नामक व्यसन का त्याग कराते थे।

ऐसे तत्त्वप्रेमी, ज्ञानरसिक, चारित्रपरायण, धर्म प्रसार-प्रचार में सदैव रत रहे मुनीश्वर को शत-शत वन्दन। △

नागदा में मुनिश्री

△ डॉ० शीलचन्द जैन, नागदा (उज्जैन) म० प्र०

परम पूज्य चारित्रभूषण १०८ मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज के समाधिमरण का समाचार ज्ञात कर सम्पूर्ण नागदा-जैन समाज को गहरा धक्का लगा।

नागदा की जैन समाज महाराजश्री की ऋणी है। इस औद्योगिक नगरी में आने वाले वे प्रथम जैन सन्त थे। आपकी ही पावन प्रेरणा से यहां दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। नागदा निवासी महाराजश्री के हृदयस्पर्शी प्रवचनों को सदैव याद रखेगी। यदि आपकी प्रेरणा न होती तो जिनालय का निर्माण इतनी अल्प अवधि में न हुआ होता। जिनालय के निर्माण से नागदा की सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज एकता के सूत्र में बंधी है। यद्यपि अब महाराजश्री हमारे बीच नहीं हैं फिर भी उनके प्रेरणास्पद प्रवचन नागदा वासियों को सच्ची राह दिखाते रहेंगे। पूज्यश्री के चरणों में नागदा वासियों का कोटि-कोटि सश्रद्ध नमन, वन्दन, अभिनन्दन। △

विवेकसागर

△ बाल ब्रह्मचारी कमलकुमार काला, कुचामन सिटी

विवेकसागर चरण में, नत हूं बारम्बार।
मुझे सिखाया आपने, दया धर्म का सार॥
मैं ज्ञानी ध्यानी बनूं, धरूं गुप्ति में योग।
दो ऐसी आशीष गुरु! छूट जाय भव-रोग॥

शत-शत वन्दन !

△ श्री फूलचन्द जांभरी बाडरवास वाला, कुचामन सिटी

कुचामन के प्रथम सं० २०२६ के चातुर्मास में मैं गुरुदेव के सम्पर्क में आया, उनके सम्पर्क से मेरे जीवन में बहुत परिवर्तन आया। सर्वथा स्वच्छन्द आचरण करने वाला मैं उनके प्रभाव से कई नियमों को अंगीकार कर सका हूं। पूज्यश्री के आशीर्वाद से आज तक उनका निर्दोषरीति से पालन कर रहा हूं। कुचामन के दूसरे और तीसरे चातुर्मास में भी मुझे और मेरे परिवार को उनके सान्निध्य का, सेवा भक्ति का लाभ मिला। मैं उनके उपकारों को कभी नहीं भूल सकता। श्री १००८ वीर प्रभु से यही प्रार्थना करता हूं कि उनकी आत्मा को कुछ ही भवों में मोक्ष की प्राप्ति हो। गुरुदेव के चरण कमलों में शत-शत वन्दन ! △

हे गुरु महान् ! गौरव-निधान !!

△ श्री प्रकाशचन्द जैन दीवानजीका, एम, ए.एम. एड, सीकर

हे गुरु महान् ! गौरव–निधान,
चारित्र–शिरोमणि ! विज्ञ प्राण।
हे तापसवर ! शिव सतत-ध्यान,
हे धर्मरत्न ! आदित्य–ज्ञान।

आगम–सरिता के विमल नीर,
पाखण्ड-जलद के वर–समीर।
अपने पथ के एकान्त-वीर,
अपने सुध्येय के सुदृढ़ धीर॥

हे अभयवृत्ति–धारक महान्,
विचरे निर्भय केहरि समान।
सम था तुमको मानापमान,
सच–सच कहते आगम प्रमाण।

जब उठी विरोधानल प्रचण्ड,
मानो कर देगी खण्ड-खण्ड।
पाकर श्री गुरु को दृढ़ अखण्ड,
तब स्वयं हुई वह खण्ड–खण्ड।

वचनों को इतना पूर्ण किया,
जीवन तक उनके हेतु जिया ।
जब रोगों ने तन क्षीण किया,
तब गुरुने ध्यान समाधि लिया ।

मैं नत-मस्तक ले मनोद्गार,
करता चरणों में नमस्कार ।
गुरु चरण-चिह्न पथ को निहार,
चाहूं करलूं कुछ निजोद्धार ।

हे गुरु महान् ! गौरव निधान !
तव चरणों में शत-शत प्रणाम ।।

कोटि कोटि नमन !

△ वैद्य भागचन्द जैन, भानपुरा (मंदसौर, म० प्र०)

भानपुरा वर्षायोग में मुझे महाराजश्री का सान्निध्य मिला तब मैंने उनकी चर्या तथा तपस्या को बहुत नजदीक से देखा-जाना । पूज्य महाराजश्री एवं माताजी के उपदेशों से यहां अभूतपूर्व धर्म प्रभावना हुई । इस वर्षायोग में एक दिन प्रवचन के समय महाराजश्री पर सर्प का उपसर्ग भी हुआ पर महाराजश्री की मुद्रा में तनिक भी अन्तर नहीं आया ।

आज के शिथिलाचारी प्रवाह में ऐसे ज्ञानी ध्यानी तपस्वी गुरुओं का दर्शन होना भी बड़े सौभाग्य की बात है । महाराज के चरणों में मेरा कोटि कोटि नमन । △

श्रद्धेय गुरुदेव

△ वैद्य विजय गांधी, मन्दसौर (म० प्र०)

परम पूज्य मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज ने १९७७ का वर्षायोग यहां मन्दसौर में स्थापित किया था । आपके प्रभावशाली उपदेश से यहां के अनेक श्रावकों ने व्रत नियम अंगीकार किये । आपके सान्निध्य में तीनलोक मण्डल विधान, वृहद् सिद्धचक्र विधान, णमोकार मंत्र विधान, भक्तामर विधान आदि के आयोजन हुऐ । तीन लोक मण्डल विधान, पूजा का प्रकाशन आपकी प्रेरणा से यहां की समाज ने किया । निम्बाहेड़ा निवासी कुसुमबाई का संघ में पदार्पण भी यहीं हुआ जो अब आर्यिका विशालमतीजी हैं ।

संघस्थ आर्यिका विपुलमती माताजी का समाधि पूर्वक मरण २५ जनवरी, ८१ को इसी भूमि पर हुआ था। महाराजश्री के संघ से यहां की समाज का अच्छा भक्तिपूर्ण सम्पर्क रहा। आपके निधन के समाचार ज्ञात कर यहां श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया जिसमें सभी श्रावकों ने अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की और पूज्यश्री को शीघ्र मुक्ति का लाभ मिले, ऐसी कामना की। गुरु चरणों में अनेकानेक नमोस्तु। △

विवेक-पुरुष

△ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम.ए., जावरा (म० प्र०)

तप और त्याग की आभा से दीप्त मुख मण्डल, तेजस्वी नयन, उन्नत सबल देहयष्ठि और डॉ० पं० हुकमचन्द्र भारिल्ल के शब्दों में चलते फिरते सिद्धों से गुरु १०८ आचार्यकल्प श्री विवेक-सागरजी महाराजके दर्शन करने, प्रवचन सुननेका सौभाग्य मुझे जावरा बड़नगर, थूबौन क्षेत्रमें मिला। जावरा में तो उन्होंने वैराग्यवती कुसुमकुमारी निम्बाहेड़ा को भी संयम की दिशा में अग्रसर किया था। वैराग्य की दिशा में वे अकेले ही आगे नहीं बढ़े बल्कि परिवार के सदस्यों को संसार से शिव की ओर चलने के लिए प्रेरणा दी।

आचार्यश्री में बुद्धि-ज्ञान और विवेक का अद्भुत समन्वय था। वे जीवन-पर्यन्त बुद्धि लिए अच्छी सच्ची बातें सभी को सिखाते रहे। मानव-कल्याण की नियत लिए ज्ञानवर्द्धक सूचनाओंका संग्रह करते रहे। हेय-उपादेय की दृष्टि लिए प्रयोग हेतु सभी को सम्यक् रीत्या समझाते रहे। अणुव्रतों के पालन पर बल देते रहे। वर्त्तमान विश्व के अतीव लोकप्रिय पेय चायके विरुद्ध तो उन्होंने एक सफल अभियान ही छेड़ दिया था।

गृहस्थ और मुनि धर्म के विषय में उनका अध्ययन, अनुभव-अभ्यास उच्चतम था। उनके विचार अतीव परिष्कृत प्रांजल सुस्पष्ट थे। पूछे जाने पर एक बार धर्म-सभा जावरा में बोले—गृहस्थ के पास कोड़ी न हो तो वह दो कोड़ी का है और मुनि के दो कोड़ी हो तो वह भी दो कोड़ी का है। गृहस्थ खड़ा होकर कर-पात्र में भोजन करे तो दण्डनीय है और मुनि बैठकर पात्र में भोजन करे तो अपराधी है। गृहस्थ, स्नान न करे तो अपराधी है और मुनि स्नान करने लगे तो दण्ड-भागी है। जन साधारण की भाषा शैली में धारावाहिक बोलने वाले वे एक ही वक्ता थे। पानी से लगा कर तेल तक छानने की बात कहते थे।

उनके आचार्य जीवन की एक असाधारण विशेषता यह रही कि जहां उन्होंने चातुर्मास किया वहां की समाज से एकाध धर्म-ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित करा दिया करते थे। विद्वान द्वारा सम्पादन करा कर निःशुल्क वितरण कराना उनका ही अविस्मरणीय कार्य था। वे सही अर्थों में सरस्वती पुत्र विवेकसागर थे। उनकी पुण्य स्मृति में सहर्ष सहस्र श्रद्धा सुमन अंजलियां। △

निरभिमान व्यक्तित्व

△ वैद्य पं० भगवानदास जैन, मन्दसौर

१९७७ के मन्दसौर वर्षायोग से मेरा पूज्यश्री के साथ सम्पर्क रहा। मुनिश्री विवेकसागरजी सच्चे विवेकी, घोर तपस्वी, दृढ़ ध्यानी और निरभिमान व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। आपका पूरा परिवार ही धार्मिक संस्कारों से सुसंस्कृत है। आपकी धर्मपत्नी ने भी आर्यिका के व्रत अंगीकार किये थे, उनका नाम आर्यिका विपुलमतीजी था। १९८१ में मन्दसौर में आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। मरोड़े के साथ दस्त लगते थे। चिकित्सा भी की गई थी पर व्रती पुरुषों, महिलाओं को जहां एक ही बार खाना-पीना हो वहां इलाज क्या काम देता है, तभी इनका समाधिपूर्वक मरण हुआ था।

महाराजश्री ने अपने जीवनकाल में दो मुनि दीक्षायें और चार आर्यिका दीक्षायें प्रदान की थीं। अनेक भव्य स्त्री पुरुषों ने आपसे व्रत (प्रतिमा रूप) अंगीकार किए। छोटे बड़े नियम लेने वालों की संख्या तो काफी है। इस प्रकार आपने विशिष्ट धर्म प्रभावना की फिर भी आप में कभी अभिमान की झलक तक नहीं दिखाई दी।

ऐसे निरभिमान व्यक्तित्व के धनी महात्मा के चरणों में कोटि कोटि नमन। △

विनयाञ्जलि

△ पं० छोटेलाल बरैया, धर्मालंकार; उज्जैन (म० प्र०)

पूज्य मुनिश्री १०८ विवेकसागरजी महाराज उग्रतपस्वी तथा अत्यंत विवेकशील साधु थे। उनका चारित्र इस परम्परा के साधुओं में श्रेष्ठ था। स्वतंत्र विहारी रहते हुए भी पूज्यश्री ने अपने चारित्र में किंचित् भी शिथिलता नहीं आने दी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें उस समय देखने को मिला जब संवत् २०३५ में आपने बड़नगर में चातुर्मास किया। एक दिन जानकारी के अभाव में आपका एक ऐसे घर में आहार हो गया जो सज्जातित्व से रहित था। जब आपको यह बात ज्ञात हुई तो आप निस्संकोच स्थान बदल कर नवीन विद्यालय में आकर ठहरे। और जो घर दोषग्रस्त थे, उनको छोड़ कर निर्भीकता से अपनी चर्या क्रिया करते रहे। आगमविहित साधुचर्या का पालन उनका लक्ष्य था। वे संस्कारहीन पुरुषों के हाथ का भी आहार नहीं लेते थे। यज्ञोपवीत धारण किये बिना वे श्रावक को आहारदान की स्वीकृति नहीं देते थे। यह उनकी आगमविहित चर्या ही उन्हें निर्मलचारित्र में दृढ़ करती थी।

आपकी प्रेरणा से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, उनमें पं० जवाहरलाल जैन सि. शा. भीण्डर द्वारा संगृहीत ग्रन्थ 'वृहज्जिनोपदेश' उल्लेखनीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिये ही नहीं अपितु विद्वत्समाज के लिये भी मनन करने योग्य है। इसमें अनेक गुत्थियां आगम प्रमाणों के आधार

पर सुलझाई गई हैं। एकान्त मतावलम्बियों को वे समाधान अरुचिकर लगे तो इसमें संग्राहक का दोष नहीं अपितु गृहीत मिथ्यात्व का जहरी दोष है। कुचामन सिटी की समाज इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए साधुवाद की पात्र है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु पुनीत प्रेरणा देने वाले मुनिश्री को शत-शत नमोस्तु।

ऐसे परमोपकारी, अपनी गुरुपरम्परा के वीरचर्याराधक साधु अब इस संसार में नहीं हैं, सीकर में ३-३-८६ को उनका समाधिमरण हो गया। मैं उन मुनिराज के प्रति अपनी भाव भीनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूं और मंगल कामना करता हूं कि वे शीघ्र ही अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर शीघ्र ही मुक्ति वल्लभा का वरण करें। △

पूज्यश्री का वाशिम चातुर्मास

△ श्री निर्मलकुमार छाबड़ा, वाशिम (महाराष्ट्र)

पूज्यश्री विवेकसागरजी महाराज का स. २०३८ का चातुर्मास वाशिम (आकोला, महाराष्ट्र) में हुआ। पूज्यश्री मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र की वन्दना करने पधारे थे। वाशिम के धार्मिक बन्धुओं के विशेष आग्रह से आप वाशिम शहर में पधारे। आप वाशिम के ही धार्मिक सद्गृहस्थ रहे थे अतः समाज द्वारा आपका भव्य स्वागत किया गया। सभी को उत्सुकता एवं हार्दिक आह्लाद था।

वाशिम नगर के इतिहास में किसी दिगम्बर जैन मुनि का यह पहला चातुर्मास था। यद्यपि आपके चातुर्मास सम्बन्धी अनेक विकल्प रहे तथापि अनुभव भिन्न ही रहा। आपकी आदर्श साधुचर्या से जैन धर्म एवं मुनिधर्म की महानता का परिचय जैन जैनेतर सबको मिला। पूज्य महाराजश्री के प्रवचनोंमें यही प्रतिपादन रहता था कि जीव अपनी ही भूल के कारण संसार में परिभ्रमण करता है।

आप मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र से वाशिम की ओर विहार कर रहे थे तब रास्ते में एक देहात में हम लोगोंने अपनी आंखों से चमत्कार देखा। चौके के लिए पानी की व्यवस्था करनी थी परन्तु धनोरा ग्राम में एक ही कुआ था और वह भी काफी गहरा। पानी भी एक बालटी में एक लोटा भर निकलता था कुए पर सदैव भीड़ बनी रहती थी। सोचा—मध्य रात्रि में पानी भर लेंगे पर संघस्थ ब्र० बहिन कुसुमजी ने रात्रि में जल लाने को साफ मना कर दिया। अब बड़ी चिन्ता हुई—पूज्यश्री सुबह ८-१० किलोमीटर विहार कर आने वाले थे आगे ७-८ किलोमीटर तक कुआ नहीं था। रात्रि में सरपंच से मिले, उसने आश्वस्त किया कि 'मैं आपको सुबह जल भरवा दूंगा, क्योंकि कुआ मेरे मालिक का है।' सुबह हुई 'सरपंच' के साथ हम कुए पर पहुंचे—बड़ी भीड़ थी। नीचे बहुत थोड़ा जल दिखाई दे रहा था, सरपंच की एक आवाज से सारी भीड़ हट गई; हमने एक साथी को कुए में उतारा, बालटी डाली तो एक सेकेण्ड में हमारी बालटी भर कर आगई। पूज्यश्री की जय जयकार की, हमने तो पानी भरा ही, सभी उपस्थित नर-नारियों ने भी पानी भरा।

परम पूज्य आर्यिका विपुलमती माताजी (महाराजश्री की गृहस्थावस्था की धर्मपत्नी) ने आपसे बड़वानी में चैत्र कृष्णा पंचमी सं० २०३४ बुधवार दिनांक २६-३-७८ को आर्यिका दीक्षा ली थी, मन्दसौर में माघ बदी पंचमी सं० २०३७ रविवार दि० २५-१-८१ को आपका समाधि मरण हो गया। वाशिम के दिगम्बर जैन महिला मण्डल ने पूज्य माताजी की स्मृति में एवं पूज्यश्री के वर्षायोग की यादगार में 'श्रीसिद्धचक्रमण्डलविधान' एवं 'याग मण्डल विधान' ग्रन्थ छपवाकर निःशुल्क वितरित किया।

पूज्यश्री का वाशिम चातुर्मास हम लोगों के लिए अविस्मरणीय है। यहां तीन लोक मण्डल विधान, सिद्धचक्र विधान, श्री नन्दीश्वर विधान, दशलक्षण विधान आदि अनेक पूजा-महोत्सव सम्पन्न हुए थे।

पूज्यश्री की सत् प्रेरणा से यहां नूतन दिगम्बर जैन मन्दिर का भी निर्माण हुआ। पूज्यश्री अब अपने बीच नहीं रहे; हम स्वार्थी संसारियों को दुःख होना स्वाभाविक है परन्तु उस महान् आत्मा ने अपना सम्पूर्ण जीवन स्व-पर कल्याण में व्यतीत किया। उनकी आत्मा शीघ्र मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करे-यही मंगल कामना करता हूं। △

प्रेरक सान्निध्य

△ श्री पदमकुमार गोधा, कोटड़ी (भीलवाड़ा, राज०)

जब पूज्यश्री भीलवाड़ा पधारे तो मार्ग में दो तीन दिन कोटड़ी भी विराजे। आपके जीवन में हमने अपरिमित शान्ति देखी। परिणामों में सरलता, कषायों की अत्यन्त मन्दता, वाणी में मृदुता और चारित्र में कठोरता जैसे गुणों का संगम आपके व्यक्तित्व में था। यहां आपके प्रवचन लोक भाषा में हुए जिसमें आपने रूढ़ियों को छोड़ने की प्रेरणा की। सबको स्वाध्याय-भले ही दस पन्द्रह मिनट ही सही पर नियमित रूप से करने का उपदेश दिया। पूज्यश्री के विराजने से वे दो तीन दिन हमारे लिए परम मंगलमय और अविस्मरणीय हो गये हैं।

मैं स्वर्गीय पूज्यश्री के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। △

काव्याञ्जलि

श्री आदेश्वरलाल जैन सिंघवी, संस्कृताध्यापक, भीण्डर (राज०)

तर्ज (देश रा अध्यापक थाने नई जिन्दगी लाणी रे............)

विवेक सागर महाराज माणे भीण्डर नगर में पधार्या जी,
चातुर्मास अणा अठे कीयो शास्त्रजी छपवाया जी।

जस्यो नाम वस्यो काम आपरो तपस्या अणारी भारी जी,
बारां बज्यां ई रात ने उठता आत्मा रो चिन्तवन करता जी।
विदुषी महिला ब्रह्मचारिण्या तीन साथ में रहती थी,
कुसुमबाई और सरलाबाई कंचनबाई कहलाती थी।
जयपुर जिला रे मरवा गांव में विवेकसागरजी जनम्या जी,
७२ वर्ष री आयु में ई स्वर्गवासी अब हुआ जी।
सुगनचन्दजी रा लाडला और राजमती रा प्यारा जी,
आषाढ़ बदी दशमी रे दिन ई लक्ष्मीनारायण जनम्या जी।
मनफूल देवी से शादी कीदी, चार वर्ष तक जीया जी,
अणी बाद में दूसरी शादी रत्नमाला सूं कीदी जी।
दो दो दुकाना किराणा री कीदी व्यापार थोड़ो सो कीदो जी,
विद्यासागरजी क्षुल्लक पधार्‍या पहली प्रतिमा लीदी जी।
चार पुत्रियां और तीन पुत्र ने घर में ज्योति जगाई थी,
आत्मा री ज्योति अवे जगावाने सप्तम प्रतिमा धारी जी,
फाल्गुन कृष्णा पंचमी और संवत् २०२५ जी,
ज्ञानसागर महाराजजी सूं पंच महाव्रत धार्‍यो जी।
सतरा साल तक तपस्या कीदी सतरा चातुर्मास कीदा जी,
जगह जगह पर शास्त्र छपवाकर ज्ञानरो ज्योति जगाई जी।
ववदवों चातुर्मास भीण्डर कीदो, पद्मनन्दी छपवाई जी,
मंगलवाड़ सूं पाछा आई ने सिद्धचक्र रचवायो जी।
फागण बदी पांचम ने अणा संसार री ममता छोड़ी जी,
वणी फागण री अष्टमी ने ई अणी दुनिया सूं पधार्‍या जी।
उपदेश देता आदेश नहीं या ई अणारी खूबी जी,
छह छह घन्टा एक आसन पर ध्यान लगाया करता जी।
विजय सागर और विनय सागर ने मुनि दीक्षा अणा दीदी जी,
कुसुमबाई और लीलादेवी ने आर्यिका दीक्षा दीदी जी।
सुखसागर और सम्भवसागर रो समाधि मरण करवायो जी,
विपुलमति माताजी ने भी भवसागर सूं तिराया जी।
जयपुर जिला रे सीकर नगर में संघ सहित पधार्‍या जी,
रात्रि साढ़ा दस बज्या ई स्वर्गां रो सुख पाम्या जी।

नगर वासी सब यूं उठ बोल्या वाह रे समाधि सागर री,
पंचमकाल में ऐसी समाधि ना देखी ना सुणी जी।

भीण्डर वाला श्रद्धाञ्जलि देवां स्वर्गां रो सुख भोगो जी,
पुनः मुनि पद धारण करने जल्दी सूं मोक्ष पधारो जी।

△

ज्ञानसिन्धु की देन तुम

△ श्री मोतीलाल लिखमावत, भीण्डर (राज०)

परमतपस्वी, शुद्धाम्नायी, कृशशरीरी, अकृशात्मा, विवेकी १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज सन् १९८२ में भीण्डर पधारे थे। उनका यहां चातुर्मास हुआ था। उनकी समग्र चर्या मेरे लिए आकर्षक व आदर्श [मोडल] बनी। फलस्वरूप मैंने भी आपके चरण-कमलों में विनत हो आपसे द्वितीय प्रतिमा के व्रत अंगीकृत किये।

आपके उपदेशों में चारित्र पर पूरा जोर रहता था। बाह्य चारित्र कथंचित् एक ऐसा सोपान है, जो अन्तश्चारित्र प्राप्ति का वातावरण समुपस्थित करता है, अतएव आचार्यों का अन्तःकरण उसे अन्तःचर्या [आत्मरमण] का हेतु कहता है और यही कारण है कि पूज्य मुनिश्री का प्रधानतया चारित्र पर उपदेश होता था।

चातुर्मास के उपरान्त भी मुझे आपश्री के दर्शनों का लाभ पिड़ावा में आर्यिका दीक्षा महोत्सव के समय एवं मारोठ आदि स्थानों पर प्राप्त हुआ। भावना होते हुए भी मैं पूज्यश्री का और भी अधिक सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सका, इस बात को विचार कर मेरे नेत्र अब सजल होकर मानो मन को क्षणिक व औपचारिक सान्त्वना देते हैं।

आप अपने पीछे छोटा सा स्व शिष्य परिवार मानो विरासत रूप में हमारे उपकार हेतु, मार्ग दर्शन हेतु, निदर्शन हेतु छोड़ गये हैं, यही सजल नेत्रों को पुलकित करने का उपाय है और हम इनसे लाभान्वित होने हेतु दृढ़ भाव भाते हैं।

पंचमकाल में भी हीन संहनन से, विशिष्ट आत्मबल पूर्वक साधना करने वाले इन यतियों को धन्य हो। मैं तो आपकी चर्या से सदा श्रद्धा अभिभूत रहूंगा।

हे ज्ञानसागराचार्य की देन ! हे विद्यासागर के गुरु भाई ! हे जिनवाणी प्रसारण व तपःतपन में दक्ष ! हे विवेक ! अब आप कहां ? आप तो सदा-सदा के लिए पर्यायतः काल के गाल में समा गए हो।

ज्ञानसिन्धु की देन तुम,
विद्या अम्बुधि भ्रात ।
ज्ञान प्रसारण तप निपुण,
हा ! "विवेक" जम हाथ ।।

आदर्श त्यागी गुरुदेवश्री

△ श्री बसन्तीलाल बाणावत, भीण्डर

मुझे महाराजश्री के चरणों में नत-मस्तक होने का प्रथम अवसर महाराजश्री के भीण्डर वर्षा-योग सं० २०३६ में प्राप्त हुआ। मैंने पाया कि मुनिश्री एक आदर्श त्यागी हैं, शान्त स्वभावी, सरल प्रकृतिमय एवं मूलोत्तर गुणों के अन्यून परिपालक हैं। आप वृत्तिपरिसंख्यान आदि के दृढ़ परिपालक हैं। आपका चारित्र उच्चकोटि का है, सामायिक में ५-५, ६-६ घण्टे एक आसन से बैठते हैं। अल्प निद्रा, अनशन क्रियायें आपमें विशेष दृढ़ता को लिये है। भोजन अति नीरस लेते हैं, अपनी चर्या के समय के अलावा सभी समय सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में लगाते थे।

मैं नित्य प्रातः जिस समय महाराजश्री के साथ शौच क्रिया के लिये जाता तो सर्वप्रथम मंदिर जी में जाकर महाराजश्री जहां विराजते थे उनकी क्रिया को देखकर बहुत आश्चर्य चकित रहता था कि उनके सामायिक में बैठने की क्रिया बिल्कुल मूर्ति की तरह सी थी। मैं जिस कड़ाके की सर्दी के समय आपकी चटाईयां खोलता, जो ढकी होती, तो आप बिल्कुल पत्थर की प्रतिमा की तरह विराजे हुऐ मिलते। तत्पश्चात् आपकी दृष्टि खुलती तथा श्रावक लोग दर्शन करते थे।

मेरे यहां आहार के समय आपने जो उपदेश मुझे दिया वह इस जीवन में सदैव मेरा मार्ग दर्शन करता रहेगा।

लेकिन अब वह सत्पुरुष कहां ?

काश ! वे और भी कुछ समय रह कर हमारा मार्ग दर्शन और करते ! △

जिनवाणी के सेवक "विवेक"

△ पं. श्री जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पूज्य श्री विवेकसागरजी महाराज का जन्म वि० सं० १९७० में हुआ। लगभग ५५ वर्ष की आयु में युवाचार्य विद्यासागरजी महाराज के दीक्षागुरु आचार्य ज्ञानसागरजी से आपने मुनिपद अंगीकृत किया था। मुनि-जीवन में आपके १७ चातुर्मास हुए थे। नसीराबाद [राज०] में आद्य चातुर्मास किया था और मारोठ [नागौर] में अन्तिम। आपके मुनि-जीवन का बहुभाग राजस्थान

प्रांत में ही बीता था। आपमें जिनवाणी प्रसारण की भावना बलवती थी। इसी कारण आपकी प्रेरणा से विभिन्न शास्त्रों की कुल २४ पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। अब आपके ही निमित्त से (स्मृति स्वरूप) २५वीं पुस्तक वृहद्द्रव्यसंग्रह मुद्रित हो रही है। मुख्य प्रकाशित ग्रन्थ ये हैं रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (समन्तभद्र आचार्य), चारित्रसार (चामुण्डराय), पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (अमृतचद्राचार्य), सारसमुच्चय (कुलभद्राचार्य)[1], परमात्मप्रकाश (योगीन्दुदेव), स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र), पद्मनंदि-पंचविंशति (पद्मनन्दि आचार्य), मूलाचार प्रदीप (आ० सकलकीर्ति), आत्मानुशासन (गुणभद्रसूरि), वृहद्द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्राचार्य) तथा यागमण्डलविधान (आ० जयसेन)। वृहद्द्रव्यसंग्रह सहित आपके निमित्त से प्रकाशित कुल २५ पुस्तकों की कुल लगभग २५ हजार प्रतियां भारत देश के कौने-२ में भव्य पुरुषों को युगों-युगों तक सन्मार्ग प्रदान करती रहेंगी।

विशेष बात यह कि सभी ग्रन्थ निःशुल्क ही वितरित किये गये, अर्थात् यह कोई धन्धा नहीं था, पारमार्थिक काम यथा नाम गुणी बना रहा।

दि० ३-३-८६ ई० सोमवार को सीकर में अन्तिम क्षण तक पूर्ण सचेत अवस्था में आपने अपनी साधिक ७२ वर्ष पुरानी जीर्ण औदारिक काया का विसर्जन कर दिया और स्वर्गवासी हुए। अब ऐसे सन्तों का समागम इस हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल में दुर्लभ होता जा रहा है। कोई करोड़ में एक मिलते हैं।

मुझे आपश्री के प्रथम दर्शन भीण्डर में ही सुलभ हुए थ। तब यहाँ चातुर्मास भी हुआ था। उसी चातुर्मास के काल में मेरे पिताश्री के केंसर से पीड़ित होने के कारण आपके संघ के साथ मेरे सतत् स्वाध्याय की शृंखला तो नहीं बन पाई, पर हां, सामीप्य बढ़ा। परिणामतः आपश्री के उप-देशात्मक तत्त्वावधान में क्रमशः प्रकाश्यमान पांच ग्रन्थों में मुझे भी अपनी प्रतिभा के उपयोग करने का प्रशस्त अवसर मिला। इन्हीं कामों से विगत ३-४ वर्षों में मैं अनेक बार कुचामन, मारोठ, कूकन-वाली तथा एक-एक बार भानपुरा, कोट, सीकर आदि स्थानों पर [इन इन स्थानों पर आपके ससंघ विराजने से] गया हूं। पूज्यश्री की अनुपस्थिति में अब रागसिक्त भक्तिवश जब भी आपकी स्मृति हो आती है तो हृदयस्थ अपनत्व व भक्ति आंखों में उमड़ आते हैं। कम से कम इस पर्याय में तो मुझे आप पूज्यश्री की विस्मृति नहीं हो सकती।

अब तो मात्र पुस्तकों में निबद्ध तथा परिचितों की जिह्वाओं पर गीयमान [गाया जाता हुआ] मुनिश्री के चरित्र से "ज्ञानी" कहलाने वाले पण्डितगण भी यथाशक्ति इस त्याग-मार्ग की ओर अग्रसर हों और आज के सम्भावित दोषों का परिहार कर आदर्श त्यागिस्वरूप सिद्ध हों; तथैव उनके निमित्त से प्रकाशित पुस्तकों से सभी श्रावक बोधि में परम सहायक होने वाले 'बोध' को प्राप्त हों, ताकि अंत में समाधि को पावें, अर्थात् रत्नत्रय को पर भव में भी यथाऽऽगम साथ में ले जावें, यही मेरी उत्कट भावना है। △

१. आत्मसुप्रबोध के जिल्द में

सन्मार्गदर्शी श्रद्धेय पूज्यश्री

△ श्री बिरदीचन्द जैन, पिड़ावा

जन्म मरण का यह चक्र सदा से हमारे जीवन में चला आ रहा है। इससे जगत अनजान नहीं है; परन्तु जिसने अपने जीवन में जन्म मरण से रहित त्रिकाली तत्व को झांक कर देखा है, तत्वज्ञान पूर्वक अपने अनादि अनंत निज वैभव को अवलोकन किया है; वह महापुरुष जन्म-मृत्यु की जड़ों को काटकर अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करता है। स्व० आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी भी इसी प्रकार के महापुरुष थे।

जिस प्रकार लोक में पवित्र कही जाने वाली गंगा जहां जहां होकर बहती है वहां २ की कही जाती है, तथा कुछ विशेष स्थान तीर्थ स्थान भी बन जाते हैं। उसी प्रकार परम पूज्य महाराजश्री का जहां जहां भी गमन हुआ, वहां वहां आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

जब पूज्यश्री का शुभागमन पिड़ावा (राजस्थान) में हुआ तो यहां के धर्म-प्रेमी स्त्री-पुरुषों तथा नवयुवकों में आपकी शान्त और प्रशम मूर्ति के दर्शन कर मुक्ति-भक्ति की एक अलौकिक लहर सी दौड़ गई थी।

जब पिड़ावा के धर्म प्रेमी लोगों ने आपके ज्ञान-वैराग्य से गर्भित प्रवचनों का श्रवण किया तो लोगों में फैली हुई मिथ्या मान्यताओं का सहज ही उन्मूलन होकर जैन धर्म के चारों अनुयोगों का मूल उद्देश्य वीतरागता ही है ऐसी श्रद्धा में प्रगाढ़ता आई। आचार्यकल्पश्री के जीवन में कथनी और करनी का सुमेल दिखाई दिया।

आपके अलौकिक गुणों को शब्दों से प्रकट करना असम्भव है—आप हमारे बीच नहीं हैं; परन्तु आपका प्रज्जवलित दीपक आज भी हमारे हृदय में प्रकाश उत्पन्न करके हमको सन्मार्ग में लगाये रखेगा।

इसी भावना से महाराजश्री के चरणों में मेरी श्रद्धांजलि समर्पित हो। △

श्रद्धा सुमन समर्पित तुमको

△ श्री जितेन्द्र जैन-आर्टिस्ट, पिड़ावा

हे! चारित्र विभूषित, परम पूज्य विवेकसागर महान,
तुम में दर्शित संयम प्रकाश, समता सागर महान।
सरल स्वभावी, मृदुगुण भावी, ज्ञान पिपासु मोक्षाभिलाषी,
तुम जिनशासन के मूर्तिमान, रत्नत्रय मंडित आदर्शवान्।

मंत्र मुग्ध हो जाते श्रोता, जब उनकी वाणी खिरती,
स्याद्वाद शैली में जब, ज्ञानामृत की वर्षा होती ।

जैन धर्म के गहन मर्म का, जब वे विश्लेषण करते,
पक्षपात की गंध न होती, मुख से अमृतकण झरते ।

शब्दों में सामर्थ्य नहीं है, उनकी गौरव गाथा गाऊँ,
मन भी पामर है चिन्तन कैसा, किसको समझाऊँ ।

बस ! भक्ति भाव से, सरल हृदय से नत-मस्तक हो,
केवल श्रद्धा सुमन समर्पित, करके बार-बार सिर नाऊँ ।

मोक्षमार्ग के सजग प्रहरी

△ श्री कोमलचन्द जैन, साहित्यरत्न, पिड़ावा (राज०)

जब हम जन्मे, जग हंसा, हम रोये ।
अब ऐसी करनी करो, हम हंसे जग रोये ।।

आचार्यश्री के जीवनमें भी यही घटना घटी । आचार्यश्री का बाल्यकाल भी ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत था । संसार का प्रपच उन्हें संसार में नहीं घुमा सका, और उन्होंने मोक्षमार्ग की साधना में अपने जीवन को लगा ही दिया—आज वे हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु वे हमारे बीच में से समाधि-पूर्वक अनन्त शांति की यात्रा पर हंसते हुऐ प्रयाण कर गये और हम उनके वियोग में रो रहे हैं, लेकिन रोने से कार्य नहीं बनेगा—आज उनके बताये मार्ग पर चलकर ही हम हमारे जीवन में मोक्ष मार्ग का बीज बो सकते हैं ।

मैंने अपने जीवन में प्रथम बार जब महाराजश्री के दर्शन किये और उनकी देशना का अमृत पान किया तो मेरा सोया व्यक्तित्व जाग उठा । मुझे महाराजश्री की पक्तियों का स्मरण है—जिन्होंने सूत्र-रूप में आत्मा से परमात्मा, आकुलता से निराकुलता और उपाधि से समाधि कैसे प्राप्त होती है, अपने जीवन का सारा अनुभव जनता के सम्मुख खोलकर रख दिया । वे पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

अतीन्द्रिय आनन्द का द्वार है, समाधि समाधि का द्वार है निःकषाय भाव निःकषाय का द्वार है, सम्यक्चारित्र सम्यक्चारित्र का द्वार है, सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन का द्वार है भेद विज्ञान । आचार्यकल्पश्री ने बलपूर्वक कहा कि यदि इस जीवन में मनुष्य को परम शांति पाना है और संसार के दुःखों से छूटना है तो इस जीव को मरण जैसी वेदना भी हो तो भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, वरना यह मनुष्य जन्म जिसमें परमात्मा बनने का बीज बोया जाता है अकारथ चला जायेगा, और फिर इसका नरक-निगोद का परिभ्रमण चालू हो जायेगा ।

महाराजश्री स्वयं भी ज्ञान पिपासु थे और लोगों को भी ज्ञानाराधना करने के लिये नित्य प्रति शास्त्र स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते थे ।

आपकी सौम्य मूर्ति में अहंकार-ममकार तथा मान-प्रतिष्ठा की झलक भी दिखाई नहीं देती थी । आपके हृदय में जगत के सब प्राणियों के प्रति वात्सल्य भाव दिखाई पड़ते थे । उनकी शांति यात्रा की मंगलमय पूर्णता की अगणित कामनाओं के साथ सागर से गहरे एवं आसमान से उत्तुंग उन महा मानव को मैं अपनी श्रद्धा के अनन्त सुमन समर्पित करता हूं । △

आगम के अनुपम आलोक

△ **श्री कमलचन्द जैन, व्याख्याता, पिड़ावा, (झालावाड़)**

जिस सौम्य रूप के दर्शन से, कृत कृत्य हुआ जन मानस ।
ज्ञान ज्योति की पावन सुषमा, हरती अन्तर का तामस ।।
तुम यशस्वी पथ प्रदर्शक, स्थित प्रज्ञ, तुम तत्त्व ज्ञानी ।
पीयूष स्रोत से आप्लवित, होते रहते थे प्राणी ।।
श्रद्धा सुमन समर्पित तुमको, स्वीकारो मम वन्दन ।
आगम के अनुपम आलोक, हे जिनवाणी नन्दन ।।

आचार्यकल्प, सन्मार्ग दिवाकर, उत्कृष्ट चारित्र सम्पन्न श्री विवेकसागरजी महाराज श्रमण परम्परा की एक कड़ी के रूप में आगे बढ़ाने हेतु मील के दृढ स्तंभ की भांति अवतरित हुये थे । अपनी तेजोमय सौम्य मुद्रा, अपरिमित ज्ञान भण्डार, मधुर व्यवहार, कोमलवाणी, समभाव, त्याग एवं वैराग्य के साक्षात स्वरूप, अपूर्व निस्पृह साधना आदि चारित्रिक गुणों से परिपूर्ण एक ऐसी दिव्य विभूति ने इस देश की पावन धरा को अपने अवतरण से गौरवान्वित किया जिसे श्रद्धालुजन विवेक-सागर के रूप में जानते थे ।

आपकी तेजोमय सौम्य मूर्ति के दर्शन मात्र से हृदय के समस्त रागादिक भाव क्षण मात्र में विलीन हो जाते थे । अपनी अनुभवजनित निस्पृह साधना से आपने जिनवाणी के शास्वत स्वरूप को आगम परम्परा के अनुरूप नवीन परिवेश में समाविष्ट करने का प्रयास किया था, जो शाश्वत सत्य के स्वरूप में विद्यमान है ।

आचार्यश्री वास्तव में विवेक के ही सागर थे । यथा नाम तथा गुण को सार्थक कर आपने सागर की भांति धीर गंभीर हो, निज स्वरूप में रमण करते हुए आत्मकल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया ।

परिषह सहन करने की अपूर्व क्षमता एवं उपसर्ग के समय शान्त एवम् सरलचित्तवृत्ति ने आपके व्यक्तित्व को अनोखी पहचान दी थी । विषय कषायसे रहित, निर्विकार आत्मस्वरूप का चिंतन, तत्वों का विवेचन, संयम, राग, द्वेष, मोह आदि से दूर रहकर अक्षय अनन्त आनन्द को प्राप्त करने में

सदैव लीन रहने वाले सद्गुरु आचार्यकल्पश्री के पावन चरणों में शत शत नमन ! शत शत नमन !! △

श्रद्धा-सुमन

△ श्री मनोहरलाल सोनी, बेगूं (राज०)

परमपूज्य गुरुदेवश्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज का ससंघ आगमन हमारे क्षेत्र में व बेगूं नगर में हुआ। उस वक्त आपका प्रवास यहां ८ दिन तक रहा। उस समय सौभाग्य से मुझे भी उनके चरणों में धर्म साधन का अवसर मिला।

पूज्यश्री महान् उपसर्ग विजयी, निस्पृही एवम् परम दयालु साधुरत्न थे। आगम सम्मत सिद्धान्त के प्रतिपादन में आप निर्भीक कुशल वक्ता थे। आपके मुख मण्डल पर सदैव गंभीरता, वीत-रागता और विद्वत्ता की छवि देदीप्यमान रहती थी। आपकी ओजस्वी वाणी में ऐसा जादू था जो श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर लेती थी। आप प्रवचनों में किसी भी जाति-धर्म पर आक्षेप नहीं करते थे, किन्तु वस्तु स्वरूप की यथार्थता को प्रदर्शित कर उसे अन्तर्मन तक उतारने की क्षमता रखते थे।

ऐसे पूज्य गुरुदेव का असामयिक समाधिमरण सीकर (राज०) नगर में हुआ। इससे जैन समाज को अपूरणीय क्षति हुई है।

ज्यों ही पूज्य गुरुदेव के समाधिमरण का समाचार मिला, स्थानीय दि० जैन मन्दिरजी में शोक सभा का आयोजन कर पूज्य गुरुदेव को सामूहिक रूप से भाव भीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

उन परम तपस्वी, निर्भीक वक्ता, उत्कृष्ट विद्वान, आगम मर्मस्पर्शी, सत्य के पुजारी तरण-तारण पूज्य गुरुदेव के चरणों में मेरा शत शत वन्दन ! △

धीर वीर तपस्वी साधुराज

△ श्री महावीरकुमार सेठिया, बिजोलियाँ

वर्त्तमान साधु-परम्परा में पूज्य श्री विवेकसागरजी महाराज का नाम आदर की दृष्टि से लिया जाता है। वे तपस्वी साधु थे। लगातार एक आसन से अविचलित मुद्रा में घन्टों ध्यानस्थ रहना उनकी विशेषता थी। उनका उपदेश थोड़ा किन्तु सारगर्भित होता था। वे समय की पाबन्दी का पूर्ण रूप से पालन करते थे। बिजोलियाँ से छोटी बिजोलियाँ की ओर विहार करते हुए सूर्यास्त होने पर मार्ग में ही ध्यान में विराज गये और निर्भयतापूर्वक रात भर वहीं रहे।

आप दर्शनार्थी बन्धुओं को नियम दिलाने में पूर्ण दक्ष थे। आहार देने वालों से भी कई नियम करवाते थे—चाय पान का त्याग, पंच उदम्बर फलों का त्याग, तीन मकार का त्याग, गीली दवा का

त्याग, सब प्रकार के बेर का त्याग, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र नमन का त्याग, यज्ञोपवीत धारण आदि नियमों का पालन करने वालों से ही आहार ग्रहण करते थे। शास्त्रों के प्रकाशन में उनकी गहरी रुचि थी। नेत्र पीड़ा से आक्रान्त होते हुए भी कभी घबराते नहीं थे।

ऐसे धीर, वीर, तपस्वी साधुराज का असमय में समाधि मरण साधु-संस्था की अपूरणीय क्षति है। पूज्यश्री के चरणों में कोटि कोटि वन्दन। △

आगमनिष्ठ मुनिपुंगव

△ **श्री सुन्दरलाल जैन, बिजोलियाँ**

पूज्य विवेकसागजी महाराज की जितनी प्रशंसा की जाए उतनी कम है। एक बार तिलस्वां ग्राम के पास सूर्यास्त से पूर्व ही नदी के तीर पर ध्यान में विराज गये। रात वहीं बिताई। बोराव की तरफ विहार किया तो भयानक जंगल में रात्रि विश्राम किया। मैंने निवेदन किया कि महाराजश्री! गांव निकट ही है तो बोले—सूर्यास्त होने वाला है। अब सूक्ष्म जीव जन्तुओं का संचार बढ़ जाता है, यदि हम विहार करेंगे तो उनकी विराधना होगी। आगम ऐसी आज्ञा नहीं देता। धन्य है उनकी दृढ़ता को और आगम में अटूट निष्ठा को।

ऐसे साधु पुंगव को शीघ्र मोक्ष-लाभ हो, यही कामना करता हूं। △

दुर्द्धर तपस्वी

△ **श्री मदनलाल पाटनी, सुजानगढ़**

परम पूज्य स्व० आचार्यकल्प १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज एक अद्वितीय प्रतिभावान महापुरुष थे। हड्डियों का ढांचा मात्र शरीर के धारी होते हुए भी संयम में अत्यन्त दृढ़ एवम् कठोर तपस्वी थे। आप तप, त्याग से ओत-प्रोत और संघ के कुशल संचालक थे। आचार्यश्री के २-२ उपवास होने पर भी प्रवचन आदि में कोई कमी नहीं होती थी व चेहरे पर किसी प्रकार की शिथिलता नहीं दिखाई देती थी।

आप बड़े ही ध्यानी तपस्वी थे। ८-६ घन्टे एक आसन से बैठकर ध्यान किया करते थे। आपको ध्यान चर्या देखकर सहसा ही यह कथनी चरितार्थ हो जाती थी कि—

सम्यक् प्रकार निरोधि मन-वच-काय आत्म ध्यावते।
तिन सु थिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते॥

आप बड़े ही समदृष्टि थे, आपके सामने सभी समान थे। आप विरोधियों में जरा भी द्वेष भाव नहीं रखते थे, प्रेरणा से उनको बुलाते, सम्मान करते, धर्म चर्चायें करते, आप सभी के प्रति समता भाव रखते, सभी को कल्याणमार्ग में लगाने की प्रेरणा करते। आप—

अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निंदन थुति करन ।
अर्घावतारण असि प्रहारन में सदा समता धरन ।।

की साक्षात प्रतिमूर्ति थे । आपकी तपस्या दिन पर दिन वृद्धि पर थी, प्रमाद जरा भी आपके पास फटकने नहीं पाता था, तप की शक्ति अत्यधिक थी व आत्मबल बहुत बढ़ा-बढ़ा था ।

आपका सुजानगढ़ नगर में २ बार पदार्पण हुआ । पहली बार करीबन १-१।। महिना रहे, दूसरी बार सिर्फ २३ दिन रुके । आपका यहां रत्नत्रय ठीक तरह प्रतिपालित हो रहा था, किन्तु कौन जानता था कि यहां से विहार करके सीकर पहुंचने के ८ दिनों बाद ही आप इस नश्वर शरीर का परित्याग कर देंगे । आज उनका यद्यपि भौतिक शरीर नहीं रहा जिसके द्वारा वे धर्म का उद्योत और श्रावकों का कल्याण करते थे, किन्तु उनका पवित्र आत्मीय तेजपूर्ण आदर्श जन-जन के हृदय पटल पर स्थायी रूप से अंकित है ।

आपके वियोग से धर्म और समाज की जो महती क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है । उनके चरणों में हमारी श्रद्धांजलि तभी सार्थक हो सकती है जब हम अपने जीवन में संयम का महत्व समझें, एकता को अपनायें तथा अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयास करें ।

गुरुदेवश्री के चरणों में कोटि-कोटि नमन ! △

मुक्ति के पथिक

पं० श्री फूलचन्द जैन शास्त्री, व्याकरणतीर्थ; सुजानगढ़

संसार में जो व्यक्ति दृढ़ता के साथ वास्तविक तप एवं त्याग को आत्मसात् करता है, वही व्यक्ति स्व-पर कल्याण कर सकता है । इसके लिये ध्रुव स्वभावी त्रिकाली आत्मा पर अटल विश्वास की आवश्यकता है । और यह बात पूज्य विवेकसागरजी महाराज के रग-रग में भरी हुई थी, इसी से उनके जीवन में पवित्रता की ज्योति जगमगाती रही ।

जिन अनशनादि १२ प्रकार के तपों से संवरपूर्वक निर्जरा होती है, उनको आप यथा विधि जीवन में उतारते थे । मैंने सीकर चातुर्मास में आपके व्रतपरिसंख्यान तपकी दृढ़ता को देखा था । कई बार ऐसा अटपटा नियम लेकर निकलते जिसकी विधि २-३ दिन तक नहीं मिलती थी । आप अनशन कर लेते, हमेशा हंसमुख मुद्रा में रहते तथा समयानुसार उपदेशादि क्रिया करते थे । यह साधारण बात नहीं थी । कई तपस्वियों को क्षुधा के कारण विकल्प हो जाते हैं । आपने स्वर्गारोहण के दिन तक शिथिलता नहीं बरती, यह आपके दृढ़ तपश्चरण का ही प्रभाव था ।

आप संज्वलन कषाय के उदय से छठे गुणस्थान में होने वाले आहार या उपदेशादि के विकल्पों को उदासीनवृत्ति से करते थे । जब आप ध्यानस्थ होते तब ऐसा आभास होता था मानो

वीतराग धर्मध्यान में लीन शुद्धोपयोगी सन्त ही हों। यह दशा आपकी अप्रमत्त दशा की द्योतक थी।

आप पूरी दिगम्बर जैन समाज में चाय वाले महाराज के नाम से जाने जाते थे। जो व्यक्ति चाय त्याग का नियम नहीं लेता था उसके हाथ से आप आहार नहीं लेते थे। आपके इस दृढ़ संकल्प से हजारों भव्य जीवों ने चाय का त्याग कर व्रत पालन करने का सामर्थ्य प्राप्त किया है। मेरी धर्मपत्नी पहले एक व्रत या उपवास करती तो चाय के बिना सारे दिन माथा दुखता था। सीकर में महाराजश्री को आहार देने की तीव्र भावना से कुछ दिनों के लिये चाय छोड़ दी। दो चार दिन तो तबियत बिगड़ी पर बाद में उसने हमेशा का चाय का त्याग कर दिया। अब वह सभी व्रत-उपवासादि बिना परेशानी के करती है। वास्तव में चाय का त्याग धर्मसाधन में अत्यन्त उपयोगी है।

आपके उपदेश में हित-मित प्रिय वचन होते थे, आप कहा करते थे कि अरे भैय्या ! जो गृहस्थ छानकर पानी नहीं पीता रात्रि में भोजन करता है, जिनेन्द्र के दर्शन नहीं करता, होटलों में खाता है, मद्यादि का सेवन करता है, वह नाम मात्र का जैन है, वह वास्तव में जैन नहीं है। उसे जिनवाणी रुचिकर कैसे हो सकती है। जिनवाणी के ज्ञान बिना तत्त्वों की जानकारी नहीं हो सकती। तत्त्वों की जानकारी के बिना सच्चे सुख का मार्ग नहीं अपना सकता फिर भला सच्चा सुखी कैसे बने ? इसलिए उपर्युक्त दुराचारों से गृहस्थ को अवश्य बचना चाहिये।

आप ज्ञान और वैराग्य शक्ति से ओत-प्रोत थे। अमृतचन्द्राचार्य की यह युक्ति आपमें अक्षरशः घटित होती थी—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्यशक्तिः

अन्त में ऐसे सन्तों के गुणानुराग से हमारी भावना आत्म कल्याण की बने ऐसी अभिलाषा पूर्वक लेखनी को विराम देता हूं। △

प्रेरणास्पद व्यक्तित्व

△ श्री नरेन्द्रकुमार चोरड़िया, चित्तौड़गढ़

परम पूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्यकल्पश्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज सा. के सम्पर्क में मैं जनवरी १९८३ में आया। वैसे मैं श्वेताम्बर सम्प्रदाय का हूं, परन्तु इनके सम्पर्क में आने का मुख्य कारण श्री १०५ आर्यिका विशालमती माताजी हैं जो उस समय ब्रह्मचारिणी थीं तथा इनका सांसारिक नाम श्री कुसुमजी था। मेरे गृहस्थ जीवन की भतीजी होने से इनके लगाव होने के कारण मैं मुनिराज के दर्शन हेतु गया था।

मुनिराज ने सर्वप्रथम मुझे बिना पूर्व परिचय के सदुपदेश देकर रात्रि में अन्न ग्रहण का त्याग करवाकर मुझे सद्मार्ग पर लगाया।

इसके बाद में मेरा मुनिराज श्री से सम्पर्क निरन्तर बना रहा जिसका मुख्य कारण मुनिराज की आंखों में तकलीफ होने से जिस डॉ० का इलाज चल रहा था, वह चित्तौड़गढ़ का था जिससे डॉ० को ले आकर इलाज कराने का उत्तरदायित्व मैंने लिया था जिससे मेरा सम्पर्क निरन्तर बना रहा। पूज्यश्री का मुझ पर अत्यन्त अनुग्रह था। यह हम दोनों के पूर्वभव का ही कोई कारण था।

इस निरन्तर सम्पर्क एवं उनकी अनुग्रहदृष्टि के कारण मेरी कई बुरी आदतें कॉफी, सिगरेट, तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों के व्यसन की थीं वे छूट गईं। यह मुनिराज का आशीर्वाद ही तो था जिसके कारण उनके बिना कहे ही ये वस्तुयें मैं स्वतः अपनी इच्छा से छोड़ता गया और इससे मुझे आर्थिक एवं शारीरिक दोनों लाभ मिले।

आज जो मुझमें थोड़ी सी धर्मभावना पैदा हुई है उन भावनाओं को पैदा करने वाले परम पूज्य १०८ आचार्यकल्पश्री विवेकसागरजी महाराज सा० ही थे। यह सब इतना अल्प समय में मुझमें परिवर्तन होना मेरे लिये ही नहीं अपितु मेरे परिवार वालों के लिये भी आश्चर्य जैसी बात है कि मैं इतना कैसे बदल गया तथा मुनिराज ने इसे कैसे इतना बदल दिया।

मुनिश्री विवेकसागरजी महाराज सा० जिनवाणी में बताये गये मुनि-नियमों का पूर्णरूप से अक्षरशः पालन करते थे। इस कारण पूरे समाज में उनकी काफी इज्जत एवं सम्मान था तथा सभी लोग जो भी उनके सम्पर्क में एक बार आ जाते वे उन्हें कभी नहीं भूलते तथा वर्ष में एक बार चातुर्मास में जहां भी उनका चातुर्मास होता दर्शन करने के लिये अवश्य जाते थे।

मुनिराज का स्वास्थ्य खराब होने के समाचार सुनकर मैं सीकर उनका आराम पूछने के लिये तथा उनके दर्शन के लिये रवाना हुआ था, जयपुर में ही मुझे अखबार से पता चला कि मुनिराज देवलोक हो गये हैं। इन समाचारों को पढ़कर एक बार विश्वास नहीं हुआ तथा मैंने उसे पुनः पढ़ा फिर भी दिल में विश्वास नहीं हुआ पर होनी अटल होती है।

मुनिराज के बताये हुए धर्ममार्ग पर चलना ही मुनिराज को सच्ची श्रद्धांजलि है। △

रत्नत्रयाराधक पूज्य विवेकसागर

△ श्री कन्हैयालाल जैन, शहडोल (म० प्र०)

गुरु विवेकसागरजी ने आचार्य ज्ञानसागरजी से मुनि-दीक्षा ली थी। उन्हीं से आचार्य विद्यासागरजी ने भी दीक्षा ली थी। ज्ञानसागरजी ज्ञान के सागर थे, वे साहित्य अध्ययन एवं साहित्य रचना में निरत रहते थे, यही कारण है कि उनके द्वारा दीक्षित शिष्य मुनि विवेकसागरजी ज्ञानाराधक एवं विवेक के सागर बने तथा आचार्य विद्यासागरजी भी विद्या के सागर बने। दोनों शिष्यों के नाम सार्थक हैं तथा आचार्यश्री का नाम भी सार्थक ही था।

परिस्थितिवश साधु या ब्रह्मचारी बनने में तथा सांसारिक सुखों की अनुकूलताएँ रहते हुए

साधु बनने में बड़ा अन्तर है। हमारे तीर्थंकर एवं तीर्थंकर के समकालीन साधु अनुकूलताएं रहते हुऐ अन्तरंग वैराग्य भाव से साधु बने थे। कई अज्ञानी लोग कहते :—

तिया मुई घर सम्पत्ति नाशी, मूड मुंडाय भये संन्यासी ॥

किसी की पत्नी की मृत्यु हो गई, घर की सम्पत्ति नष्ट हो गई, अथवा घर में दरिद्रता है इस लिये निराश होकर संन्यासी बनने में लाभ देखकर, संन्यासी बन जाते हैं। मेरी समझ से ऐसी स्थिति में भी साधु बनना बुरा नहीं है।

गीत में कहा गया है—

विषया: विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्जं रसो ऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जिस व्यक्ति ने किसी वस्तु का त्याग किया, तो उस व्यक्ति की वह वस्तु भोग से छूट ही जाती है। यदि मन में उस वस्तु के प्रति राग भी बना रहा तो वस्तु के छूटे रहने से फिर वह राग भी छट जाता है।

जैन धर्म बाहरी परिस्थितियों को कम, अंतरंग की वैराग्य भावना को अधिक महत्व देता है। आचार्य ज्ञानसागरजी अपनी पूर्व अवस्था में स्वावलम्बी जीवन बिताते थे, यहां तक कि वे वाराणसी में गमछे बेच कर विद्याध्ययन करते थे। गुरु विवेकसागरजी ने भी गहस्थ अवस्था में अर्थार्जन किया था, उन्हें घर गृहस्थी की कोई प्रतिकूलता नहीं थी।

इस प्रकार उनकी विरक्ति परिस्थितिजन्य नहीं, बल्कि अन्तरंग विरक्ति थी। यही विरक्ति सम्यक् श्रद्धा की यथार्थता को अभिव्यंजित करती है। साधु जीवन अंगीकार करने के उपरान्त पूज्य विवेकसागरजी उग्र तपस्या करते हुये एवं नीरस आहार लेते हुये अर्थात् चारित्र का निर्दोष पालन करते हुए अपनी ज्ञान साधना करते रहे।

मुनिश्री विवेकसागरजी ने श्रावकों में ज्ञान के प्रसार करने को सर्वाधिक महत्व दिया। ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सात तत्त्वों का श्रद्धान अथवा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अथवा मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषायों का त्याग निश्चय सम्यग्दर्शन है, तो सात तत्त्वों का अथवा देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप अथवा मिथ्यात्व एवं कषायों का स्वरूप ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता है।

छहढाला में श्री दौलतरामजी ने कहा है—

बिन जाने तें, दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये।

किसी का स्वरूप समझे बिना श्रद्धान आदि कैसे किया जायेगा। चारों गतियों में सम्यग्दर्शन

प्राप्ति के कारणों में एक कारण सामान्य है, वह है धर्म श्रवण, धर्म श्रवण से ज्ञान होता है और उसके बाद सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होते हैं। धर्मोपदेश अथवा धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन दोनों ही ज्ञान के साधन हैं।

गुरु विवेकसागरजी ने अपने चातुर्मासों में धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन एवं वितरण की प्रेरणा देकर समाज के द्रव्य का सर्वाधिक उपयोग कराया है, इस कार्य से चेतन आत्माओं के विकास में सहायता मिलती है। क्योंकि अध्ययन न केवल ज्ञान को विकसित करता है बल्कि सम्यक् श्रद्धा को उत्पन्न करके उसे दृढ़ बनाता है और चारित्र को भी परिष्कृत करता है। ज्ञान के बिना न सम्यक् श्रद्धा हो सकती है और न सम्यक् चारित्र।

पूज्य मुनि विवेकसागरजी ने विवेक का उपयोग किया और समाज का विवेक जगाने का कार्य किया। रत्नत्रय के आराधक उन विवेकसागर महाराज की दिवंगत आत्मा के प्रति अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

उनको इस ज्ञान प्रसार में श्री पं० विद्याकुमारजी सेठी एवं श्री माणकचन्दजी पाटोदी को सहयोग देने का सौभाग्य मिला, उन सहयोगियों को भी मैं विवेकी और भाग्यवान् मानता हूं। △

विनयाञ्जलि

△ पं० रतनलाल जैन, इन्द्र भवन, इन्दौर (म० प्र०)

श्री १०८ प्रातः स्मरणीय, रत्नत्रय विभूषित, ध्यानाध्ययन में निरन्तर संलग्न, आचारशास्त्र की मर्यादा के पालक, निर्ग्रन्थ परम्परा को गौरवान्वित करने वाले, व्यवहार-परमार्थ के वेत्ता, २८ मूलगुणों का निर्दोषरीत्या पालन करने वाले, उत्कृष्ट गुरु के श्रेष्ठ शिष्य, परम श्रद्धेय मुनिराज श्री विवेकसागरजी का पार्थिव देह अब हमारे मध्य नहीं है, परन्तु उनके उपचार, उनकी शिष्य परम्परा, सत् साहित्य का विपुल मात्रा में प्रकाशन, स्थान-स्थान पर वर्षायोग के द्वारा धर्म प्रभावना, यत्र-तत्र सर्वत्र विहार से सदाचार की अभिवृद्धि इत्यादि अनेकानेक उत्तमोत्तम धर्म प्रभावना के कार्य युगों-युगों तक पथ-प्रदर्शक का कार्य करते रहेंगे। शरीर तो अनित्य है ही परन्तु इस मनुष्य शरीर से जिन पुण्य पुरुषों ने स्व-पर का कल्याण किया है उनका ही जीवन धन्य है, प्रशस्त है, श्रेष्ठ है। वर्तमान पंचम काल में संयम से अपने जीवन को आदर्श बनाने वाले पुरुष न कुछ के बराबर हैं, वैराग्य भावों का प्रादुर्भाव होना ही अति दुर्लभ है, वहां पूर्व संस्कारों के कारण तथा बर्तमान पुरुषार्थ से पुण्योदय से प्राप्त समस्त अनुकूल सामग्री से निस्पृह होकर आत्मकल्याण पथ पर अग्रसर हो जाना व निरन्तर १७ वर्षों तक संयम की आराधना करना सामान्य बात नहीं है। यह कार्य महान पुरुषों का ही है। आपके प्रथम दर्शन से ही जन साधारण धर्म भावना से भर जाता था। ऐसे विरले ही प्रसंग देखने में आते हैं कि गृहस्थ अवस्था के पति-पत्नी संयम मार्ग में भी मुनि-अर्जिका होकर मोक्षमार्ग प्रशस्त करें,

जैसे श्री रामचन्द्रजी व सीतादेवी ने मुनि आर्जिका होकर अपना कल्याण किया आपने अपने शिष्यों के नाम विवेकसागर के प्रथमाक्षर "वि" के अनुसार ही रखे।

आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी के व आपके दीक्षा गुरु श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज श्री थे। अतः गुरु के गुण शिष्यों में होना सोने में सुगन्ध के अनुसार है। ऐसे गुरु चलते-फिरते जंगम तीर्थ होते हैं। उनके दर्शन बड़े पुण्यों से ही होते हैं, जिनकों दर्शनों का लाभ मिला वे भव्य भी धन्य हैं। उनके चरण जहां जहां गिरे वहां वहां की भूमि भी पावनता को प्राप्त हुई। मुझे भी कई बार दर्शनों का लाभ मिला, परन्तु अब सदेह दर्शन दुर्लभ हो गये, मात्र भावनाओं से दर्शन होते हैं व आगे भी होते रहेंगे। उनका अव्रतावस्था का तथा महाव्रतावस्था का जीवन यत्र-तत्र लेखों में निबद्ध है ही, मैं तो उनके ध्यान स्वाध्याय से बहुत ही प्रभावित हूं। इस विषम काल में प्रशस्त ध्यान व सत् शास्त्रों का स्वाध्याय बड़ा दुर्लभ है।

अन्त में, मैं प्रभु से यही प्रार्थना करता हूं कि उस ही पवित्र रत्नत्रयमार्ग का मुझे भी शीघ्रातिशीघ्र लाभ हो, जिससे सम्यक् समाधिपूर्वक इस दुर्लभ मानव पर्याय को सफल बनाऊँ। पूज्यश्री की परम शिष्या १०५ आर्यिका विशालमतीजी के द्वारा बहुत ही धर्म प्रभावना हो रही है, और आगे भी सम्यक् प्रकार से होती रहेगी, ऐसी मंगल कामना है।

आपश्री की (देहपुत्री) व धर्मपुत्री ब्र० सरलाजी के द्वारा भी सदाचार सत् श्रद्धान व सद्ज्ञान का सम्यक् प्रसार हो, यही शुभ भावना है। अस्तु ! आपश्री के पवित्र गुणों का पुनः पुनः स्मरण करता हुआ दिवंगत आत्मा को बारम्बार नमोस्तु। △

श्रद्धा-वाणी

△ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम. ए. जावरा (म प्र.)

महाविषम जग-भोग-भूमि में एक लकीर योग की तुम थे-
इच्छा के आकाशी तारे, गिर न सकोगे पूर्ण न होंगे-
अतः बन्धु अब सहज भाव ले, जी भर अपरिग्रह पढ़िये।
अन्य मानवों के सम्मुख तो, लक्ष्मी-पर्वत तुंग शिखर पर-
अन्यायी शोषक दानव हो, भूल नहीं अब आगे बढ़िये।
जो कुछ भी है मिला भाग्य से, सत्य समझकर मनमें काफी-
सन्तोषित-आनन्दित होकर, जग के सुख-दुख निर्भय सहिए।
मानव-देह मिली मुश्किल से, क्या अब तक भी समझ न पाए ?
समझ लिया तो बहुत भला अब, जिओ और जीने दो कहिये।
महा मलिन युग भोग-भूमि में, एक फकीर योग के तुम थे-

जग जैसे है रात-दिवस औ फूल-शूल का अद्भुत संगम ।
निराधार जग-चित्र दीखता, अस्थिर होकर अतिशय अनुपम ।।
जग जैसे है उत्थान-पतन, सुख-दुख मूलक मानव-जीवन ।
मरना-जीना औ जी मरना, जि जीविता-महाकरण-जीवन ।।
अपने जैसे सब जीव समझ, अस्तित्व सभी का स्वीकारो ।
बचा सको यदि नहीं किसी को, तो भूल नहीं उनको मारो ।।
धर्म-मार्ग पर बढ़ने वाले, सत्य व्रताचारी स्वागत तब ।
सब को ही सन्मार्ग दिखाकर विश्व बसाओ उज्ज्वल अभिनव ।।

अमल धवल सब कर्म-भूमि में, एक वजीर योग के तुम थे-

साथ न कुछ भी लेकर आए, और न कुछ भी ले जा सकते-
धर्म-ग्रन्थ यह युग युग से प्रिय, बन्धु तुम्हें यह निशि-दिन कहते ।
पर तुम यह सब भूल भुलाकर, लक्ष्मी के हित दौड़ रहे हो-
और हेनरी फोर्ड बने तुम, युग-युग से कर होड़ रहे हो ।
जग में सचमुच नहीं जरा सुख, होता तो तीर्थंकर क्यों तजते !
राज महल-परिजन बालाएं, तजकर भूल न बन को चलते ! !
अब तक जो कुछ किया भुला दो, अब तो अपने घर आओ ।
शरीर अर्थ अर्जन ना समझो, किन्तु आचरण कर दिखलाओ ।।

महा विमल युग कर्म-भूमि में एक नजीर योग की तुम थे-

अणुव्रत मध्यम मार्ग बना नित, सत्य नागरिकता सिखलाता ।
यथा शक्ति तप-त्याग तपस्या, जीवन-जल में कमल खिलाता ।।
नैतिकता आत्मिक आस्तिकता, लोक और परलोक बनाना ।
देव-अर्चना गुरु उपासना, स्वाध्यायित नित कर्म बताता ।।
जीवन में नित जागरूक रह, सतत सजग रह जात रूप धर ।
बाहर-भीतर एक रूपता, तनु-ममता तज तो अनुपम बर ।।
संयम की प्रतिमा बन विचरो, सिंह वृत्ति ले निखिल भुवन में ।
सत्य महाव्रत अमृत औषधि, आत्मानुभूति की सत्ता ले ।।

संसृतिकी भीषण क्षुधा को स्रोत सुनीर योग के तुम थे-

सात समन्दर पार न जाना, और सातवां नभ मत छूना ।
सत्य भयावह सात रसातल, भीषण मार काट दुख दूना ।।

पशु-मानव के दुख का कारण, क्रोध मान माया और तृष्णा ।
हिंसा-चोरी झूठ परिग्रह, कुशील में समझो कुछ रसना ।।
ऊपर स्वर्गों का सुख काफी, नीचे नरकों का दुख काफी ।
मध्यलोक की कर्म-भूमि में, कर्म कटें, कर प्रयत्न काफी ।।
पाप अशुभ तज, पुण्य सुशुभ कर, सफल श्रावकाचार सीख लो ।
महाव्रती अनगार हुए तो, धर्मामृत अनगार सीख लो ।।

महा विमल युग कर्म-भूमि में, एक नजीर योग की तुम थे ।
सब संसृति के विषय विपिन में, सुखद समीर योग की तुम थे ।।

हम चाहें या ना चाहें पर, परिवर्तन की वायु चलेगी ।
मानव-जीवन अमृत-सागर, विष-कुण्ड बने मौत खलेगी ।।
जीवन की आपा धापी में, पाप पुण्य पर छा जावेगा ।
मानव की दानव प्रवृत्ति से, काफी अन्तर आ जावेगा ।।
सत्य-अहिंसा मैत्री-करुणा की धाराएं बहा करेंगी ।
सस्वर सस्वर या चुप चुप हो, जगती तल में जहां रहेंगी ।।
जब स्वभाव सी धाराओं को, विभाव धारा नित कुचलेगी ।
तब दानवता युद्ध-वीरता, आतंकवाद नाम रख लेगी ।।
जर-जोरू जमीन हित छल बल, ले अहम्भाव आगे आवे ।
मानवता रोवे मचल मचल, पहल शांति हित खो खो जावे ।।

सब संस्कृति के बीहड़ वन में, सुखद सुधीर योग से तुम थे !
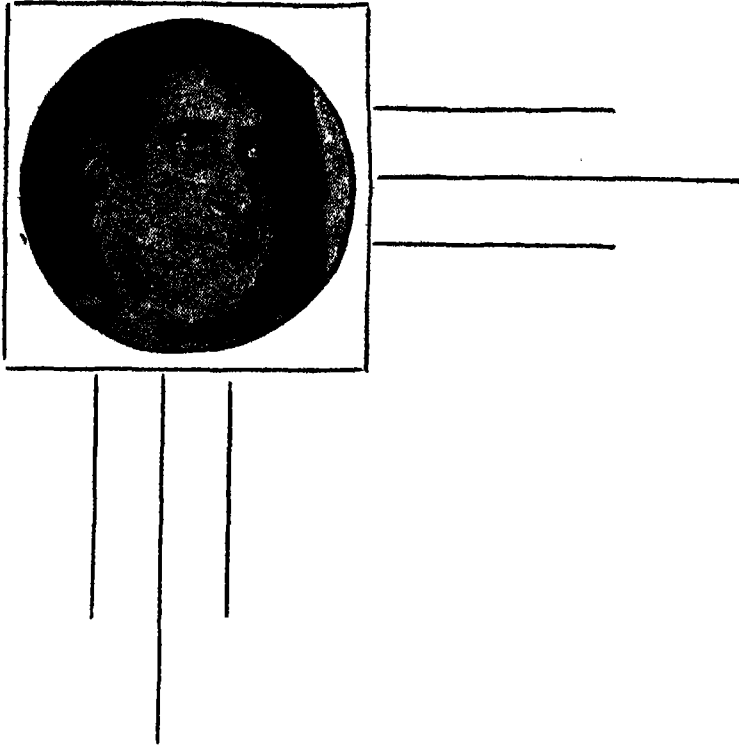
द्वि
ती
य
ख
ण्ड

卐 पूज्यश्री की छाया-छवियाँ 卐

सेठ श्रीमान् लक्ष्मीनारायणजी छावड़ा

ब्रह्मचारी श्री लक्ष्मीनारायणजी छावड़ा

प० पू० १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समक्ष मुनिश्री विद्यासागरजी महाराज दीक्षार्थी ब्र० लक्ष्मीनारायणजी का केशलोच करते हुए; साथ में संघस्थ क्षु. सन्मतिसागरजी का केशलोच

दीक्षार्थी ब्र० लक्ष्मीनारायणजी मुनिदीक्षा के समय वस्त्र-परित्याग करते हुए
दीक्षा-समारोह: फाल्गुन कृ० ५, सं० २०२५, नसीराबाद (राज०)

पूज्य महाराजश्री
केशलोच
करते हुए

केशलोच के
बाद
पूज्य महाराजश्री

卐

आहार के बाद पूज्य महाराजश्री को
पिच्छिका देते हुए
ब्र. श्री सुगनचन्दजी छाबड़ा (पिता);
साथ में संघस्थ ब्र. ज्ञानानन्दजी
और
श्री निर्मलकुमार छाबड़ा (पुत्र)
(वाशिम)

卐

卐

पिड़ावा से विहार

卐

मारोठ में ग्रन्थ-विमोचन समारोह

कूकनवाली में वर्षायोग की समाप्ति पर ब्र० छीतरमलजी
पूज्य महाराजश्री को नवीन पिच्छिका भेंट करते हुए—
माइक पर पं० विद्याकुमारजी सेठी

श्री सुगनचन्दजी गोधा (बहनोई) व सौ. रतनदेवी (बहन) पूज्यश्री के सान्निध्य में

वाशिम में श्री पुरातन दिग. जैन मन्दिर के दर्शन कर लौटते हुए पूज्य महाराजश्री, साथ में ब्र. सरला (पुत्री) व अन्य जन

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, वाशिम में श्री पार्श्वनाथ भगवान के दर्शन करते हुए पूज्य महाराजश्री

वाशिम में पूज्यश्री के सान्निध्य में मोक्ष सप्तमी-पूजन
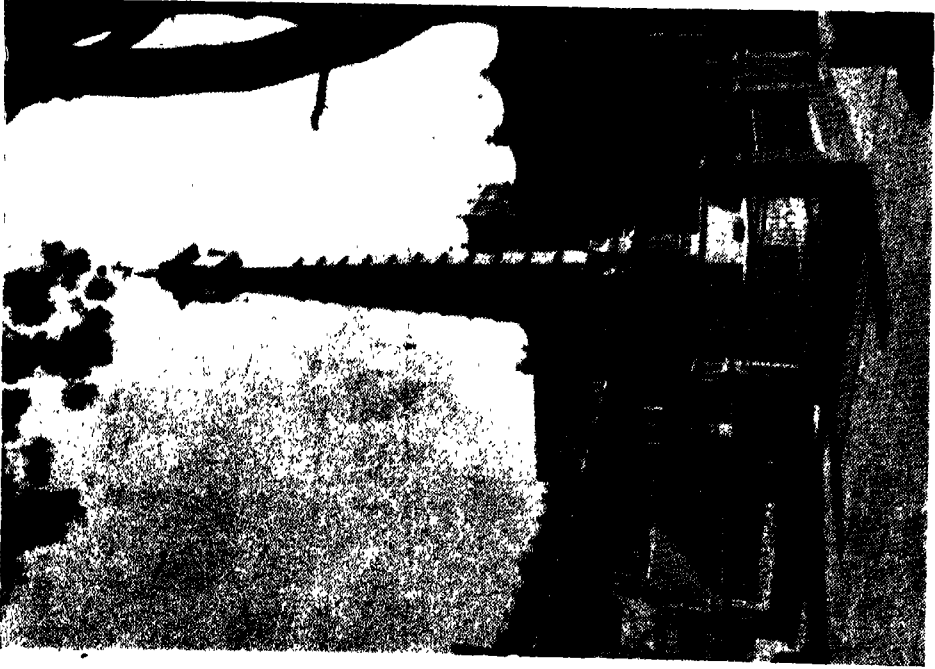
श्री दिगम्बर जैन नागौरी नशियांजी, कुचामन सिटी, प० पू० आचार्यकल्प १०८ श्री विवेकसागरजी म० का स्वप्न में देखा मानस्तम्भ का सपना साकार

ध्यानलीन महाराजश्री

प्रथम चातुर्मास कुचामन सं० २०२९ पूज्य क्षुल्लक संभवसागरजी, पूज्य ब्रा० क० विवेकसागरजी, क्षुल्लक उदयसागरजी एवम् पंडित विद्याकुमारजी सेठी

द्वितीय चातुर्मास कुचामन सं० २०३१, प० पूज्य मुनि विवेकसागरजी, पूज्य मुनि विनयसागरजी, क्षुल्लक उदयसागरजी एवम् क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी

कुचामन में वर्षायोग (सं० २०४१) के समापन पर दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर
श्री माणकचन्दजी पाटोदी द्वारा पूज्यश्री की पिच्छिका का परिवर्तन
साथ में खड़े हैं पं० विद्याकुमारजी सेठी

तृतीय चातुर्मास कुचामन सं० २०४१ समापन समारोह के अवसर पर श्रीजी की सवारी का दृश्य

* शिष्य वर्ग *

प्रथम दीक्षित मुनिश्री विजयसागरजी
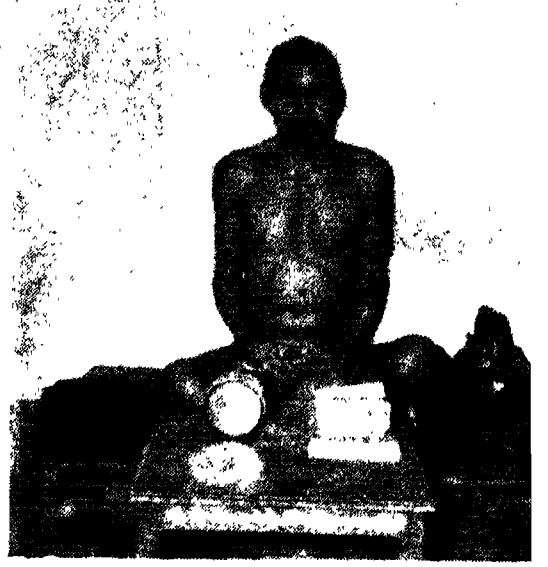
द्वितीय दीक्षित मुनिश्री विनयसागरजी

प्रथम दीक्षित आर्यिका १०५ श्री विपुलमती माताजी

पिड़ावा में ब्र० कुसुम बहिन/आर्यिका विशालमतीजी का दीक्षा-प्रसंग
(साथ मे ब्र० सरला बहिन, सन्तोष बहिन और लीला बहिन)

आचार्यकल्पश्री संघ को उद्बोधन देते हुए

मारोठ में दीक्षा के समय आर्यिका विद्युतमतीजी को पिच्छिका प्रदान करते हुए आचार्यकल्पश्री
(साथ में ब्र० कंचन बहिन और मधु बहिन)

आचार्यकल्पश्री विवेकसागरजी म० ३-२-८६ सीकर (राज)

आर्यिका विपुलमती माताजी २५-१-८१, मन्दसौर (म० प्र०)

॥ म हा प्र या ण ॥

अन्तिम यात्रा सीकर राजस्थान

श्रीफलों के बीच पूज्यश्री का पार्थिव शरीर
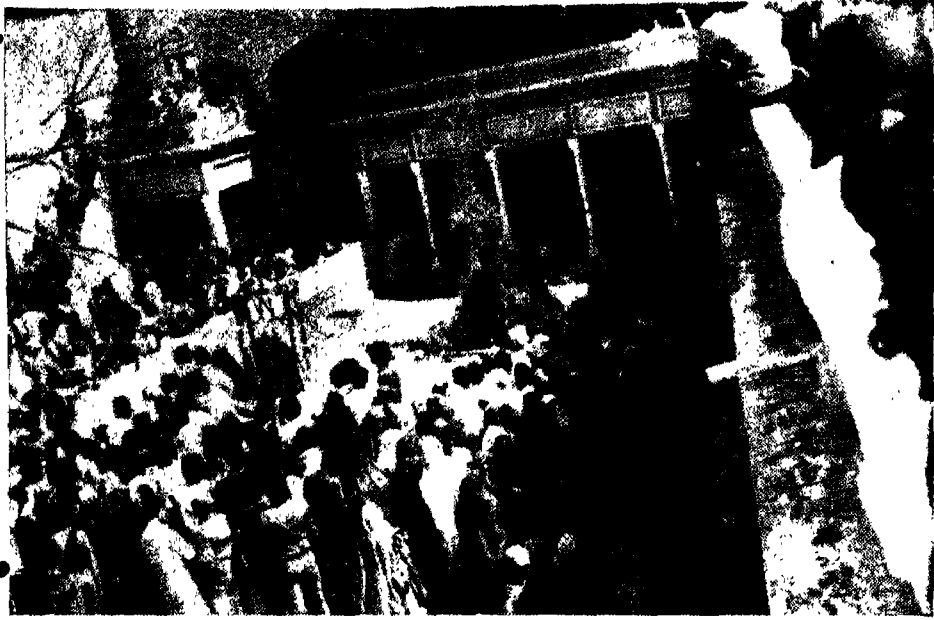
प्रज्वलित अग्नि के मध्य पूज्यश्री का पार्थिव शरीर
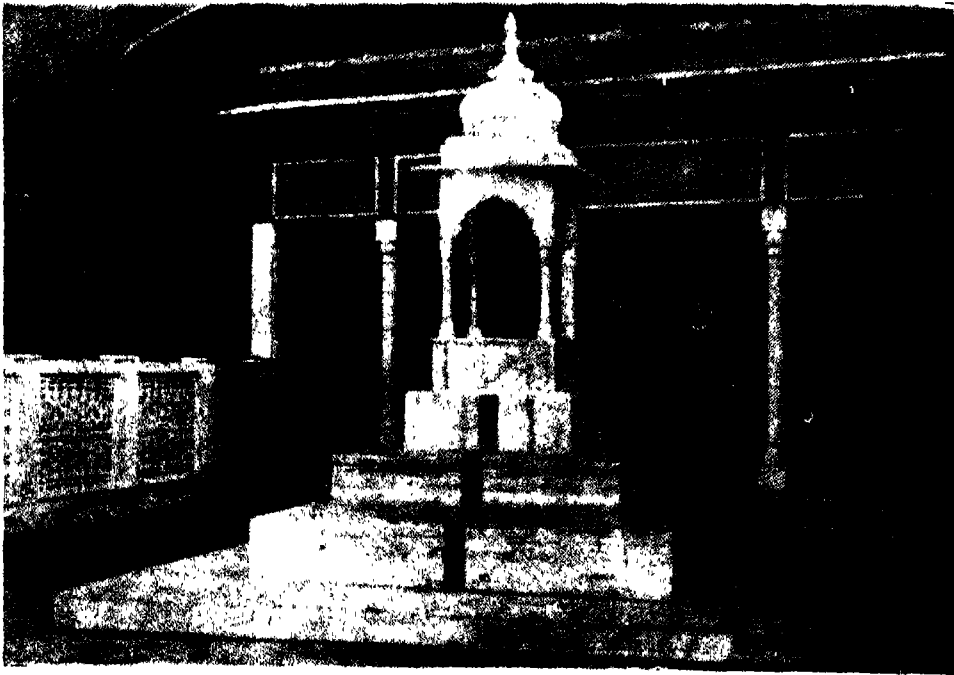
स्व० पूज्यश्री विवेकसागरजी महाराज की समाधि स्मृति में निर्मित छतरी
स्थान : श्री दीवानजी की नसियां, सीकर राजस्थान
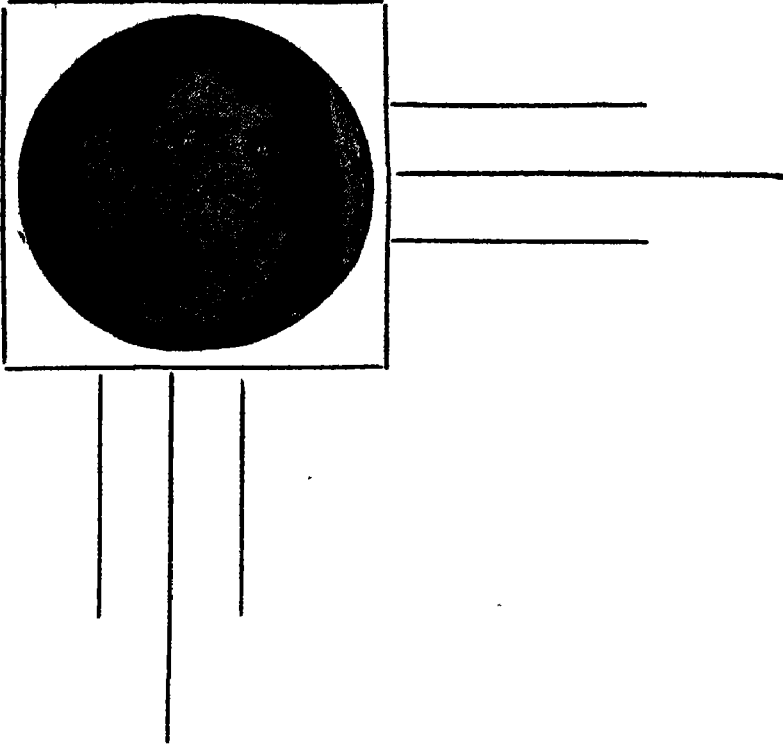
तृतीय खण्ड

卐 वृहद्द्रव्यसंग्रह 卐

* विषय-सूची *

तीसरा अधिकार १७१–२५०

विषय	पृष्ठ

आचार्यकल्प १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

(संक्षिप्त जीवन झांकी)

जन्म तिथि	:	वि. सं. १६७०, आषाढ़ कृष्णा दशमी
जन्मस्थान	:	ग्राम–मरवा (जयपुर–राजस्थान)
जन्मनाम	:	लक्ष्मीनारायण
जाति	:	खण्डेलवाल
गोत्र	:	छाबड़ा
वर्ण	:	वैश्य
पिताश्री	:	सुगनचन्दजी छाबड़ा
मातुश्री	:	राजमती देवी
विवाह	:	प्रथम विवाह १५ वर्ष की उम्र में, द्वितीय १६ वर्ष की उम्र में।
संयम ग्रहण	:	**प्रथम प्रतिमा**—क्षु. १०५ विद्यासागरजी से।
		द्वितीय प्रतिमा—आचार्य विमलसागरजी से।
		सप्तम प्रतिमा—मुनिश्री १०८ आर्यनन्दी महाराज से।
मुनिदीक्षा	:	वि. सं. २०२५ फाल्गुन कृष्णा पंचमी, नसीराबाद (राज०)
दीक्षागुरु	:	आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज
कुल वर्षायोग	:	१७
विहार क्षेत्र	:	राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र
दीक्षित शिष्य समुदाय	:	१. मुनिश्री विजयसागरजी २. मुनिश्री विनयसागरजी
		३. आर्यिका विपुलमतीजी ४. आर्यिका विशालमतीजी
		५. आर्यिका विज्ञानमतीजी ६. आर्यिका विद्युतमतीजी
समाधि	:	फाल्गुन कृष्णा अष्टमी, वि. सं. २०४२; सीकर (राज०)

卐卐

卐 श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः 卐

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः ।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित सकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ।।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

।। श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः । सकलकलुष-विध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीवृहद्द्रव्यसंग्रह नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवा-स्तेषां वचनानुसारतामासाद्य श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।

ग्रन्थकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

बहुत समय तक यह धारणा प्रचलित रही थी कि बृहद्‌द्रव्यसंग्रह के रचयिता 'गोम्मटसार', 'त्रिलोकसार', 'लब्धिसार', 'क्षपणासार' आदि के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं, परन्तु अब साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि बृहद्‌द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता 'तनुसूत्रधर मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव हैं सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य नहीं।

टीकाकार ब्रह्मदेव ने प्रतिज्ञा में टीका से पूर्व लिखा है—"अथ मालवदेशे ·····भाण्डागाराद्यनेक नियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशति गाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद् विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्‌द्रव्यसंग्रह स्याधिकारशुद्धिपूर्वकात्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।" "मालवदेश में·······भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोम नामक राजश्रेष्ठि के लिए श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने पहले २६ गाथाओं के द्वारा लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ लिखा। फिर विशेषतत्त्वों के ज्ञान के लिए बृहद्‌द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। उसकी वृत्ति प्रारम्भ करता हूँ।" यह उद्धरण स्पष्ट घोषणा करता है कि लघुद्रव्यसंग्रह और बृहद्‌द्रव्यसंग्रह दोनों के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव हैं। 'बृहद्‌द्रव्यसंग्रह' की अन्तिम ५८वीं गाथा में स्वयं ग्रंथकार ने अपने नाम का निर्देश किया है :—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोस-संचय-चुदा सुद-पुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्द मुणिणा भणियं जं ॥५८॥

"यह द्रव्यसंग्रह अल्पसूत्रधारी नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा रचा गया है। गुणों के भण्डार, श्रुतज्ञानी, श्रमणनायक इसे निर्दोष बना लेवें।"

अब प्रश्न है कि ये मुनि नेमिचन्द्र कौन हैं? कब हुए हैं तथा इनकी लिखी और कौनसी रचनायें हैं? क्योंकि जैन परम्परा में नेमिचन्द्र नाम धारी अनेक विद्वान् हुए हैं—

डॉ० दरबारीलाल कोठिया ने स्वसम्पादित '**द्रव्यसंग्रह**' की प्रस्तावना में नेमिचन्द्र नामधारी चार प्रसिद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है—१. मूर्द्धन्य सिद्धान्त ग्रन्थों के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। ये गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। इनका समय वि० सं० १०३५ या ई० सन् ९७८ के बाद है। २. वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव द्वारा अपने उपासकाध्ययन में उल्लिखित नेमिचन्द्र दूसरे नेमिचन्द्र हैं। इन नेमिचन्द्र के गुरु नयनन्दि थे और शिष्य वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव ३. तीसरे नेमिचन्द्र ने सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र के गोम्मटसार पर जीवतत्त्वप्रदीपिका नामकी संस्कृत टीका लिखी थी। ४. चौथे नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह के रचयिता हैं।

'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने इस सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—"प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्र को तो एक नहीं कह सकते। ये दोनों दो व्यक्ति हैं। सिद्धान्तचक्रवर्ती मूल ग्रन्थकार हैं और तृतीय नेमिचन्द्र टीकाकार।....दोनों के पौर्वापर्य में ५०० वर्षों का अन्तराल है। प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र वि० की ११वीं शताब्दी में हुए हैं तो द्वितीय उनसे १०० वर्ष बाद वि० की १२वीं शताब्दी में; क्योंकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव के गुरु थे और वसुनन्दि का समय वि० सं० ११५० के लगभग है।....प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न हैं। प्रथम अपने को 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' कहते हैं[1] तो चतुर्थ अपने को तनुसूत्रधर[2]।....अतएव हमारी दृष्टि में द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव हैं। पण्डित आशाधरजी ने वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव का सागार धर्मामृत और अनगारधर्मामृत दोनों ही टीकाओं में उल्लेख किया है और वसुनन्दि ने इन सिद्धान्तिदेव का अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है तथा इन्हें श्रीनन्दि का प्रशिष्य एवं नयनन्दि का शिष्य बतलाया है। ये नयनन्दि यदि 'सुदंसणचरिउ' के रचयिता हैं जिसकी रचना उन्होंने भोजदेव के राज्यकाल में वि० सं० ११०० में की थी तो नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव नयनन्दि से कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दि से कुछ पूर्ववर्ती अर्थात् वि० सं० ११२५ के लगभग के विद्वान् सिद्ध होते हैं। पण्डित आशाधरजी ने द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्र का उल्लेख किया है अतएव वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव के गुरु द्रव्यसंग्रह रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ही होंगे।"

इनके अस्तित्वकाल के सम्बन्ध में डॉ० कोठिया ने अपना फलितार्थ प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"यदि नयनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र को उनसे अधिक से अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० स० ११२५ के ठहरते हैं।

द्रव्यसंग्रह का रचना क्षेत्र 'आश्रम नगर' बताया गया है जो इतिहासकारों के अनुसार राजस्थान में कोटा से उत्तरपूर्व की ओर लगभग नौ मील की दूरी पर और बून्दी से लगभग तीन मील दूर चम्बल नदी पर अवस्थित वर्तमान 'केशोरायपाटण' अथवा 'पाटणकेशोराय' ही है। प्राचीनकाल में यह राजा भोजदेव के परमार साम्राज्य के अन्तर्गत मालवा में रहा है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव की दो ही रचनायें उपलब्ध हैं—१ लघुद्रव्यसंग्रह और २ बृहद्द्रव्यसंग्रह **लघुद्रव्यसंग्रह** : टीकाकार ब्रह्मदेव ने इसमें २६ गाथायें होने की सूचना दी है परन्तु लघुद्रव्यसंग्रह की प्राप्त प्रति में २५ गाथायें ही मिलती हैं। सुधी समीक्षकों का अनुमान है कि बृहद्द्रव्यसंग्रह में २० नम्बर पर पायी जाने वाली गाथा लघुद्रव्यसंग्रह की उपलब्ध ग्रन्थ प्रति में छूटी हुई मानना चाहिए।

ग्रन्थकर्त्ता ने इसका नाम 'द्रव्यसंग्रह' नहीं दिया किन्तु 'पयत्थ लक्खण कराओ गाहाओ' कहा है जबकि 'द्रव्यसंग्रह' को स्पष्ट 'दव्वसंगहमिणं' कहा है। द्रव्यसंग्रह की रचना के बाद ग्रन्थकार अथवा दूसरों के द्वारा इसे

---

१. जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।

तह मइ-चक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥ कर्मकाण्ड गा० ३९७ ॥

२. बृहद्द्रव्य संग्रह गाथा ५८

'लघुद्रव्यसंग्रह' कहा गया है। दोनों रचनायें स्वतन्त्र रूप से लिखी गई हैं। 'बृहद्' 'लघु' का विस्तार नहीं है। गाथा संख्या ८, ९, १० और ११ का पूर्वार्द्ध और १२ तथा चौदह गाथाएँ बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी है शेष १६½ गाथाएँ बृहद्द्रव्यसंग्रह से भिन्न हैं। दोनों के मंगलाचरण और अन्तिम गाथाएँ भी सर्वथा भिन्न हैं।

पहली गाथा में वक्तव्य विषय के निर्देश के साथ मंगलाचरण है। दूसरी गाथा में द्रव्यों और अस्तिकायों का तथा तीसरी गाथा में तत्त्वों और पदार्थों का नाम निर्देश किया है। ग्यारह गाथाओं में द्रव्यों का, पाँच गाथाओं में तत्त्वों और पदार्थों का एवं दो गाथाओं में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का कथन किया है। उत्तरवर्ती दो गाथाओं में ध्यान का निरूपण आया है। २४वीं गाथा में नमस्कार और २५वीं गाथा में नामादि कथन है। संक्षेप में जैन तत्त्व ज्ञान की जानकारी इस ग्रन्थ से हो जाती है। ग्रंथ में द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ और अस्तिकायों का स्वरूप बतलाया गया है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह : श्री नेमिचन्द्र मुनि कृत 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ परिमाण में लघु (मात्र ५८ गाथायें) होते हुए भी इतना व्यवस्थित, सरल और स्वतः पूर्ण है कि जैनदर्शन की प्रायः सभी मोटी-मोटी बातों का इसमें वर्णन आ गया है। द्रव्यसंग्रहकार ने जैनदर्शन के छहद्रव्यों, पाँच अस्तिकायों सात तत्त्वों और नौ पदार्थों के दार्शनिक विवेचन को लक्ष्य न बना कर केवल उनका आगमिक वर्णन किया है। ग्रन्थ में प्राकृत भाषा में रचित कुल ५८ गाथायें है। रचयिता ने इसमें अधिकारों का विभाजन नहीं किया है। टीकाकार ब्रह्मदेव के अनुसार इसमें तीन अधिकार और उनके अन्तर्गत आठ अन्तराधिकार हैं। **'षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय' प्रतिपादक पहले अधिकार में** २७ गाथायें हैं और तीन अन्तराधिकार। प्रथम अन्तराधिकार में १४ गाथाओं में जीव द्रव्य का वर्णन है; दूसरे में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच अजीवद्रव्यों का आठ गाथाओं में वर्णन है; तीसरे अन्तराधिकार में पाँच गाथाओं में पाँच अस्तिकायों का कथन है।

'सप्ततत्त्वनवपदार्थ' प्रतिपादक दूसरे अधिकार में ग्यारह गाथाओं में (२७ से ३८) दो अन्तराधिकार हैं। प्रथम अन्तराधिकार में १० गाथाओं में जीवादि सात तत्त्वों का वर्णन है और दूसरे में ३८वीं गाथा द्वारा उक्त सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ पदार्थों का स्वरूप कथन है।

'मोक्षमार्ग' प्रतिपादक तीसरे अधिकार में बीस गाथाओं में (३९ से ५८) दो अन्तराधिकार हैं। इस अधिकार की प्रथम आठ गाथाओं (३९ से ४६) में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का कथन है। ४७वीं गाथा से ५७वीं गाथा तक ध्यान और ध्येय (पंचपरमेष्ठी) का संक्षेप में निरूपण है। स्वागता छन्द में रचित अन्तिम ५८वीं गाथा में ग्रंथकर्त्ता ने अपनी लघुता प्रकट की है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' को 'लघु पंचास्तिकाय' कहा है। दोनों की तुलना करते हुए वे लिखते हैं—"पंचास्तिकाय की शैली और वस्तु को द्रव्यसंग्रहकार ने अपनाया है जिससे उसे लघु पंचास्तिकाय कहा जा सकता है। पंचास्तिकाय भी तीन अधिकारों में विभक्त है और द्रव्यसंग्रह भी तीन अधिकारों में। पंचास्तिकाय के प्रथम अधिकार में द्रव्यों का, द्वितीय में नौ पदार्थों का और तृतीय में व्यवहार एवं निश्चय मोक्ष–

का कथन आया है। द्रव्यसंग्रह मार्ग के तीनों अधिकारों में भी क्रमशः उक्त विषय ही आया है। पंचास्तिकाय में सत्, द्रव्य, गुण पर्याय आदि कभी दार्शनिक चर्चायें हैं, पर द्रव्यसंग्रह में उनका अभाव है।" (तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० परम्परा, खण्ड २ पृ० ४४२)

प्रस्तुत कृति द्रव्यानुयोग का ग्रंथ होते हुए भी अध्यात्मग्रन्थ है। स्वयं टीकाकार ब्रह्मदेव ने इसे 'अध्यात्म-शास्त्र' (पृ० ६) कहा है। द्रव्यसंग्रहकार ने निश्चय एवं व्यवहार दोनों नयों से निरूपण किया है। गाथाओं में णिच्छयदो, ववहारा, सुद्धणया, असुद्धणया (गाथा ३, ६, ७, ८, ९, १०, १३, ४५) जैसे पदों का प्रयोग द्रष्टव्य है। व्यवहार नय में किसी अवान्तर भेद का निर्देश तो द्रव्यसंग्रह में नहीं है किन्तु निश्चय के शुद्ध और अशुद्ध भेदों का निर्देश अवश्य है।

द्रव्यसंग्रहकार ने १६वीं गाथा में 'तत्त्वार्थसूत्र' के समान शब्दादि को पुद्गल की पर्याय कहा है और गाथा ३५ में व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र को भावसंवर के भेद बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों को तो पुण्यास्रव माना है और शेष को संवर का हेतु बतलाया है। व्रतों में निवृत्ति का अंश भी होता है। अतः यहाँ व्रतों को संवर का हेतु कहा है।

प्रस्तुत बृहद्द्रव्यसंग्रह प्रमाणिक और लोकप्रिय ग्रन्थ है। उत्तरवर्ती लेखकों ने इसे बहुत आदर दिया है। टीकाकार ब्रह्मदेव ने इसकी गाथाओं को 'सूत्र' और इसके कर्त्ता को 'भगवान' कहा है। पं० आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में इसकी गाथायें उद्धृत की है। पं० जयचन्दजी ने इस पर 'भाषावचनिका' लिखी है। यह अंग्रेजी और मराठी में भी छप चुका है। इस पर अनेक हिन्दी व्याख्यायें उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं।

संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य श्री ब्रह्मदेव का नाम उल्लेखनीय है। ये प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और अध्यात्मरसिक होते हुए भी चारों अनुयोगों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। अपनी टीकाओं में उन्होंने चारों अनुयोगों के अनेक ग्रंथों के उद्धरण देकर अपना बहुश्रुतत्व सिद्ध किया है।

पं० परमानन्द शास्त्री ने टीकाकार ब्रह्मदेव, रचनाकार नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और राजा भोजदेव को समकालीन माना है परन्तु पं० दरबारीलालजी कोठिया ने इस स्थापना को निरस्त करते हुए स्थिर किया है कि "इन तीनों का समय एक प्रतीत नहीं होता। राजा भोज का वि० सं० ११०० (वि० सं० १०७४—१११७), नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव का वि० सं० ११२५ और ब्रह्मदेव का वि. सं. ११७५ अस्तित्व समय सिद्ध होता है।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने ब्रह्मदेव को जयसेन के बाद का विद्वान् बतलाया है परन्तु उनकी यह धारणा ठीक नहीं है। दोनों टीकाकारों की टीकाओं के अभ्यन्तर परीक्षण से जयसेन निश्चय ही ब्रह्मदेव के उत्तरकालीन विद्वान् ज्ञात होते हैं। डॉ० कोठिया और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री की यही मान्यता है। "आशाधरजी का समय वि० की १३वीं शताब्दी है। आशाधरजी ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका के अनेक वाक्य ग्रहण किये हैं—अतः ब्रह्मदेव आशाधर के पूर्ववर्ती हैं। इनका समय जयसेन से पूर्व है।"—**डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री**

परम्परानुसार निम्नलिखित **रचनायें** ब्रह्मदेव की मानी जाती हैं—१. परमात्मप्रकाशवृत्ति, २. बृहद्द्रव्य-संग्रहवृत्ति, ३. तत्वदीपक ४. ज्ञानदीपक ५. त्रिवर्णाचारदीपक ६. प्रतिष्ठातिलक ७. विवाह पटल और ८. कथा-कोश। परन्तु डॉ० ए. एन. उपाध्ये ने प्रथम दो को ही उनकी प्रामाणिक रचनायें माना है। इन टीकाओं के कारण ही परमात्मप्रकाश और बृहद्द्रव्यसंग्रह लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

'परमात्मप्रकाश' (परमप्पयासु)जोइन्दु की अपभ्रंश में लिखा कृति है जिसमें 'आत्मा ही परमात्मा' है, इस पर विशद प्रकाश डाला है। ब्रह्मदेव ने इसी पर संस्कृत में 'वृत्ति' लिखी है। ब्रह्मदेव की व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या है, वे अर्थपर अधिक जोर देते हैं, अतः व्याकरण की गुत्थियाँ एक दो स्थानों पर ही सुलझाई गई है। पहले वे शब्दार्थ देते हैं फिर नयों का अवलम्बन लेते हुए वर्णन करते हैं। पदच्छेद, उत्थानिका, संधि की यथेच्छता, अधिकारों और अन्तराधिकारों की कल्पना उनकी शैली है। भाषा सरल और सुबोध है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह वृत्ति : यह वृत्ति परमात्मप्रकाश की वृत्ति की अपेक्षा अधिक जटिल और कठिन है। टीकाकार ने प्रत्येक गाथा के पदों का मर्मोद्‌घाटन बड़ी विशदता से किया है और कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानन्दि, गुणभद्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव प्रभृति अनेक ग्रंथकारों को उद्‌धृत किया है। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्म-

प्रकाश, योगसार, मूलाचार, भगवती आराधना, इष्टोपदेश, यशस्तिलक, त्रिलोकसार और तत्त्वानुशासन के उद्धरण दिये हैं। गाथा ४६ में पंचनमस्कारग्रंथ, लघुसिद्धचक्र और बृहद्सिद्धचक्र का कथन आया है। पंचनमस्कार ग्रन्थ को १२००० श्लोक प्रमाण कहा है। इसीप्रकार पंचपरमेष्ठि ग्रन्थ का कथन भी आया है। 'आचाराराधना' (गाथा ३५ की टीका पृ० ११४) और गन्धर्वाराधना (गाथा ३७ की टीका पृ० २४३) जैसे ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है जिनके नाम मात्र ही सुने जाते हैं। इस प्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का निर्देश हुआ है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण है।

टीकाकार ने टीका में अनेक सैद्धान्तिक बातों का समावेश किया है। १०वीं गाथा के व्याख्यान में समुद्घात का, १३वीं के व्याख्यान में गुणस्थान और मार्गणाओं का, ३५वीं गाथा के व्याख्यान में द्वादश अनुप्रेक्षाओं का और विशेषतः तीनों लोकों का अत्यन्त विशद वर्णन किया है। गाथा संख्या ३५ का उन्होंने लगभग २५-३० पृष्ठों में (१०४ से १५८ प्रस्तुत संस्करण) विस्तृत व्याख्यान किया है। सम्पूर्ण व्याख्यान में शंका-समाधान पद्धति अपनाई गई है और महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान किये गये हैं। पुण्य-पाप की हेयता पर शंका समाधान के माध्यम से (पृ० १६८-१६९) अच्छा प्रकाश डाला है।

इस प्रकार टीकाकार ने गाथा का शाब्दिक व्याख्यान ही नहीं किया है अपितु उसका विशेष विवेचन या व्याख्यान किया है। जैन आगमिक परम्परानुसार मति श्रुत ज्ञान को परोक्ष कहा है परन्तु ब्रह्मदेव ने गाथा ५ की टीका में शंका समाधानपूर्वक उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। इसी प्रकार गाथा ४४ की व्याख्या में दर्शन का स्वरूप तर्कशास्त्र और सिद्धान्तग्रन्थानुसार उपस्थित किया गया है। टीकाकार ने इस स्वरूप का विवेचन धवला और जयधवला के आधार पर किया है।

निश्चय ही, श्री ब्रह्मदेव ने आगम और अध्यात्म के प्रकाश में यह 'वृत्ति' लिखी है जो मूल रचना के समान ही अतिशय महत्त्वशाली है।

—डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवविरचितः

बृहद्द्रव्यसंग्रहः

[संस्कृतटीकया हिन्दीटीकया च समेतः]

श्रीब्रह्मदेवकृत-संस्कृतटीका

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥१॥
शुद्धजीवादिद्रव्याणां[1] देशकं च जिनेश्वरम् ।
द्रव्यसंग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥२॥ युग्मम् ।

अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराज-

---

निःसीमज्ञानादिकशक्तियुक्त जो शुद्ध प्रबुद्ध वसुकर्ममुक्त है ।
प्रणाम करता हूं जिनेन्द्रदेव को त्रिलोक-वंद्य जो युक्तियुक्त है ॥

भावार्थ—त्रिलोक से वन्दनीय, स्वाभाविक चैतन्य (ज्ञान) व आनन्द (सुख) मयी, कर्म रूपी मल से रहित तथा अविनश्वर, ऐसे सिद्ध परमात्मा को और शुद्ध जीव आदि छह द्रव्यों का उपदेश देने वाले श्री जिनेन्द्र (अरिहन्त) भगवान को नमस्कार करके मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के सूत्रों की वृत्ति (टीका) संक्षेप से कहूंगा ॥१-२॥

वृत्त्यर्थ—मालवदेश में धारा नगरी के शासक कलिकालचक्रवर्ती भोजदेव राजा का सम्बन्धी श्रीपाल महामण्डलेश्वर (राज्य के कुछ अंश का शासक) था । उस श्रीपाल के आश्रम नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के मन्दिर में सोम सेठ के लिये श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लघु द्रव्यसंग्रह का पहले २६ गाथाओं में निर्माण

---

१. 'तत्त्वानाम्' इति पाठान्तरम् ।

श्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य वृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्तिः प्रारभ्यते ।

तत्रादौ जीवमजीवं दव्वं इत्यादि सप्तविंशतिगाथापर्यन्तं षड्द्रव्यपंचास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं **आसवबंधण** इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः । ततः परं **सम्मद्दंसणणाणं** इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन[1] तृतीयोऽधिकारश्च । इत्यष्टाधिकपचाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं ज्ञातव्यम् ।

किया था । वह सोम सेठ शुद्ध आत्म–द्रव्य के संवेदन से उत्पन्न होनेवाले सुखामृत रस के आस्वाद से विपरीत नरकादि के दुःख से भयभीत था और परमात्मा की भावना से प्रगट होने वाले सुखरूपी अमृत रस का प्यासा था, भेद–अभेद रूप रत्नत्रय (निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भावना का बहुत प्रेमी था, भव्यजनों में श्रेष्ठ था तथा राजकोष (राज-खजाने) का कोषाध्यक्ष (खजानची) आदि अनेक राज-कार्यों का अधिकारी था । फिर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने उस लघु द्रव्यसंग्रह को विशेष तत्त्वज्ञान कराने के लिये बढ़ाकर ५८ गाथाओं में रचा, उस बड़े द्रव्यसंग्रह के अधिकारों का विभाजन करते हुए मैं (ब्रह्मदेव) वृत्ति आरम्भ करता हूं ।

उस **वृहद्द्रव्यसंग्रहनामक** शास्त्र में पहले **जीवमजीवं दव्वं** इस गाथा से लेकर **जीववियं आयासं** इस सत्ताईसवीं गाथा तक जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४, आकाश ५ और काल ६ इन छह द्रव्यों का तथा जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४ और आकाश ५ इन पाँचों अस्तिकायों का वर्णन करने वाला षड्द्रव्य पंचास्तिकाय-प्रतिपादक नामक पहला अधिकार है । इसके बाद **आसवबंधणसंवर** इस गाथा से लेकर **सुहअसुहभावजुत्ता** इस अड़तीसवीं गाथा तक जीव १, अजीव २, आस्रव ३, बंध ४, संवर ५, निर्जरा ६ और मोक्ष ७ इन सातों तत्त्वों का और जीव १, अजीव २, आस्रव ३, बन्ध ४, संवर ५, निर्जरा ६, मोक्ष ७, पुण्य ८ और पाप ९ इन नव पदार्थों का मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक नामक दूसरा महा अधिकार है । तदनन्तर **सम्मद्दंसणणाणं** इस गाथा से लेकर अगली बीस गाथाओं तक मुख्यता से मोक्षमार्ग का वर्णन करने वाला तीसरा अधिकार है । इसप्रकार अट्ठावन गाथाओं द्वारा तीन अधिकार जानने चाहिये ।

---

१. 'मुख्यतया' इति पाठान्तरम् ।

तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम् । ततः परं **अज्जीवो पुण णेओ** इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम् । ततः परं **एवं छब्भेयमिदं** एवं सूत्रपंचकपर्यन्तं पंचास्तिकायविवरणम् । इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोद्धव्यम् । तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । जीवादिनवाधिकारसूचनरूपेण **जीवो उवओगमओ** इत्यादि द्वितीयसूत्रगाथा । तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति । तत्राप्यादौ जीवसिद्धयर्थं **तिक्काले चदुपाणा** इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयकथनार्थं **उवओगो दुवियप्पो** इत्यादिगाथात्रयम्, ततः परममूर्तत्वकथनेन **वण्णरसपंच** इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण **पुग्गलकम्मादीणं** इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोक्तृत्वनिरूपणार्थं **ववहारा सुहदुक्खं** इत्यादिसूत्रमेकम्, ततः परं स्वदेहप्रमितिसिद्धयर्थं **अणुगुरुदेहपमाणो** इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन **पुढविजलतेउवाऊ** इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं **णिक्कम्मा**

उन तीनों अधिकारों में भी आदि का जो पहला अधिकार है उसमें १४ गाथा द्वारा **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** इस गाथा तक जीवद्रव्य का व्याख्यान है । उसके आगे 'अज्जीवो पुण णेओ' इस गाथा से लेकर **लोयायासपदेसे** गाथा तक की आठ गाथाओं में अजीवद्रव्य का वर्णन है । तदनन्तर **एवं छब्भेयमिदं** इस गाथासे लेकर पाँच गाथाओं में **जावदियं आयासं** इस गाथा तक पाँच अस्तिकायों का वर्णन करने वाला तीसरा अन्तराधिकार है । इस तरह प्रथम अधिकार में तीन अन्तराधिकार समझने चाहिये । प्रथम अधिकार के पहले अन्तराधिकार में जो चौदह गाथायें हैं उनमें नमस्कार की मुख्यता से पहली गाथा है । जीव आदि नव ९ अधिकारों के सूचना रूप से **जीवो उवओगमओ** दूसरी सूत्र गाथा है । इसके पश्चात् नौ अधिकारों का विशेष वर्णन करने रूप बारह गाथायें हैं । उन १२ सूत्रों में भी प्रथम ही जीव की सिद्धि के लिये **तिक्काले चदुपाणा** इत्यादि एक गाथा है । इसके बाद ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगों को कहने के लिये **उवओगो दुवियप्पो** इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं । तदनन्तर जीव की अमूर्त्तता का कथन रूप **वण्णरसपंचगंधा** एक गाथासूत्र है । तत्पश्चात् जीव के कर्मकर्तृता का प्रतिपादन करने रूप **पुग्गलकम्मादीणं** एक गाथासूत्र है । इसके पीछे जीव के कर्मफलों के भोक्तापने का कथन करने के लिये **ववहारा सुहदुक्खं** इत्यादि एक गाथा है । उसके पीछे जीव को अपने देह–प्रमाण सिद्ध करने के लिये **अणुगुरुदेहपमाणो** एक गाथासूत्र है । इसके बाद संसारी जीव के स्वरूप का कथन करने रूप **पुढविजल तेउवाऊ** आदि तीन गाथासूत्र हैं । इसके अनन्तर **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** गाथा के पूर्वार्ध में जीव के सिद्धस्वरूप का कथन किया है और उत्तरार्ध में जीव के

अट्ठगुणा इति प्रभृतिगाथापूर्वार्धेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरुर्ध्वगतिस्वभावः। इति नमस्कारादिचतुर्दशगाथामेलापकेन प्रथमाधिकारे समुदायपातनिका।

अथेदानीं गाथापूर्वार्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्धेन च मंगलार्थमिष्टदेवता-नमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठम् ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम् ।
देवेन्द्रवृन्दवंद्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥१॥

व्याख्या—वंदे इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **वंदे** एकदेश-शुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनालक्षणभावस्तवनेन तथा च असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादक-वचनरूपद्रव्यस्तवनेन च **वंदे** नमस्करोमि। परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वंद्यवन्दकभावो नास्ति। स कः

ऊर्ध्वगमन स्वभाव का वर्णन किया है। इस प्रकार नमस्कार गाथा से लेकर जो चौदह गाथासूत्र हैं, उनका मेल करने से प्रथम अधिकार में समुदाय रूप से पातनिका का कथन है।

अब गाथा के पूर्वार्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन कहता हूं और गाथा के उत्तरार्ध से मंगल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करता हू, इस अभिप्राय को मन में रखकर भगवान श्रीनेमिचन्द्र आचार्य प्रथम सूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—मैं (नेमिचन्द्र आचार्य) जिनवरों में प्रधान जिसने जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया, देवेन्द्रादिकों के समूह से वंदित उस तीर्थंकर परमदेव को सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥१॥

वृत्त्यर्थ—वंदे इत्यादि पदों का क्रियाकारकभावसम्बन्ध से पदखंडना रीति-द्वारा व्याख्यान किया जाता है। वंदे एक देश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज-शुद्ध आत्मा का आराधन करनेरूप भावस्तवन से और असद्भूत व्यवहारनय को अपेक्षा उस निज-शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वचनरूप द्रव्यस्तवन से नमस्कार करता हूं। तथा परमशुद्ध निश्चयनय से वन्द्यवन्दकभाव नहीं है। (अर्थात् एकदेश शुद्धनिश्चयनय और असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा से जिनेन्द्रदेव वन्दनीय हैं और मैं

कर्ता ? अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः । कथं वन्दे ? **सव्वदा** सर्वकालम् । केन ? **सिरसा** उत्तमाङ्गेन । **तं** कर्म्मतापन्नं । तं कं ? वीतरागसर्वज्ञम् । किं विशिष्टम् ? **देविंदविंदवंदं** मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम् । **भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा । कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ** ।।१।।

इति गाथाकथितलक्षणेन्द्राणां शतेन वन्दितं[1] देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम् । **जेण** येन भगवता । किं कृतं ? **णिद्दिट्ठं** निर्दिष्टं कथितं प्रतिपादितम् । किं ? **जीवमजीवं दव्वं** जीवाजीवद्रव्यद्वयम् । तद्यथा,—सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिच्चमत्कारलक्षणशुद्धजोवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायानां, परमचिज्ज्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसप्ततत्त्वानां निर्दोषपरमात्मादिनवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम् । पुनरपि कथम्भूतेन[2] भगवता ? **जिणवरवसहेण** जित-

---

वन्दना करने वाला हूं किन्तु परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वन्द्यवन्दक भाव नहीं है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और मेरा आत्मा समान है ।) वह नमस्कार करने वाला कौन है ? मैं द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ का निर्माता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव हूं । कैसे नमस्कार करता हूं ? **सव्वदा** सदा, **शिरसा** सिर झुका करके नमस्कार करता हूं । **तं** वन्दना क्रिया के कर्मपने को प्राप्त । किसको नमस्कार करता हूं ? उस वीतरागसर्वज्ञ को । वह वीतरागसर्वज्ञ देव कैसा है ? **देविंदविंद वंदं** मोक्ष पद के अभिलाषी देवेन्द्रादि से वन्दनीक है ।

भवनवासी दवोंके ४० इन्द्र, व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र, कल्पवासी देवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष्क देवों के चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्यों का १ इन्द्र–चक्रवर्ती तथा तिर्यञ्चों का १ इन्द्र–सिंह ऐसे सब मिल कर १०० इन्द्र हैं ।।१।। इस गाथा में कहे १०० इन्द्रों से वंदनोय है । जिस भगवान् ने क्या किया है ? **णिद्दिट्ठं** कहा है । क्या कहा है ? **जीवमजीवं दव्वं** जीव और अजीव दो द्रव्य कहे हैं । जैसे कि स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य आदि लक्षण वाला जीव द्रव्य है और इससे विलक्षण गुणी यानी–अचेतन १ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल, इन पाँच भेदों वाला अजीव द्रव्य है । तथा चित्चमत्काररूप लक्षणवाला शुद्ध जीव–अस्तिकाय एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं । परमज्ञान–ज्योति-स्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं और दोषरहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं; उन सबका स्वरूप कहा है । पुनः वे भगवान् कैसे हैं ? **जिणवरवसहेण** मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयतसम्यग्दृष्टि

---

१. 'वंद्यत्वात्' इति पाठान्तरम् । २. 'कथम्भूतेन ? तेन भगवता जिणवरवसहेण' इति पाठान्तरम् ।

मिथ्यात्वरागादिजित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवस्तेन जिनवरवृषभेणेति। अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्ध-परमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः। तथा चोक्तं—**श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥१॥**

अत्र गाथापरार्द्धेन—

नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥२॥ इति श्लोककथितफलचतुष्टयं समीक्षमाणा ग्रन्थकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतायै त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति। त्रिधा देवताकथ्यते। केन प्रकारेण ? इष्टाधिकृताभिमतभेदेन। **इष्टः** स्वकीयपूज्यः (१)। **अधिकृतः**—ग्रन्थस्यादौ प्रकरणस्य वा नमस्करणीयत्वेन विवक्षितः (२)। **अभिमतः**—सर्वेषां लोकानां विवादं विना सम्मतः (३)। इत्यादिमङ्गलव्याख्यानं सूचितम्। मङ्गलमित्युपलक्षणम्। उक्तं च—

आदि एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे जिनवर यानी गणधरदेव हैं, उन जिनवरों-गणधरों में भी जो प्रधान है; वह जिनवर वृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं। उन जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हैं, इति।

आध्यात्मिक शास्त्रमें यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियोंको नमस्कार करना उचित है तो भी व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर जिनेन्द्रके उपकार-स्मरण करनेके लिए अर्हत्परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ऐसा कहा भी है कि 'अर्हत्परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है। इसलिये प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अर्हत् परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है॥१॥' यहां गाथा के उत्तरार्ध से '१ नास्तिकता का त्याग, २ सभ्य पुरुषों के आचरण का पालन, ३ पुण्य की प्राप्ति और ४ विघ्न-विनाश, इन चार लाभों के लिए शास्त्र के प्रारम्भ में इष्टदेव की स्तुति की जाती है॥१॥' इस तरह श्लोक में कहे हुए चार फलों को देखते हुए शास्त्रकार तीन प्रकार के देवता के लिए मन, वचन और काय द्वारा नमस्कार करते हैं। तीन प्रकार के देवता कहे जाते हैं। किस प्रकार ? इष्ट, अधिकृत और अभिमत ये तीन भेद हैं। **इष्ट**—अपने द्वारा पूज्य वह इष्ट है (१)। **अधिकृत**—ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आदि में नमस्कार करने के लिए जिसकी विवक्षा की जाती है वह अधिकृत है (२)। **अभिमत**—विवाद बिना सब लोगों को सम्मत हो; वह अभिमत है (३)। इस तरह मंगल का व्याख्यान किया।

मङ्गलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ ।।१।।

वक्खाणउ व्याख्यातु । स कः ? **आयरिओ** आचार्यः । कं ? **सत्थं** शास्त्रं । **पच्छा** पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वं ? **वागरिय** व्याकृत्य व्याख्याय । कान् ? **छप्पि** षडप्यधिकारान् । कथंभूतान् ? **मङ्गलणिमित्तहेउं परिमाण णाम तह य कत्तारं** मङ्गलं निमित्तं हेतुं परिमाणं नाम कर्तृसंज्ञामिति । इति गाथाकथितक्रमेण मङ्गलाद्यधिकारषट्कमपि ज्ञातव्यम् । गाथापूर्वार्धेन तु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि सूचितानि । कथमिति चेत् ?—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम् । व्याख्येयं तु तत्प्रतिपादकसूत्रम् । इति व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धो विज्ञेयः । यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधानं वाचकं प्रतिपादकं भण्यते, अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्यः प्रतिपाद्यः । इत्यभिधानाभिधेयस्वरूपं बोधव्यम् । प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम् । परमनिश्चयेन पुनस्तत्फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धा-

---

यहाँ मंगल यह उपलक्षण पद है । कहा भी है कि 'आचार्य १ मंगलाचरण, २ शास्त्र बनाने का निमित्त—कारण, ३ शास्त्र का प्रयोजन, ४ शास्त्र का परिमाण यानी श्लोक संख्या, ५ शास्त्र का नाम और शास्त्र का कर्ता, इन छह अधिकारों को बतला करके शास्त्र का व्याख्यान करे ।।१।।' इस गाथा में कहे हुए मंगल आदि छह अधिकार भी जानने चाहिये । गाथा के पूर्वार्ध से सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन सूचित किया है । कैसे सूचित किया है ? इसका उत्तर यह है कि निर्मल ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव—धारक जो परमात्मा है, उसके स्वरूप को विस्तार से कहने वाली जो वृत्ति है, वह तो व्याख्यान है और उसके प्रतिपादन करने वाले जो गाथा सूत्ररूप हैं वे व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) हैं । इसप्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप 'सम्बन्ध' जानना चाहिए । और जो व्याख्यान करने योग्य सूत्र है वही अभिधान अर्थात् वाचक कहलाता है । तथा अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों का आधार जो परमात्मा आदि का स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथन करने योग्य विषय है । इसप्रकार 'अभिधान—अभिधेय' का स्वरूप जानना चाहिये । व्यवहारनय की अपेक्षा से 'षट्द्रव्य आदि का जानना' इस ग्रन्थका प्रयोजन है और निश्चयनय से अपने निर्लेप शुद्ध आत्मा के ज्ञान से प्रगट हुआ जो विकाररहित परम आनन्दरूपी अमृत रसका आस्वादन करने रूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । परम निश्चयनय से उस आत्मज्ञान के फलरूप—केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के बिना न होने वाली और निज आत्मारूप उपादान कारण से सिद्ध होने वाली ऐसी जो अनन्त सुख की प्राप्ति है, वह इस ग्रन्थ

नन्तसुखावाप्तिरिति । एवं नमस्कारगाथा व्याख्याता ।

अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्सम्बन्धे नवाधिकारान् संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य कथनसूत्रमिति निरूपयति :—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

जीवः उपयोगमयः अमूर्त्तिः कर्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥२॥

व्याख्या—जीवो शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्ध-चैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीव-तीति जीवः । **उवओगमओ** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथा-प्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । **अमुत्ति** यद्यपि व्यव-हारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रिय-

---

का प्रयोजन है । इस तरह पहली नमस्कार–गाथा का व्याख्यान किया है ।

अब 'नमस्कार गाथा में जो प्रथम ही जीवद्रव्य कहा गया है, उस जीवद्रव्य के सम्बन्ध में नौ अधिकारों को मैं संक्षेप से सूचित करता हूं ।' यह अभिप्राय मन में धारण करके श्रीनेमिचन्द्र आचार्य जीव आदि नौ अधिकारों का कथन करनेवाले सूत्र का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, अपने शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है, वह जीव है ॥२॥

वृत्त्यर्थ—जीवो यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि, मध्य और अंत से रहित, निज तथा अन्य का प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य लक्षणवाले निश्चय प्राणसे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अनादिकर्म-बन्धन के वश अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राण से जीता है, इसलिये जीव है । **उव-ओगमओ** यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पूर्ण निर्मल केवलज्ञान व दर्शन दो उपयोगमय जीव है, तो भी अशुद्धनयसे क्षायोपशमिक-ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है, इस कारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है । **अमुत्ति** यद्यपि जीव व्यवहारनयसे मूर्त्तिककर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाली मूर्त्तिसे सहित होने के कारण मूर्त्तिक है, तो भी निश्चयनयसे अमूर्त्तिक, इन्द्रियों के अगोचर, शुद्ध, बुद्धरूप एक स्वभाव का धारक होने

शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्तः । **कत्ता** यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवः तथाप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्म्मकर्तृत्वात् कर्त्ता । **सदेहपरिमाणो** यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः । **भोत्ता** यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता, तथाप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृतभोजनाभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्ता । **संसारत्थो** यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निःसंसारनित्यानन्दैकस्वभावस्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठतीति संसारस्थः । **सिद्धो** व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धस्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धः । **सो** स एवं गुणविशिष्टो जीवः । **विस्ससोड्ढगई** यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्द्धाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्धगतिश्चेति । अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्तः । इदानीं मतार्थः कथ्यते । जीव-

---

से अमूर्त्तिक है । **कत्ता** यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे क्रियारहित, टंकोत्कीर्ण—अविचल ज्ञायक एक स्वभावका धारक है, तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन, कायके व्यापार को उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे सहित होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला होनेसे कर्त्ता है । **सदेहपरिमाणो** यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहारसे अनादि कर्मबंधवशात् शरीर कर्मके उदय से उत्पन्न, संकोच तथा विस्तार के अधीन होने से, घट आदि में स्थित दीपक की तरह, अपने देहके बराबर है । **भोत्ता** यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादिविकल्प रूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मासे उत्पन्न सुख रूपी अमृत का भोगनेवाला है, तो भी अशुद्धनय की अपेक्षा उस प्रकार के सुख अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दुःख का भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है । **संसारत्थो** यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसार रहित है और नित्य आनन्द एक स्वभाव का धारक है, फिर भी अशुद्धनयकी अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पांच प्रकार के संसार में रहता है; इस कारण संसारस्थ है । **सिद्धो** यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज-आत्माकी प्राप्तिस्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदय से असिद्ध है; तो भी निश्चयनय से अनन्त ज्ञान और अनन्त-गुण-स्वभाव होने से सिद्ध है । **सो** वह इसप्रकार के गुणों से युक्त जीव है । **विस्ससोड्ढगई** यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों के उदय-वश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है, फिर भी निश्चयनयसे केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंको प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें पहुंचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है । यहां खंडान्वय के ढंगसे शब्दों का अर्थ कहा; तथा शुद्ध, अशुद्ध नयोंके विभागसे नयका

सिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थः पुनः **अस्त्यात्मानादिबद्धः** इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयम्, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। इति जीवादिनवाधिकारसूचनसूत्रगाथा ॥२॥

अतः परं द्वादशगाथाभिनवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयति—

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणश्च ।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतस्तु चेतना यस्य ॥३॥

अर्थ भी कहा है। अब मत का अर्थ कहते हैं। **चार्वाक** के लिये जीव की सिद्धि की गई है। **नैयायिक** के लिये जीव के ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण का कथन है। **भट्ट** तथा **चार्वाक** के प्रति जीव का अमूर्त स्थापन है, 'आत्मा कर्मका कर्ता है' ऐसा कथन **सांख्य** के प्रति है। 'आत्मा अपने शरीर प्रमाण है', यह कथन **नैयायिक, मीमांसक** और **सांख्य** इन तीनों के प्रति है। 'आत्मा कर्मों का भोक्ता है' यह कथन **बौद्ध** के प्रति है। 'आत्मा संसारस्थ है' ऐसा वर्णन **सदाशिव** के लिये है। 'आत्मा सिद्ध है' यह कथन **भट्ट** और **चार्वाक** के प्रति है। 'जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है' यह कथन **मण्डलीक** मतानुयायी के लिये है। इस तरह मत का अर्थ जानना चाहिये। 'अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ आत्मा है' इत्यादि **आगम** का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। शुद्ध नयके आश्रित जो जीव का स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इसप्रकार हेयोपादेयरूपसे भावार्थ भी समझना चाहिये। इसतरह **शब्द, नय, मत, आगमार्थ, भावार्थ** यथासम्भव व्याख्यान के समय में सब जगह जानना चाहिये। इस तरह जीव आदि नौ अधिकारों को सूचित करनेवाली यह सूत्रगाथा है ॥२॥

अब इसके आगे १२ गाथाओं द्वारा नौ अधिकारों का विवरण कहते हैं। उनमें पहले जीवका स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु, श्वास-निश्वास इन चारों प्राणों को जो धारण करता है, व्यवहारनयसे वह जीव है। निश्चयनयसे जिसके चेतना है, वही जीव है ॥३॥

व्याख्या—तिक्काले चदुपाणा कालत्रये चत्वारः प्राणा भवन्ति। ते के **इंदियबलमाउआणपाणो य** अतीन्द्रियशुद्धचैतन्यप्राणात्प्रतिशत्रुपक्षभूतः क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राणः, अनन्तवीर्यलक्षणबलप्राणादनन्तैकभागप्रमिता मनोवचनकायबलप्राणाः, अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यप्राणविपरीततद्विलक्षणः सादिः सांतश्चायुः प्राणः, उच्छ्वासपरावर्त्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आनपानप्राणः। **ववहारा सो जीवो** इत्थंभूतैश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात्स जीवः; द्रव्येन्द्रियादिर्द्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकभावप्राणाः पुनरशुद्धनिश्चयेन, सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः निश्चयेनेति। **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** शुद्धनिश्चयनयतः सकाशादुपादेयभूता शुद्धचेतना यस्य स जीवः; एवं **वच्छक्खभवसारिच्छ, सग्गणिरयपियराय। चुल्लयहंडिय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय॥१॥** इति दोहककथितनवदृष्टान्तैश्चार्वाकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवसिद्धिव्याख्यानेन गाथा गता। अथ अध्यात्मभाषया नयलक्षणं कथ्यते। सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावा; इति शुद्धनिश्चयनयलक्षणम्। रागा-

---

वृत्त्यर्थ—तिक्काले चदुपाणा तीन काल में जीव के चार प्राण होते हैं। वे कौन से ? **इंदियबलमाउआणपाणो य** इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसके प्रतिपक्षभूत क्षायोपशमिक (क्षयोपशम से होनेवाले) इन्द्रिय प्राण है, अनन्त-वीर्य-रूप जो बलप्राण है उसके अनन्तवें भाग के प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबल प्राण हैं, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध जो चैतन्य प्राण है उससे विपरीत एवं विलक्षण सादि (आदि सहित) और सान्त (अन्त सहित) आयु प्राण है, श्वासोच्छ्वास के आने जाने से उत्पन्न खेद से रहित जो शुद्ध चित्-प्राण है उससे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। **ववहारा सोजीवो** व्यवहारनय से, इसप्रकार के चार द्रव्य व भाव प्राणों से जो जीता है, जीवेगा या पहले जी चुका है, वह जीव है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार-नय की अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं और अशुद्ध निश्चयनयसे भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भावप्राण हैं, और निश्चयनय से सत्ता, चैतन्य, बोध आदि शुद्धभाव जीव के प्राण हैं। **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपादेयभूत यानी ग्रहण करने योग्य शुद्ध चेतना जिसके हो वह जीव है। **वच्छ रक्ख भवसारिच्छ सग्गणिरय पियराय। चुल्लय हंडय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय।** १. **वत्स**—जन्म लेते ही बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कार से, बिना सिखाये अपने आप ही माता के स्तन पीने लगता है। २. **अक्षर**—जीव जानकारी के साथ अक्षरों का उच्चारण आवश्यकतानुसार करता है, जड़ पदार्थों में यह विशेषता नहीं होती। ३. **भव**—आत्मा यदि एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म-ग्रहण किसका होगा ? ४. **सादृश्य**—आहार, परिग्रह, भय, मैथुन,

दय एव जीवाः इत्यशुद्धनिश्चयनयलक्षणम् । गुणगुणिनोरभेदोऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहार-लक्षणम् । भेदेऽपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षणं चेति । तथा हि—जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञा शुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । जीवस्य मतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरित-संज्ञाऽशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । 'मदीयो देहमित्यादि' संश्लेषसंबन्धसहितपदार्थपुनरनुपचरितसंज्ञा-ऽसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । यत्र तु संश्लेषसंबन्धो नास्ति तत्र 'मदीयः पुत्र इत्यादि' उपचरिताभिधाना-सद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतम् । संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्य मिति ।।३।।

अथ गाथात्रयपर्यन्तं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां मुख्यवृत्त्या दर्शनोपयोग-

---

हर्ष, विषाद आदि सब जीवों में एक समान दृष्टिगोचर होते हैं । ५-६. **स्वर्ग-नरक**—जीव यदि स्वतंत्र पदार्थ न हो तो स्वर्गमें जाना तथा नरकमें जाना किसके सिद्ध होगा । ७. **पितर**—अनेक मनुष्य मर कर भूत आदि हो जाते हैं और फिर अपने पुत्र, पत्नी आदि को कष्ट, सुख आदि देकर अपने पूर्व भवका हाल बताते हैं । ८. **चूल्हा हंडी**—जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच भूतों से बन जाता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रक्खी हुई हंडिया में पाँचों भूत पदार्थों का संसर्ग होने के कारण वहाँ भी जीव उत्पन्न हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है । ९. **मृतक**—मुर्दा शरीर में पाँचों भूत पदार्थ पाये जाते हैं, किन्तु फिर भी उसमें जीवके ज्ञान आदि नहीं होते । इस तरह जीव एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है । इस दोहे में कहे हुए नौ दृष्टान्तों द्वारा चार्वाकमतानुयायी शिष्यों को समझाने के लिये जीव की सिद्धि के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई । अब अध्यात्म भाषा द्वारा नयों के लक्षण कहते हैं । "सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले हैं" । यह **शुद्ध निश्चय नय** का लक्षण है । "रागादि ही जीव हैं" यह **अशुद्ध निश्चय नय** का लक्षण है । "गुण और गुणी का अभेद होनेपर भी भेद का उपचार करना" यह **सद्भूत व्यवहार नय** का लक्षण है । 'भेद होनेपर भी अभेद का उपचार' यह **असद्भूत व्यवहार नय** का लक्षण है । विशेष इसप्रकार है—'जीवके केवलज्ञान आदि गुण हैं' यह **अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय** का लक्षण हैं । 'जीवके मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं' यह **उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय** है । 'संश्लेष संबंध सहित पदार्थ शरीरादि मेरे हैं' यह **अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण** है । 'जिनका संश्लेष संबंध नहीं हैं, ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं' यह **उपचरित असद्भूत व्यवहार नय** का लक्षण है । यह नय चक्र का मूल है । संक्षेप में यह छह नय जानने चाहिये ।।३।।

अब तीन गाथा पर्यंत ज्ञान तथा दर्शन इन दो उपयोगों का वर्णन करते हैं । उनमें भी पहली गाथा में मुख्य रूपसे दर्शनोपयोग का व्याख्यान करते हैं । जहाँपर यह

व्याख्यानं करोति । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्यदपि विवक्षितं लभ्यत इति ज्ञातव्यम्—

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा ।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम् ॥४॥

व्याख्या—उवओगो दुवियप्पो उपयोगो द्विविकल्पः **दंसणणाणं च** निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पकं ज्ञानं च, पुनः **दंसणं चदुधा** दर्शनं चतुर्धा भवति **चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं** चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ अहो केवलदर्शनमिति विज्ञेयम् । तथाहि—आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्तवस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद्बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं निर्विकल्पम् संव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनं । तथैव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रिया-

---

कथन हो कि 'अमुक विषय का मुख्यता से वर्णन करते हैं', वहाँपर 'गौण रूपसे अन्य विषय का भी यथासंभव कथन प्राप्त होता है' यह जानना चाहिये—

गाथार्थ—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान । उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ऐसे चार प्रकार का जानना चाहिये ॥४॥

वृत्त्यर्थ—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान । दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है । दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन, ऐसा जानना चाहिये ।

विशेष विवरण—आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों में रहनेवाले संपूर्ण द्रव्य सामान्य को ग्रहण करनेवाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वभाव है उसका धारक है, किन्तु अनादि कर्मबन्ध के अधीन होकर चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को (जो संव्यवहार से प्रत्यक्ष है किन्तु निश्चय से परोक्षरूप है, उसको) एक देश से विकल्परहित जो देखता है वह **चक्षुदर्शन** है, उसी तरह स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्णइन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक सत्तासामान्य को परोक्षरूप एक देश से जो विकल्परहित देखता है वह **अचक्षुदर्शन** है और इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा

वरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीयस्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । तथैव च मनइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्सहकारिकारणभूताष्टदलपद्माकारद्रव्यमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेण यत्पश्यति तन्मानसमचक्षुर्दर्शनम् । स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्त्तवस्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणैकदेशप्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम् । यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसंवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूतं क्षायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति ॥४॥

अथाष्टविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति—

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि ।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च ॥५॥

व्याख्या—णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञानमष्टविकल्पं भवति । **मदिसुदिओहीअणाणणाणाणि** अत्राष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति; तान्येव

सहकारी कारण रूप जो आठ पांखड़ी के कमल के आकार द्रव्य मन है, उसके अवलंबन से मूर्त्त तथा अमूर्त्त समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्तासामान्य को परोक्ष रूपसे विकल्परहित जो देखता है, वह मानस अचक्षुदर्शन है । वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त्त वस्तु में सत्तासामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकलपरहित जो देखता है, वह **अवधिदर्शन** है । तथा सहज शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप के धारक परमात्म तत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल-दर्शनावरण के क्षय होनेपर समस्त मूर्त्त, अमूर्त्त वस्तु के सत्तासामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूपसे एक समय में विकलपरहित जो देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिक **केवलदर्शन** जानना चाहिये ॥४॥

अब आठ भेद सहित ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान है । इनमें कुअवधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष हैं ॥५॥

वृत्त्यर्थ—णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञान आठ प्रकार का है । **मदिसुदिओही अणाणणाणाणि** उन आठ प्रकार के ज्ञानों में मति, श्रुत तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्व के

शुद्धात्मादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन सम्यग्दृष्टिजीवस्य सम्यग्ज्ञानानि भवन्ति । **मण-पज्जवकेवलमवि** मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमप्येवमष्टविधं ज्ञानं भवति । **पच्चक्खपरोक्खभेयं च** प्रत्यक्ष-परोक्षभेदं च । अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं विभङ्गावधिरपि दशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं; शेषचतुष्टयं परोक्षमिति ।

इतोविस्तर—आत्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूप-स्तावत् । स च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन् मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयो-पशमाच्च बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तम् वस्त्वेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मस्थानां वीर्यान्त-रायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षयो ज्ञानचारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः । संव्यवहार-लक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संव्यवहार । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते । संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमा-

---

उदय के वश से विपरीताभिनिवेश रूप अज्ञान होते हैं इसीसे कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि [विभंगावधि] इनके नाम हैं, तथा वे ही मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान आत्मा आदि तत्त्वके विषय में विपरीत श्रद्धा न होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्ज्ञान होते हैं । इस तरह कुमति आदि तीन अज्ञान और मति आदि तीन ज्ञान, ज्ञानके ये ६ भेद हुए तथा **मणपज्जवकेवलमवि** मनःपर्यय और केवल ज्ञान ये दोनों मिलकर ज्ञान के सब आठ भेद हुए । **पच्चक्खपरोक्खभेयं च** प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है । इन आठों में अवधि और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं ।

विस्तार—जैसे आत्मा निश्चयनयसे पूर्ण, विमल, अखंड, एक, प्रत्यक्ष, केवल-ज्ञानस्वरूप है; वही आत्मा व्यवहारनय से अनादिकालीन कर्मबन्धसे आच्छादित हुआ, मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और बहिरंग पाँच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से मूर्त्त और अमूर्त्त वस्तु को एक देश से विकल्पा-कार परोक्ष रूपसे अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे जो जानता है वह क्षायोपशमिक "मतिज्ञान" है । छद्मस्थों के तो वीर्यान्तराय का क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञानचारित्र आदि की उत्पत्ति में सहकारी कारण है और केवलियों के वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय, ज्ञान-चारित्र आदि की उत्पत्ति में सर्वत्र सहकारी कारण है, ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये । **अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं**—समीचीन अर्थात् ठीक जो व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है, संव्यवहार का लक्षण प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप है । संव्यवहार में जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । जैसे—'घटका रूप मैंने देखा' इत्यादि । ऐसे ही श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और नो इन्द्रिय मनके अवलम्बन से प्रकाश और

श्रोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्त्तामूर्त्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते। किञ्च विशेषः—शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्, स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्ष, यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्त ज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत् परोक्षम्; यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेणसविकल्पमपींद्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते। अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवतीति ? परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम्, यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं

अध्यापक आदि बहिरंग सहकारी कारण के संयोग से मूर्त्तिक तथा अमूर्त्तिक वस्तु को, लोक तथा अलोक को व्याप्ति रूप ज्ञानसे जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें विशेष यह है कि शब्दात्मक जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही, तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध कराने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो अभ्यन्तर में 'सुख-दुःख विकल्परूप मैं हूं' अथवा 'मैं अनंत ज्ञान आदि रूप हूं', इत्यादिक ज्ञान है वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है। तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्माके अभिमुख (सन्मुख) होने से सुखसंवित्ति-सुखानुभव-स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञानके आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो रागादि विकल्पसमूह हैं, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है, और अभेद नय से वही ज्ञान 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक् चारित्र के बिना नहीं होता, वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है, तथापि संसारियों को क्षायिक ज्ञानका अभाव होने से क्षायोपशमिक होनेपर भी "प्रत्यक्ष" कहलाता है।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि **आद्ये परोक्षम्**। तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है, फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

इस शंका का उत्तर देते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और 'भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है' यह अपवाद की अपेक्षा से कथन है। यदि 'तत्त्वार्थसूत्र' में उत्सर्ग का कथन न होता तो 'तत्त्वार्थसूत्र' में मतिज्ञान को परोक्ष कैसे कहा जाता ? और यदि वह सूत्र में परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसलिये जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्ष होनेपर भी

तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति । तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम् । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम्, तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते । यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा । तथैव च स एवात्मा, अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम् । यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहामतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम् । तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्र्यध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेकसमये समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ।।५।।

अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते—

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ।।६।।

अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् ।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम् ।।६।।

मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्माके सन्मुख जो भावश्रुतज्ञान है वह परोक्ष है तो भी उसको प्रत्यक्ष कहा जाता है । यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदि का जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा । किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है । उसी तरह वही आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशमसे मूर्त्तिक पदार्थ को जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह **अवधिज्ञान** है तथा जो मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मनके अवलम्बन द्वारा पर के मनमें प्राप्त हुए मूर्त्त पदार्थको एकदेश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक **मनःपर्यय ज्ञान** है । एवं अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य के यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप एकाग्र ध्यान द्वारा केवलज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट होनेपर जो उत्पन्न होता है, वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव को ग्रहण करनेवाला और सब प्रकार से उपादेय (ग्रहण करने योग्य) "केवलज्ञान" है ।।५।।

अब ज्ञान, दर्शन दोनों उपयोगों के व्याख्यान का नय-विभाग द्वारा उपसंहार कहते हैं—

गाथार्थ—व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्य रूपसे जीवका लक्षण कहा गया है और शुद्ध नयकी अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान, दर्शन को जीव का लक्षण कहा है ।

व्याख्या—अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति । तदपि कथमितिचेद् ? विवक्षाया अभावः सामान्यलक्षणमिति वचनात् । कस्मात् सामान्यम् जीवलक्षणं भणितम ? **ववहारा** व्यवहारात् व्यवहारनयात् । अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः, कुमतिकुश्रुतविभङ्गत्रये पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहारः । **सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं** शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति । किञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते । शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति । अत्र सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्य साक्षादुपादेयभूतस्याक्षयसुखस्योपादानकारणत्वात केवल-

---

वृत्यर्थ—अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं आठ प्रकार का ज्ञान तथा चार प्रकार का दर्शन सामान्य रूपसे जीव का लक्षण कहा गया है ।

यहाँपर 'सामान्य' इस कथन का यह तात्पर्य है कि इस लक्षण में संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा नहीं है, अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की भी विवक्षा नहीं है ।

सो कैसे ? इस शंका का उत्तर यह है कि 'विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है' ऐसा कहा है । किस अपेक्षा से जीवका सामान्य लक्षण कहा है ? इसका उत्तर यह है कि **ववहारा** अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा है । यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन के प्रति 'शुद्ध-सद्भूत' शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार है और छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से 'अशुद्ध-सद्भूत-शब्द' से वाच्य 'उपचरित-सद्भूत' व्यवहार है; तथा कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि इनमें 'उपचरित-असद्भूत' व्यवहार नय है ।

सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध अखंड केवलज्ञान तथा केवलदर्शन ये दोनों जीव के लक्षण हैं । यहाँ ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में उपयोग शब्दसे शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावना में एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिये । यहाँ सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप साक्षात् उपादेय जो अक्षय सुख है उसका उपादान कारण होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपादेय हैं । इसप्रकार नैयायिक के प्रति

ज्ञानदर्शनद्वयमुपादेयमिति । एवं नैयायिकं प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकरणार्थमुपयोगव्याख्यानेन गाथात्रयं गतम् ॥६॥

अथामूर्तातीन्द्रियनिजात्मद्रव्यसंवित्तिरहितेन मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च यदुपार्जितं मूर्त्तं कर्म तदुदयेन व्यवहारेण मूर्तोऽपि निश्चयेनामूर्तो जीव इत्युपदिशति—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥७॥

वर्णाः रसाः पंच गंधौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे ।
नो संति अमूर्त्तिः ततः व्यवहारात् मूर्त्तिः बन्धतः ॥७॥

व्याख्या—वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः, तिक्तकटुकषायाम्लमधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः, **णिच्छया** शुद्धनिश्चयनयात् शुद्धबुद्धैकस्वभावे शुद्धजीवे न सन्ति । **अमुत्ति तदो** ततः कारणादमूर्तः । यद्यमूर्तस्तर्हि तस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् ?

गुण, गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनों के एकान्त रूपसे भेद के निराकरण के लिये उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथाएँ समाप्त हुईं ॥६॥

अब, अमूर्त्तिक तथा अतीन्द्रिय निज आत्मा के ज्ञानसे रहित होने के कारण तथा मूर्त्त जो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं उनमें आसक्ति के द्वारा जीव ने जो मूर्त्तिक कर्म उपार्जित किये हैं उनके उदय से व्यवहार नयकी अपेक्षा से जीव मूर्त्तिक है तथापि निश्चयनयसे अमूर्त्तिक है, ऐसा उपदेश देते हैं—

गाथार्थ— निश्चयनयसे जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं; इसलिये जीव अमूर्त्तिक है और व्यवहारनयकी अपेक्षा कर्म-बंध होने के कारण जीव मूर्त्तिक है ॥७॥

वृत्त्यर्थ—वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति सफेद, पीला, नीला, लाल तथा काला ये पाँच वर्ण; चरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा ये पाँच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गंध तथा ठंडा, गर्म, चिकना, रूखा, कड़ा, नरम, भारी और हलका ये आठ प्रकार के स्पर्श शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव-धारक शुद्ध जीव में नहीं हैं । **अमुत्ति तदो** इस कारण यह जीव अमूर्त्तिक है अर्थात् मूर्त्ति-रहित है ।

ववहारा मुत्ति अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो यतः। तदपि कस्मात्? **बंधादो** अनन्तज्ञानाद्युपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणादनादिकर्मबन्धनादिति । तथा चोक्तम्—कथंचिन्मूर्तामूर्तजीवलक्षणम्—**बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं। तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥१॥** अयमत्रार्थ—यस्यैवामूर्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनादिसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरंतरं ध्यातव्यः । इति भट्टचार्वाकमतं प्रत्यमूर्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥७॥

अथ निष्क्रियामूर्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहारादिनयविभागेन कर्ता भवतीति कथयति—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।
चेतनकर्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥८॥

शंका—यदि जीव अमूर्त्तिक है तो इस जीवके कर्म का बंध कैसे होता है ?

उत्तर—ववहारामुत्ति क्योंकि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव मूर्त्तिक है; अतः कर्म-बंध होता है ।

शंका—जीव मूर्त्त भी किस कारण से है ?

उत्तर—बंधादो अनंतज्ञान आदि की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उस मोक्ष से विपरीत अनादि कर्मों के बन्धन के कारण जीव मूर्त्त है । कथंचित् मूर्त्त तथा कथंचित् अमूर्त्त जीव का लक्षण है । कहा भी है—**कर्मबंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षणसे उस कर्मबंध की भिन्नता है इसलिये एकांत से जीवके अमूर्तभाव नहीं है ॥१॥** इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में भ्रमण किया है उसी अमूर्त्तिक शुद्धस्वरूप आत्मा को मूर्त्त पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके ध्यान करना चाहिये। इसप्रकार भट्ट और चार्वाक के प्रति जीव को मुख्यता से अमूर्त्त सिद्ध करनेवाला सूत्र कहा ॥७॥

अब क्रिया-शून्य, अमूर्त्तिक, टंकोत्कीर्ण (टाँकी से उकेरी हुई मूर्त्ति के समान अविचल) ज्ञायक एक स्वभाव से जीव यद्यपि कर्म आदि के कर्त्तापने से रहित है, फिर भी व्यवहार आदि नयकी अपेक्षा कर्त्ता होता है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है; निश्चयनय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध भावों का कर्त्ता है ॥८॥

व्याख्या—अत्र सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यानं क्रियते । **आदा** आत्मा **पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु** पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतस्तु पुनः, तथाहि—मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः संन्ननुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीनां च कर्ता भवति । **णिच्छयदो चेदणकम्माणादा** निश्चयनयतश्चेतनकर्मणां तद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपार्जितं रागाद्युत्पादकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति । अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायः पिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते । **सुद्धणया सुद्धभावाणं** शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्ता,

---

वृत्त्यर्थ—इस सूत्रमें भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित संबन्ध से बीच के पदको ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है । **आदा** आत्मा **पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु** व्यवहार नयकी अपेक्षा से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है । जैसे—मन, वचन तथा शरीर की क्रिया से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नो कर्म हैं उनका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे बाह्य विषय घट, पट आदि का भी यह जीव कर्त्ता होता है । **णिच्छयणयदो चेदणकम्मणादा** और निश्चय नयकी अपेक्षा से यह आत्मा चेतन कर्मों का कर्त्ता है । वह इस तरह–राग आदि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय, परमचैतन्य भावना से रहित होने के कारण जीव ने राग आदि को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का जो उपार्जन किया है उन कर्मों का उदय होनेपर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन–कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है । अशुद्ध निश्चय का अर्थ यह है—कर्म-उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय (उसी रूप) होने से निश्चय कहा जाता है, इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनों को मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है । **सुद्धणया सुद्धभावाणं** जब जीव शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय इन तीनों योगों के व्यापार से रहित

मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति । किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानाम् एव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति । यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजात्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या । एवं सांख्यमतं प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ।।८।।

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिकसुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेवणभावं खु आदस्स ।।९।।

व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गलकर्मफलं प्रभुङ्क्ते ।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ।।९।।

व्याख्या—ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि व्यवहारात् सुखदुःखरूपं पुद्गलकर्मफलं प्रभुंक्ते । स कः कर्त्ता ? **आदा** आत्मा । **णिच्छयणयदो चेवणभावं आदस्स** निश्चयनयतश्चेतनभावं

शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनंत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूपसे विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध निश्चय नयसे अनन्तज्ञानसुखादि शुद्ध भावों का कर्त्ता है । किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध, अशुद्ध भावों का कर्तृत्व जीव में जानना चाहिये और हस्त आदि के व्यापार रूप परिणमनों का कर्तापन न समझना चाहिये । क्योंकि नित्य; निरंजन; निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है; इसलिये उस निज शुद्ध आत्मा में ही भावना करनी चाहिये । इस तरह सांख्यमत के प्रति 'एकान्त से जीव कर्त्ता नहीं है' इस मत के निराकरण की मुख्यता से गाथा समाप्त हुई ।।८।।

अब यद्यपि आत्मा शुद्ध नयसे विकाररहित परम आनंद रूप लक्षण वाले ऐसे सुख रूपी अमृत को भोगने वाला है तो भी अशुद्ध नय से सांसारिक सुख-दुःख का भी भोगने वाला है, ऐसा कहते हैं—

गाथार्थ—व्यवहार नयसे आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय नयसे अपने चेतन भाव को भोगता है ।।९।।

वृत्त्यर्थ—**ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि** व्यवहार नय की अपेक्षा से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलों को भोगता है । वह कर्म फलों का भोक्ता कौन है ?

भुंक्ते । खु स्फुटम् । कस्य सम्बन्धिनमात्मनः स्वस्येति । तद्यथा—आत्माहि निजशुद्धात्मसंवित्ति समुद्भूतपारमार्थिकसुखसुधारसभोजनमलभमान उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुंक्ते; तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभ्यन्तरे सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्म्मरूपं सातासातोदयं भुंक्ते । स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं च भुंक्ते । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षण सुखामृतं भुंक्त इति । अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः । एवं कर्ता कर्मफलं न भुंक्त इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥९॥

अथ निश्चयेन लोकप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति—

आदा आत्मा । णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स और निश्चय नयसे तो स्पष्ट रीति से चेतन भाव का ही भोक्ता आत्मा है । वह चेतन भाव किस सम्बन्धी है ? आत्माका अपना ही है । वह ऐसे—अपने शुद्ध आत्मअनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस का भोजन न प्राप्त करता हुआ आत्मा, उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट, अनिष्ट पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है; उसी तरह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे अन्तरंग में सुख-दुःख को उत्पन्न करनेवाले द्रव्य कर्मरूप साता-असाता के उदय को भोगता है । तथा अशुद्ध निश्चय नय से वही आत्मा हर्ष, विषाद रूप सुख-दुःख को भोगता है और शुद्ध निश्चय नयसे तो परमात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप वाले सुखामृत को भोगता है । यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है । इसप्रकार 'कर्त्ता कर्म के फल को नहीं भोगता है' इस बौद्ध मत का खंडन करने के लिये 'जीव कर्म फलका भोक्ता है' यह व्याख्यान रूप सूत्र समाप्त हुआ ॥९॥

'आत्मा यद्यपि निश्चय नय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों का धारक है फिर भी व्यवहार नयसे अपनी देह के बराबर है' यह बतलाते हैं—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

अणुगुरुदेहप्रमाणः उपसंहारप्रसर्प्पतः चेतयिता ।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा ॥१०॥

व्याख्या—अणुगुरुदेहपमाणो निश्चयेनस्वदेहाद्भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेरभिन्नस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाप्रभृतिसमस्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपार्जितं शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति । स कः कर्ता ? **चेदा** चेतयिता जीवः । कस्मात् ? **उवसंहारप्पसप्पदो** उपसंहारप्रसर्पतःशरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र दृष्टान्तः ? यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तर सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् ? **असमुहदो** असमुद्घातात् वेदनाकषायविक्रियामारणान्तिकतैजसाहारककेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्जनात् । तथा चोक्तं

गाथार्थ—समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहार नयसे संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नयसे असंख्यात प्रदेशों का धारक है ॥१०॥

वृत्त्यर्थ—अणुगुरुदेहपमाणो निश्चय नयसे अपने देह से भिन्न तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध आतमस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूल भूत आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञा आदि; समस्त राग आदि विभावों में आसक्ति के होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जन किया उसका उदय होनेपर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है । **प्रश्न**—शरीर प्रमाण वाला कौन है ? **उत्तर—चेदा** चेतन अर्थात् जीव है । **प्रश्न**—किस कारण से ? **उत्तर—उवसंहारप्पसप्पदो** संकोच तथा विस्तार स्वभाव से । यानी—शरीर नामकर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव के धर्म हैं; उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है । **प्रश्न**—यहाँ दृष्टान्त क्या है ? **उत्तर**—जैसे दीपक किसी बड़े पात्रसे ढक दिया जाता है तो दीपक उस पात्रके भीतर सबको प्रकाशित करता है और यदि छोटे पात्र में रख दिया जाता है तो उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है । **प्रश्न**—फिर अन्य किस कारण से यह जीव देहप्रमाण है ? **उत्तर—असमुहदो** समुद्घात के न होने से । वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात समुद्घातों के न होने से जीव शरीर के बराबर होता है । (समुद्घात की दशा में तो जीव देह से बाहर भी रहता है किन्तु समुद्घात के बिना देहप्रमाण ही रहता है) । सात समुद्घातों का लक्षण इसप्रकार कहा है—१. वेदना, २. कषाय, ३. विक्रिया,

सप्तसमुद्घातलक्षणम्—**वेयणकसायवेउव्वियमारणंतिओ समुग्घादो । तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥१॥** तद्यथा—**मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम ॥१॥** तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति **वेदनासमुद्घातः** ।१। तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **कषायसमुद्घातः** ॥२॥ मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **विक्रियासमुद्घातः** ॥३॥ मरणांतसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **मारणान्तिकसमुद्घातः** ॥४॥ स्वस्य मनोनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणन हृदये निहितं विरुद्ध वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्,

---

४. मारणान्तिक, ५. तैजस, ६. आहार और ७. केवली—ये सात समुद्घात हैं । इनका स्वरूप यों है—'अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्माके कुछ प्रदेश देहसे बाहर निकलकर उत्तरदेह के प्रति जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं' । तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, सो **वेदना समुद्घात** है ॥१॥ तीव्र क्रोधादिक कषाय के उदय से अपने धारण किये हुए शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिये शरीर के बाहर जाते हैं उसको **कषाय समुद्घात** कहते हैं ॥२॥ किसी प्रकार की विक्रिया (छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर) उत्पन्न करने के लिये मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको **विक्रिया समुद्घात** कहते हैं ॥३॥ मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहाँ इस आत्मा ने आगामी आयु बाँधी है उसके छूने के लिये जो आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो **मारणान्तिक समुद्घात** है ॥४॥ अपने मनको अनिष्ट उत्पन्न करनेवाले किसी कारण को देखकर क्रोधित संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्ति वाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल-विस्तार और नौ योजन के अग्र-विस्तार वाला, काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुरुष (पुतला) निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे । जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और

असावशुभस्तेजः समुद्घातः। लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभाकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ **शुभरूपस्तेजः समुद्घातः** ॥५॥ समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, **असावाहारसमुद्घातः** ॥६॥ सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणः सोऽयं **केवलिसमुद्घातः** ॥७॥

नयविभागः कथ्यते—**ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् **णिच्छयणयदो असंखदेसो वा** निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः । **वा** शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्ति-

---

वह पुतला आप भी भस्म हो गया। सो **अशुभ तैजस समुद्घात** है।[१] तथा जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाएँ कंधे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे वह **शुभ तैजस समुद्घात** है ॥५॥ पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धि के धारक महर्षिके मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर, निर्मल स्फटिक के रंगका एक हाथ का पुतला निकलकर अन्तर्मुहूर्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कराकर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे, सो **आहारक समुद्घात** है ॥६॥ केवलियों के जो दंड-कपाट-प्रतर-लोक पूर्ण होता है सो सातवाँ **केवलिसमुद्घात** है ॥७॥

अब नयों का विभाग कहते हैं। **ववहारा** अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव अपने शरीर के बराबर है तथा **णिच्छयणयदो असंखदेसो वा** निश्चय नय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य प्रदेश हैं उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक यह आत्मा है। **असंखदेसो वा** यहाँ जो **वा** शब्द दिया है उस शब्द से ग्रन्थकर्त्ता ने यह सूचित किया है कि स्वसंवेदन (आत्मानुभूति) से उत्पन्न हुए केवलज्ञान की उत्पत्ति की अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा लोक, अलोक व्यापक है। किन्तु नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य मत अनुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की

---

१. ध. पु. १४ पृष्ठ ३२८ तथा रा. वा. २/४९/८ भी द्रष्टव्य है।

प्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः; न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवत् । तथैव पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्वसंवदनलक्षणबोधसद्‌भावेऽपि बहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जडः, न च सर्वथा सांख्यमतवत् । तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति, न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत् । किञ्च—अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यम्, न च पुद्‌गलपरमाणुः । गुरुशरीरशब्देन च योजनसहस्रपरिमाण महामत्स्यशरीरं मध्यमावगाहेन मध्यमशरीराणि च । इदमत्रतात्पर्यम्—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्व त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति । एव स्वदेहमात्रव्याख्यानेन गाथा गता ॥१०॥

अतः परं गाथात्रयेण नयविभागेन संसारिजीवस्वरूपं तदवसाने शुद्धजीवस्वरूपं च कथयति । तद्यथा—

अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं है । इसीतरह पाँचों इन्द्रियों और मनके विषयों के विकल्पों से रहित जो ध्यान का समय है उस समय आत्म-अनुभव रूप ज्ञानके विद्यमान होनेपर भी बाहरी विषय रूप इन्द्रिय ज्ञानके अभाव से आत्मा जड़ माना गया है परन्तु सांख्य मत की तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है ।[1] इसी तरह आत्मा रागद्वेष आदि विभाव परिणामों की अपेक्षा से (उनके न होने से) शून्य होता है, किन्तु बौद्ध मतके समान अनन्त ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य नहीं है ।

विशेष—अणुमात्र शरीर आत्मा है, यहाँ अणु शब्दसे उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद शरीर है, उस शरीर का ग्रहण करना चाहिये किन्तु पुद्‌गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिये । एवं गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिये, और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है । तात्पर्य यह है—जीव देह के साथ ममत्व के निमित्त से देहको ग्रहण कर संसार में भ्रमण करता है, इसलिये देह आदि के ममत्व को छोड़कर निर्मोह अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये । इसप्रकार जीव स्वदेह-मात्र है इस व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥१०॥

अब तीन गाथाओं द्वारा नयविभाग पूर्वक संसारी जीवका स्वरूप और उसके अन्तमें शुद्ध जीवका स्वरूप कहते हैं—

---

१. सांख्य मत के अनुसार चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है, ज्ञान नहीं । वे आत्मा को चेतन तो मानते हैं पर ज्ञान गुण वाला नहीं मानते । उनका कहना है कि ज्ञान तो बुद्धि (जो कि प्रकृति तत्त्व से उत्पन्न हुई है) का धर्म है ।
—षड्दर्शनसमुच्चय पृष्ठ १५१; भारतीयदर्शन-एन. के. देवड़ा, पृ. ३८७ एवं ४१२ ।

पुढविजलतेयवाऊ वण्णप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः ॥११॥

व्याख्या—होंति इत्यादिव्याख्यानं क्रियते । **होंति** अतीन्द्रियामूर्तनिजपरमात्मस्वभावानुभूतिजनितसुखामृतरसस्वभावमलभमानास्तुच्छमपीन्द्रियसुखमभिलषन्ति छद्मस्थाः, तदासक्ताः सन्त एकेन्द्रियादिजीवानां घातं कुर्वन्ति तेनोपार्जितं यत्त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयेन जीवा भवन्ति । कथंभूता भवन्ति ? **पुढविजलतेयवाऊ वण्णप्फदी विविहथावरेइंदी** पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । कतिसंख्योपेता ? विविधा आगमकथितस्वकीयस्वकीयान्तर्भेदैर्बहुविधाः । स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा, एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रिययुक्ता एकेन्द्रियाः, न केवलमित्थं भूताः स्थावरा भवन्ति । **विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा** द्वित्रिचतुः पञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन त्रसजीवा भवन्ति । ते च कथंभूताः ? **संखादी** शङ्खादयः । स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वययुक्ताः शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रियाः । स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियत्रययुक्ताः कुन्थु-

---

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकारके स्थावर जीव हैं ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं ॥११॥

वृत्त्यर्थ—यहाँ **होंति** आदि पदोंकी व्याख्या की जाती है । **होंति** अल्पज्ञ जीव, अतीन्द्रिय अमूर्तिक अपने परमात्म स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस को न पा करके, इन्द्रियों से उत्पन्न तुच्छ सुखकी अभिलाषा करते हैं । उस इन्द्रियजनित सुखमें आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करते हैं, उस जीव-घातसे उपार्जन किये त्रस, स्थावर नाम कर्मके उदय से स्वयं त्रस, स्थावर होते हैं । किस प्रकार होते हैं ? **पुढविजलयतेयवाऊ वणप्फदीविविहथावरेइन्दी** पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीव होते हैं । वे कितने हैं ? अनेक प्रकार के हैं । शास्त्र में कहे हुए अपने-अपने अवान्तर भेद से बहुत प्रकार के हैं । स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रिय जाति कर्मके उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं । इसप्रकार से केवल स्थावर ही नहीं होते बल्कि **विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा** दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियों वाले त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस जीव भी होते हैं । वे कैसे हैं ? **संखादी** शंख आदि । स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले शंख, कृमि, सीप आदि दो इन्द्रिय जीव हैं । स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले कुन्थु, पिपीलिका

पिपीलिकायूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ता दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियपञ्चयुक्ता मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रिया इति। अयमत्रार्थः—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवानां वधं कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्तं पूर्वं तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थं तत्रैव परमात्मनि भावना कर्त्तव्येति ॥११॥

तदेव त्रसस्थावरत्वं चतुर्दशजीवसमासरूपेण व्यक्तीकरोति—

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ॥

समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे।
बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥ १२ ॥

व्याख्या—समणा अमणा समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजाल-

---

(कीड़ी), जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियों वाले डाँस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, बर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियों वाले मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।[१] सारांश यह है कि निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज परमात्मस्वरूप की भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियों के सुख में आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करते हैं उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं, इस कारण त्रस, स्थावरों में जो उत्पत्ति होती है, उसको मिटाने के लिये उसी पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा में भावना करनी चाहिये ॥११॥

अब उसी त्रस तथा स्थावर पनको १४ जीवसमासों द्वारा प्रकट करते हैं—

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो तरह के जानने चाहिये, शेष सब जीव मन रहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और ये सब जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त होते हैं। (पंचेन्द्रियसंज्ञी, पंचेन्द्रिय असंज्ञी, दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से जीवसमास १४ होते हैं।) ॥१२॥

वृत्त्यर्थ—समणा अमणा समस्त शुभ-अशुभ विकल्पों से रहित जो परमात्म-

---

१. देखिये त. सा. अधि. २ गाथा ५४ से ५६; धवल १, २४५-२४८ आदि।

रूपं मनो भण्यते, तेन सह ये वर्त्तन्ते ते समनस्काः संज्ञिनः, तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः । **णेया** ज्ञेया ज्ञातव्याः । **पंचिंदिय** ते संज्ञिनस्तथैवासंज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रियाः । एवं संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव । **णिम्मणा परे सव्वे** निर्मनस्काः पञ्चेन्द्रियात्सकाशात् परे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः । **बादरसुहमेइंदी** बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि यदष्टपत्रपद्माकारं द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादिग्राहकं भावमनश्चेति तदुभयाभावादसंज्ञिन एव । **सव्वे पज्जत्त इदरा य** एवमुक्तप्रकारेण संज्ञ्यसंज्ञिरूपेण पञ्चेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं बादरसूक्ष्मरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति सप्त भेदाः । **आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो । चत्तारिपंचछप्पियएइंदियवियलसण्णिसण्णीणं** ।।१।। इति गाथाकथितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिसंभवात्सप्त पर्याप्ताः सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति । एवं चतुर्दशजीवसमासा ज्ञातव्यास्तेषां च **इंदियकायाऊणिय पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा । बेइंदियादिपुण्णे वचीमणो सण्णिपुण्णेव** ।।१।। **इस सण्णीण पाणा सेसे-**

रूप द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरह के विकल्पजालरूप मन है, ऐसे मन सहित जीवको 'समनस्कसंज्ञी' कहते हैं । तथा मनसे शून्य अमनस्क यानी असंज्ञी **णेया** जानने चाहिये । **पंचिंदिया** पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असज्ञी दोनों होते हैं । ऐसे संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते हैं । नारकी, मनुष्य और देव संज्ञीपंचेन्द्रिय ही होते हैं । **णिम्मणा परे सव्वे** पंचेन्द्रिय से भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं । **बादरसुहमेइंदी** बादर और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे भी आठ पांखडी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मन के आधार से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि का ग्राहक भावमन, इन दोनों प्रकार के मन न होने से असंज्ञी ही हैं । **सव्वे पज्जत्त इदरा य** इस तरह उक्त प्रकार से संज्ञी और असंज्ञी दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय तथा बादर सूक्ष्म दो तरह के एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए । आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये ६ पर्याप्तियाँ हैं । इनमें से एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं । विकलेन्द्रिय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनके बिना पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं ।

इस गाथा में कहे हुए क्रमसे वे जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण होने से सातों पर्याप्त हैं और अपनी पर्याप्तियाँ पूरी न होने की दशामें सातों अपर्याप्त भी होते हैं । ऐसे चौदह जीव समास जानने चाहिये । 'इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं । श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है । वचन बल

गुणंतिमस्सवे ऊणा । पज्जत्तेसिदरेसु य सत्तदुगे सेसगेगूणा ।।२।। इति गाथाद्वयकथितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदशप्राणाश्च विज्ञेयाः । अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः ।।१२।।

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानसहिता भवन्तीति प्रतिपादयति—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।। १३ ।।

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात् ।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात् ।।१३।।

व्याख्या—**मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया** यथा पूर्वसूत्रोदितचतुर्दशजीवसमासैर्भवन्ति

प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि के ही होता है । मनोबल प्राण संज्ञीपर्याप्त के ही होता है' ।।१।। 'पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रियों के १० प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियों के मनके बिना ९ प्राण, चौइन्द्रियों के मन और कर्ण इन्द्रिय के बिना ८ प्राण, तीन इन्द्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना ७ प्राण, दो इन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के बिना ६ प्राण और एकेन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचन बल के बिना ४ प्राण होते हैं । अपर्याप्त जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियों के श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनोबल के बिना ७ प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रमसे एक-एक प्राण घटता हुआ है ।।२।।' इन दो गाथाओं द्वारा कहे हुये क्रमसे यथासंभव इन्द्रियादिक दस प्राण समझने चाहिये । अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्तियों तथा प्राणों से भिन्न अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ।।१२।।

अब शुद्ध पारिणामिक परम भावका ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं तो भी अशुद्धनय से चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थानों सहित होते हैं, ऐसा बतलाते हैं—

गाथार्थ—संसारी जीव अशुद्ध नयकी दृष्टिसे चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं ।

वृत्त्यर्थ—**मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया** जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहे हुए १४ जीवसमासों से जीवों के १४ भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुण-

मार्गणागुणस्थानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति **विज्ञेया** ज्ञातव्याः । कतिसंख्योपेतैः ? **चउदसहि** प्रत्येकं चतुर्दशभिः । कस्मात् ? **असुद्धणया** अशुद्धनयात् सकाशात् । इत्थंभूताः के भवन्ति ? **संसारी** संसारिजीवाः । **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** त एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः । कस्मात् ? शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनयादिति । अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति । **मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य । विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य ॥१॥ उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य । चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥२॥** इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते । तथाहि—सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि

स्थानों से भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । मार्गणा और गुणस्थानों से कितनी संख्या वाले होते हैं ? **चउदसहि** प्रत्येक से १४-१४ संख्या वाले हैं । किस अपेक्षा से ? **असुद्धणया** अशुद्ध नयकी अपेक्षा से । मार्गणा और गुणस्थानों से अशुद्ध नयकी अपेक्षा चौदह-चौदह प्रकार के कौन होते हैं ? **संसारी** संसारी जीव होते हैं । **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** वे ही सब संसारी जीव शुद्ध यानी—स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एक-स्वभाव-धारक हैं । किस अपेक्षा से ? शुद्ध नयसे अर्थात् शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा से ।

अब शास्त्रप्रसिद्ध दो गाथाओं द्वारा गुणस्थानोंके नाम कहते हैं । 'मिथ्यात्व १, सासादन २, मिश्र ३, अविरतसम्यक्त्व ४, देशविरत ५, प्रमत्तविरत ६, अप्रमत्तविरत ७, अपूर्वकरण ८, अनिवृत्तिकरण ९, सूक्ष्मसांपराय १०, उपशांतमोह ११, क्षीणमोह १२, सयोगकेवली १३ और अयोगकेवली १४ इस तरह क्रमसे चौदह गुणस्थान जानने चाहिये ॥२॥' अब इन गुणस्थानों में से प्रत्येक का संक्षेप से लक्षण कहते हैं । वह इस प्रकार स्वाभाविक शुद्ध केवल ज्ञान केवल दर्शन रूप अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि षट् द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों में तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभाग से जिस जीव के श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है ॥१॥ पाषाणरेखा (पत्थर में उकेरी हुई लकीर) के समान जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के उदय से प्रथम—औपशमिक सम्यक्त्व से, गिरकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के बीच के परिणाम वाला जीव

गच्छतीत्यन्तरालवर्त्ती सासादनः। निजशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानवर्त्ती भवति। अथ मतं—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया, न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिकमिथ्यादृष्टिः संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेष इति ? अत्र परिहारः—"स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं कुरुते, निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेषः।" स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनि-

---

सासादन होता है ।।२।। जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मतके अनुसार भी मानता है वह मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ मिले हुए पदार्थ की भाँति **मिश्रगुणस्थान वाला है**[1] ।।३।। शंका—"चाहे जिससे हो मुझे तो एक देवसे मतलब है अथवा सब ही देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी भी देव की न करनी चाहिये" इसप्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है; तब उनमें तथा मिश्रगुणस्थानवर्त्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ? इसका उत्तर यह है कि—वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक की भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मान कर संशय रूपसे भक्ति करता है; उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्रगुणस्थानवर्त्ती जीवके दोनों में निश्चय है। बस, यही अन्तर है। जो 'स्वाभाविक अनंत ज्ञान आदि अनंत गुण का आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं' इस तरह सर्वज्ञदेवप्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य-साधक भावसे मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषाय के उदय से; मारने के लिये कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रिय-सुखका अनुभव करता है; यह **अविरत सम्यग्दृष्टि** चौथे गुणस्थानवर्त्ती का लक्षण है ।।४।। पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का अभाव होनेपर अन्तरंग में निश्चय नय

---

१. पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरहन्त भी देव हैं, ऐसे अभिप्रायवाला पुरुष इस गुणस्थान में पाया जाता है। (गो. जी. म. प्र. टीका २२ धवल पु० १ पृ. १६८-६९ तथा उपासकाध्ययन ४/१४३-४४)

वृत्तिलक्षणेषु **दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्ते य । बम्हारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥१॥** इति गाथाकथितैकादशनिलयेषु वर्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति ॥५॥ स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहित-स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रह-निवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्त्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुण-स्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयतो भवति ।६।। स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धा-त्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन्सप्तमगुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसंयतो भवति ॥७॥ स एवातीवसंज्वलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्ट-मगुणस्थानवर्त्ती भवति ॥८॥ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपसमस्तसङ्कल्पविकल्परहितनिजनिश्चल-परमात्मतत्त्वैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्ण-संस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिकक्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृती-

---

से एकदेश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुखके अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा; झूठ; चोरी; अब्रह्म और परिग्रह इनके एकदेश त्याग रूप पाँच अणुव्रतों में और 'दर्शन; व्रत; सामायिक; प्रोषध; सचित्तविरत; रात्रिभुक्ति त्याग; ब्रह्मचर्य; आरम्भत्याग; परिग्रहत्याग; अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ॥१॥' इस गाथा में कहे हुए श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में वर्तने वाला है वह **पंचम गुणस्थान-वर्त्ती श्रावक** होता है ॥५॥ जब वही सम्यग्दृष्टि; धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होनेपर निश्चय नयसे अंतरंग में राग आदि उपाधि-रहित; निज-शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रूप और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूपसे हिंसा; असत्य; चोरी; अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप ऐसे पाँच महाव्रतों का पालन करता है; तब वह बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्त्ती **प्रमत्तसंयत** होता है ॥६॥ वही; जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होनेपर प्रमादरहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करनेवाले व्यक्त अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर; सप्तम गुणस्थानवर्त्ती **अप्रमत्तसंयत** होता है ॥७॥ वही; संज्वलन कषाय का अत्यन्त मन्द उदय होनेपर; अपूर्व परमआह्लाद एक सुख के अनुभव रूप 'अपूर्वकरण में उप-शमक या क्षपक नामक **अष्टम गुणस्थानवर्त्ती** होता है ॥८॥ देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की वांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल पर-मात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अंतर

नामुपशमनक्षपणसमर्था नवमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।।९।। सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन सूक्ष्मकृष्टिगतलोभकषायस्योपशमकाः क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।।१०।। परमोपशममूर्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिबलेन सकलोपशान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।११। उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति ।।१२।। मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालं स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणैकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति ।।१३।। मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति ।।१४।। ततश्च निश्चयरत्नत्रयात्मककारणभूतसमयसारसंज्ञन परमयथाख्यातचारित्रेण चतुर्दशगुणस्थानातीताः ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहिताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतनिर्नामनिर्गोत्राद्यनन्तगुणाः सिद्धाः भवन्ति ।

नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थान के भेद होनेपर भी **अनिवृत्तिकरण** उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक; अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ **नवम गुणस्थानवर्त्ती** जीव हैं ।।९।। सूक्ष्म परमात्मतत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे **दशम गुणस्थानवर्त्ती** हैं ।।१०।। परम उपशममूर्त्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करनेवाले **ग्यारहवें गुणस्थानवर्त्ती** होते हैं ।।११।। उपशमश्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषायरहित शुद्ध आत्मा की भावना के बलसे जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे **बारहवें गुणस्थानवर्त्ती** होते हैं ।।१२।। मोह का नाश होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान में स्थिर होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण; दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान किरणों से लोक अलोक के प्रकाशक **तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती** जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं ।।१३।। और मन, वचन, कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित **चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगी जिन** होते हैं ।।१४।। तदन्तर निश्चय रत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों में गर्भित निर्नाम (नाम रहित), निर्गोत्र (गोत्र रहित) आदि, अनन्त गुण सहित सिद्ध होते हैं ।

अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति ? परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति । अत्र दृष्टान्तः । यथा—चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावात् मोक्षं गच्छति । इति चतुर्दशगुणस्थानव्याख्यानं गतम् । इदानीं मार्गणाः कथ्यन्ते । **गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणेय । संयम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ।।१।।** इति गाथाकथितक्रमेण गत्यादिचतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्याः । तद्यथा—स्वात्मोपलब्धिसिद्धिविलक्षणा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदेन चतुर्विधा गतिमार्गणा भवति ।।१।। अतीन्द्रियशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूता ह्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन पञ्च-

---

यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान हो जानेपर जब मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानों में रहने का कोई समय ही नहीं है ?

इस शंका का परिहार करते हैं कि केवलज्ञान हो जानेपर यथाख्यात चारित्र तो हो जाता है किन्तु परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता है । यहाँ दृष्टान्त है—जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता, किन्तु उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसी तरह सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव है तो भी निष्क्रिय शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो तीन योगों का व्यापार है वह चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है । तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अंत समय को छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होनेपर चारित्र में दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं । इसप्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब चौदह मार्गणाओं का कथन किया जाता है 'गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी तथा आहार ।।१।।' इस तरह क्रमसे गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये । निज आत्मा की प्राप्ति से विलक्षण नारक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति भेद से **गतिमार्गणा** चार प्रकार की है—१. अतीन्द्रिय; शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से **इन्द्रियमार्गणा** पाँच प्रकार की हैं ।।२।। शरीर रहित

प्रकारेन्द्रियमार्गणा ॥२॥ अशरीरात्मतत्त्वविसदृशी पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदेन षड्भेदा कायमार्गणा ॥३॥ निर्व्यापारशुद्धात्मपदार्थविलक्षणमनोवचनकाययोगभेदेन त्रिधा योगमार्गणा, अथवा विस्तरेण सत्यासत्योभयानुभयभेदेन चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणकायभेदेन सप्तविधो काययोगश्चेति समुदायेन पञ्चदशविधा वा योगमार्गणा ॥४॥ वेदोदयोद्भवरागादिदोषरहितपरमात्मद्रव्याद्भिन्ना स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधा वेद-मार्गणा ॥५॥ निष्कषायशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलक्रोधलोभमायामानभेदेन चतुर्विधा कषायमार्गणा, विस्तरेण कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा ।६। मत्यादिसंज्ञापञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानत्रयं चेत्य-ष्टविधा ज्ञानमार्गणा ॥७॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन चारित्रं पञ्चविधम्, संयमासंयमस्तथैवासंयमश्चेति प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकारा संयममार्गणा ॥८॥ चक्षुरच-क्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणा ॥९॥ कषायोदयरञ्जितयोगप्रवृत्तिविसदृशपरमात्म-

---

आत्मतत्त्व से भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के भेद से काय-मार्गणा छह तरह की होती है ॥३॥ व्यापाररहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विलक्षण मनो-योग, वचनयोग तथा काययोग के भेद से योगमार्गणा तीन प्रकार की है अथवा विस्तार से सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग के भेद से चार प्रकार का मनोयोग है। ऐसे ही सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार भेदों से वचन-योग भी चार प्रकार का है एवं औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण ऐसे काययोग सात प्रकार का है। सब मिलकर **योगमार्गणा** १५ प्रकार की हुई ॥४॥ वेद के उदय से उत्पन्न होनेवाले रागादिक दोषों से रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ऐसे तीन प्रकार की **वेदमार्गणा** है ॥५॥ कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया, लोभ भेदों से चार प्रकार की **कषायमार्गणा** है। विस्तार से अनन्तानुबंधी; अप्रत्याख्यानावरण; प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन भेद से १६ कषाय और हास्यादिक भेद से ९ नोकषाय ये सब मिलकर पच्चीस प्रकार की कषायमार्गणा है ॥६॥ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान, इस तरह ८ प्रकार की **ज्ञानमार्गणा** है ॥७॥ सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार का चारित्र और संयमा-संयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्षी; ऐसे **संयममार्गणा** सात प्रकार की है ॥८॥ चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन इन भेदों से **दर्शनमार्गणा** चार प्रकार की है ॥९॥ कषायों के उदय से रँगी हुई जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है, उससे भिन्न जो पर-मात्मद्रव्य है; उस परमात्मद्रव्य से विरोध करनेवाली कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म

द्रव्यप्रतिपक्षिणी[1] कृष्णनीलकापोततेज:पद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा ।१०। भव्याभव्यभेदेन द्विविधा भव्यमार्गणा ॥११॥ अत्राह शिष्य:—शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुणस्थान-मार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्याभव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापरविरोध: ? अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुणस्थानमार्गणा-निषेधः कृतः, इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारिणामिकभावरूपं मार्गणामध्येऽपि घटते । ननु—शुद्धाशुद्धभेदेन पारिणामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव ? नैवं यद्यपि सामान्यरूपेणोत्सर्ग-व्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभाव: कथ्यते तथाप्यपवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति । तथाहि—**जीवभव्याभव्यत्वानि च** इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणित:, तत्र शुद्धचैतन्य-रूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुनः

और शुक्ल ऐसे ६ प्रकार की लेश्यामार्गणा है ॥१०॥ भव्य और अभव्य भेद से भव्य-मार्गणा दो प्रकार की है ॥११॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—"शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप शुद्ध निश्चय-नय की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों से रहित है" ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य अभव्य रूपसे मार्गणा में भी आपने पारिणामिक भाव कहा; सो यह तो पूर्वापरविरोध है ? अब इस शंका का समाधान करते हैं—पूर्व प्रसंग में तो शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणा का निषेध किया है और यहाँ पर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूपसे भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणा में भी घटित होते हैं। यदि कदाचित् ऐसा कहो कि "शुद्ध अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है" तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्य रूपसे पारिणामिक भाव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है, तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण **जीवभव्याभव्यत्वानि च** (अ. २ सू. ७) इस तत्त्वार्थसूत्र में जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदों से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेद से तीन तरह का है और ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा

---

१. "प्रतिपक्षी" इति पाठान्तरम् ।

कर्मजनितदशप्राणरूपं जीवत्वं, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिकभाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत् ? यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथापि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वरः, इति भावार्थः। औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रसंज्ञविपक्षत्रयभेदेन सह षड्विधा ज्ञातव्या ।१२। सञ्ज्ञि-

---

अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं।[1] "इनकी अशुद्धता किस प्रकार से है ?" इस शंका का उत्तर यह है—यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनयसे संसारी जीव में हैं, तथापि **सव्वेसुद्धा हु सुद्धणया** इस वचन से ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नहीं हैं और मुक्त जीवों में तो सर्वथा ही नहीं है; इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भाव में से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यान के समय ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है, ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है; और शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप होने के कारण अविनाशी है, यह सारांश है। सम्यक्त्व के भेद से **सम्यक्त्वमार्गणा** तीन प्रकार की है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक। और मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों के साथ छह प्रकार की भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिये ॥१२॥

---

१. इस प्रकरण में जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व भावों को किसी दृष्टि से औदयिक भाव सिद्ध किया जा रहा है— 'सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है, किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है; ऐसा कारण-कार्यभाव के ज्ञाता कहते हैं।' ऐसा न्याय है। इसलिये जीवभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में जो जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है वह प्राणों के धारण करने की अपेक्षा नहीं कहा है किन्तु चैतन्य गुण की अपेक्षा से वहाँ वैसा कथन किया है इसलिये वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता।

चार अघाती कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है। वह दो प्रकार का है—अनादि अनन्त और अनादि सान्त। इनमें से जिनके असिद्धभाव अनादि-अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिये भव्यत्व व अभव्यत्व ये भी विपाकप्रत्ययिक (औदयिक) ही हैं। **शंका**—'तत्त्वार्थसूत्र' में इन्हें पारिणामिक कहा है, इसलिये इस कथन का उसके साथ विरोध कैसे नहीं होगा ? **समाधान**—नहीं, क्योंकि असिद्धत्व का अनादि अनन्तपना और अनादि सान्तपना निष्कारण है, ऐसा समझकर उन्हें वहाँ पारिणामिक स्वीकार किया गया है।

—धवला १४ पृ. १३-१४.

त्वासंज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संज्ञ्यसंज्ञिभेदेन द्विधा संज्ञिमार्गणा ॥१३॥ आहारकानाहारक-जीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा ॥१४॥ इति चतुर्दशमार्गणास्वरूपं ज्ञातव्यम् । एवं **पुढविजलतेयवाऊ** इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेण च **गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओय । उव-ओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया** ॥१॥ इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहा-धवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम् । **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचित-मिति । अत्रगुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं कारणसमयसारस्वरूपं तत्तस्यैवोपा-देयभूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं शेषं तु हेयमिति । यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य

संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व से विलक्षण परमात्मस्वरूप से भिन्न **संज्ञिमार्गणा** 'संज्ञी तथा असंज्ञी भेद से' दो प्रकार की है ॥१३॥ आहारक अनाहारक जीवों के भेद से **आहार-मार्गणा** भी दो प्रकार की है ॥१४॥ इसप्रकार चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये। इस रीति से **पुढविजलतेयवाऊ** इत्यादि दो गाथाओं और तीसरी गाथा **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** के तीन पदों से "गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा चौदह मार्गणा और उपयोगों से इसप्रकार क्रमशः बीस प्ररूपणा कही हैं ॥१॥" इत्यादि गाथा में कहा हुआ स्वरूप **धवल, जयधवल और महाधवल**[1] प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीज-पद की सूचना ग्रन्थकारने की है। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इस तृतीय गाथा के चौथे पाद से शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाशक **पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार** इन तीनों प्राभृतों का बीजपद सूचित किया है। यहाँ गुणस्थान और मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्मा के स्वरूप हैं, अतः साक्षात् उपादेय हैं; और जो शुद्ध आत्मा के सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप कारण समयसार है वह उसी उपादेय-भूतका विवक्षित एक देश शुद्धनय द्वारा साधक होने से परम्परा से उपादेय है, इसके सिवाय और सब

---

१. यद्यपि षट्खण्डागम के छठे खण्ड का नाम महाबन्ध ही है पर वह इतने विस्तार पूर्वक विवेचित है कि उस पर टीका लिखने की आवश्यकता अभी तक किसी आचार्य के अनुभव में नहीं आई। फल स्वरूप षट्खण्ड के आद्य पाँच खण्डों की टीका को धवला तथा छठे खण्ड महाबन्ध का नाम महाधवला के रूपमें प्रसिद्ध हुआ। इसतरह तीनों महाकायग्रन्थ धवलान्त नाम वाले हो गये; धवला, जयधवला तथा महाधवला। महाबन्ध का महाधवल नाम अन्यत्र भी मिलता है; महाबन्ध पु. १ पृ. १, कषायपाहुडसुत्त प्रस्ता. पृ. VIII, धवला पु. १ प्रस्तावना पृ. ६०, धवला पुस्तक ३ सम्पादकीय पृष्ठ ३-४ एवं चित्रपरिचय पृष्ठ १। अतः महाबन्ध को महाधवल नामसे अभिहित करना अनुचित नहीं है।

बीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव । अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथन-मुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथात्रयं गतम् ।।१३।।

अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तरार्द्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावं च कथयति—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ।।१४।।

निष्कर्म्माणः अष्टगुणाः किंचिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः ।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ।।१४।।

व्याख्या—सिद्धा सिद्धा भवन्तीति क्रियाध्याहारः । किं विशिष्टाः ? **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो** निष्कर्माणोऽष्टगुणाः किञ्चिदूनाश्चरमदेहतः सकाशादिति सूत्रपूर्वार्द्धेन सिद्धस्व-रूपमुक्तम् । ऊर्ध्वगमनं कथ्यते **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता** ते च सिद्धा लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः । अतो विस्तरः—कर्मारिविध्वंसकस्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन ज्ञानावरणा-

---

हेय हैं । और जो अध्यात्म ग्रन्थ का बीज-पदभूत शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है । इसप्रकार जीवाधिकार में शुद्ध, अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।।१३।।

अब निम्नलिखित गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों के स्वरूप[1] का और उत्तरार्द्ध द्वारा उनके ऊर्ध्वगमन स्वभाव का कथन करते हैं—

गाथार्थ—सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं और (ऊर्ध्व-गमन स्वभाव के कारण) लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं ।।१४।।

वृत्त्यर्थ—सिद्धा सिद्ध होते हैं, इस रीतिसे यहाँ **भवन्ति** इस क्रिया का अध्या-हार करना चाहिये । सिद्ध किन विशेषणों से विशिष्ट होते हैं ? **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो** कर्मोंसे रहित, आठ गुणोंसे सहित और अन्तिम शरीर से कुछ छोटे ऐसे सिद्ध हैं । इसप्रकार सूत्र के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों का स्वरूप कहा । अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं । **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता** वे सिद्ध लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं । अब विस्तार से इसकी व्याख्या करते हैं—कर्म शत्रुओं के विध्वंसक अपने शुद्ध आत्मसंवेदन के बल के

---

१. गाथा ५१ में भी सिद्धों का स्वरूप कहा है ।

विमूलोत्तरगतसमस्तकर्मप्रकृतिविनाशकत्वादष्टकर्मरहिताः सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अव-गहणं । अगुरुलहुमव्वबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥१॥ इति गाथाकथितक्रमेण तेषामष्टकर्मरहिता-नामष्टगुणाः कथ्यन्ते । तथाहि—केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेयं इति रुचिरूपं निश्चयसम्य-क्त्वं यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थायां भावितं तस्य फलभूतं समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेश-रहितपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्वं भण्यते । पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदन-ज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम् । निर्विकल्पस्वशुद्धात्म-सत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम् । कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरीषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्म-ध्याने पूर्वं यत् धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थपरिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम् । सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वात्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेक-सिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदानसामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते । यदि सर्वथा

द्वारा ज्ञानावरण आदि समस्त मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के विनाश करने से आठों कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं । तथा **सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं ॥१॥** इस गाथा में कहे क्रमसे आठ कर्म रहित सिद्धों के आठ गुण कहे जाते हैं । केवलज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है; इसप्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था में भावित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (विरुद्ध अभिप्राय) से रहित परिणामरूप परम क्षायिक **सम्यक्त्व** गुण सिद्धों के कहा गया है । पहले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्था में भावना किये हुए निर्विकार स्वानुभवरूप ज्ञानके फलस्वरूप एक ही समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए विशेषों को जानने वाला **केवलज्ञान** गुण है । समस्त विकल्पों से रहित अपनी शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन रूप जो दर्शन पहले भावित किया था उसी दर्शन के फलरूप एक काल में लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करनेवाला **केवलदर्शन** गुण है । आत्मध्यान से विचलित करनेवाले किसी अतिघोर परीषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय जो पहले अपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थों के जानने में खेद के अभावरूप **अनन्तवीर्य** गुण है । सूक्ष्मअतीन्द्रिय केवलज्ञानका विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूपको **सूक्ष्मत्व** कहते हैं । यह पाँचवाँ गुण है । एक दीप के प्रकाश में जैसे अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष से रहित जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने की

गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधःपतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतार्कतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते । सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते । इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम् । विस्तररुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्व, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं, निर्नामत्वं, निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः । संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादिचतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखत्रयं, केवलज्ञानदर्शनद्वयं, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति । पुनरपि कथंभूताः सिद्धाः ? चरमशरीरात् किञ्चिदूना

सामर्थ्य है वह अवगाहन गुण है । यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायु से प्रेरित आककी रुई की तरह वह सदा इधर-उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धों का स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके अगुरुलघु गुण कहा जाता है ।[1] स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभवसे उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसीके फलस्वरूप अव्याबाधरूप अनन्त सुख गुण सिद्धों में कहा गया है । इसप्रकार सम्यक्त्व आदि आठ गुण मध्यमरुचि वाले शिष्यों के लिये हैं । विस्ताररुचि वाले शिष्य के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता आदि विशेष गुण और इसीप्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिये । और संक्षेपरुचि शिष्य के लिये विवक्षित अभेद नयकी अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखरूप तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो गुण हैं । और साक्षात् अभेदनयसे एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है । पुनः वे सिद्ध कैसे होते हैं ? चरम

---

१. अगुरुलघुगुण प्रत्येक जीव में दो होते हैं । यथा—गोत्र कर्म के दूर हो जाने से अब उच्च-नीच नहीं कहलाता, इसी का नाम अगुरुलघु है । वास्तव में, यह अगुरुलघु, गुण नहीं है किन्तु गुरु और लघुपने के अभाव को ही अगुरुलघु कहा गया है । यह भी आत्मा का अभावात्मक (प्रतिजीवी) धर्म है । (पंचाध्यायी, सु. टीका पृ० २८५–२८६) । वहीं पर टिप्पण में लिखा है—"एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो जाय, जिसका यह कार्य है तथा जिसमें षड्गुणी हानिवृद्धि होती रहती है वह अगुरुलघु नामक उपजीवी (अनुजीवी) गुण दूसरा ही है ।" इस कथन से सकल जीवों के दो अगुरुलघु गुण सिद्ध होते हैं—एक षड्गुण हानिवृद्धि का हेतुभूत और अनुजीवी तथा दूसरा गोत्रकर्म के अभाव से उत्पद्यमान तथा प्रतिजीवी । (द्रष्टव्य : बृहज्जिनोपदेश : ज. ला जैन, भीण्डर पृ० ३३३ से ३४७.) ।

भवन्ति । तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत्प्रकृति-उदयविच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्मविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यम् । कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति ? तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं; जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबंधी विस्तारः स स्वभावो न भवति । कस्मादिति चेत्, पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव । तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसन्तानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति । अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ

(अन्तिम) शरीर से कुछ छोटे होते हैं ।[1] वह जो किंचित्-ऊनता है सो शरीरोपाङ्गसे उत्पन्न नासिका आदि के छिद्रों के अपूर्ण (खाली स्थान) होने से जिस समय सयोगी गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीरोपाङ्ग कर्म का भी विच्छेद हो गया, अतः उसी समय किंचित् ऊनता हुई है । ऐसा जानना चाहिये ।

कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसीप्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिये ? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है । किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यात-प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण-विस्तार स्वभाव नहीं है ।

यदि यों कहो कि जीव के प्रदेश पहले लोकके बराबर फैले हुए, आवरणरहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीप के आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशों के भी आवरण हुआ है ? ऐसा नहीं है । किन्तु जीवके प्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप चले आये हुए शरीर के आवरणसहित ही रहते हैं । इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार नहीं होता तथा विस्तार व संहार शरीर नामक नामकर्म के अधीन ही है, जीवका स्वभाव नहीं है । इस कारण जीवके शरीर का अभाव होनेपर प्रदेशों का विस्तार नहीं

---

१. तिलोयपण्णत्ती ६/१० में यतिवृषभाचार्य ने लिखा है कि अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहल्य हो, उससे तृतीयभागहीन सब सिद्धों की अवगाहना होती है । यही बात सिद्धान्तसार दीपक १६/८ में भी लिखी है ।

बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति। यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति ये केचन वदन्ति, तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्‌बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामात् चेति हेतुचतुष्टयेन तथैवाविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयेन च स्वभावोर्द्धगमनं ज्ञातव्यं, तच्च लोकाग्रपर्यन्तमेव, न च परतो धर्मास्तिकायाभावादिति। **नित्या** इति विशेषणं तु, मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति, तन्निषेधार्थं विज्ञेयम्। **उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं** विशेषणं, सर्वथैवापरिणामित्वनिषेधार्थमिति। किञ्च विशेषः निश्चलाविनश्वरशुद्धात्मस्वरूपाद्भिन्नं सिद्धानां

होता। इस विषय में और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे किसी मनुष्यकी मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र बँधा (भिचा) हुआ है, अब वह वस्त्र, मुट्ठी खोल देनेपर पुरुष के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता; जैसा उस पुरुषने छोड़ा वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है तब जलका अभाव होने से संकोच व विस्तारको प्राप्त नहीं होता। इसी तरह मुक्त जीव भी, पुरुष के स्थानभूत अथवा जलके स्थानभूत शरीर के अभाव में, संकोच विस्तार नहीं करता।

कोई कहते हैं कि "जीव जिस स्थान में कर्मों से मुक्त हो जाता है वहाँ ही रहता है", इसके निषेध के लिये कहते हैं कि पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बंधका नाश होने से तथा गतिके परिणाम से, इन चार हेतुओं से तथा घूमते हुए कुम्हार के चाक के समान, मिट्टी के लेप से रहित तुम्बी के समान, एरंड के बीज के समान तथा अग्नि की शिखा के समान, इन चार दृष्टान्तों से जीव के स्वभाव से ऊर्ध्व (ऊपर को) गमन समझना चाहिये। वह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है उससे आगे नहीं होता; क्योंकि उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।

सिद्ध नित्य हैं। यहाँ जो नित्य विशेषण है सो सदाशिववादी जो यह कहते हैं कि "१०० कल्प प्रमाण समय बीत जानेपर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवों का संसार में आगमन होता है।" इस मतका निषेध करने के लिये है, ऐसा जानना चाहिये।

उत्पाद, व्यय-संयुक्तपना जो सिद्धों का विशेषण है, वह सर्वथा अपरिणामिता के निषेध के लिये है। यहाँ पर यदि कोई शंका करे—कि सिद्ध निरन्तर निश्चल अविनश्वर शुद्ध आत्म-स्वरूप से भिन्न नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करते हैं

नारकादिगतिषु भ्रमणं नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति ? तत्र परिहारः—आगमकथितागुरुलघुषट्स्थान-पतितहानिवृद्धिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । एवं नयविभागेन नवाधिकारैर्जीवद्रव्यं ज्ञातव्यम् अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति । तद्यथा—स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा तद्विलक्षणोऽन्तरात्मा । अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्व-

---

इसलिये सिद्धों में उत्पाद व्यय कैसे हो ? इसका परिहार यह है—कि (क) आगम में कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्-हानि वृद्धि रूपसे अर्थ पर्याय होती हैं; उनकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद व्यय है । अथवा (ख) ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्य-रूपसे प्रति समय परिणमते हैं उन उनके आकार से निरिच्छुक वृत्तिसे सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है इस कारण भी उत्पाद व्यय सिद्धों में घटित होता है ।[1] अथवा (ग) सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य है । इसप्रकार नयविभाग से नौ अधिकारों द्वारा जीव द्रव्य का स्वरूप समझना चाहिये ।

अथवा वही जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदों से तीन प्रकार का भी होता है । निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ सुख से विरुद्ध इन्द्रियसुख में आसक्त बहिरात्मा है; उससे विलक्षण अन्तरात्मा है । अथवा देहरहित निज शुद्ध आत्म द्रव्य की भावना रूप भेद-विज्ञान से रहित होने के कारण देह आदि पर द्रव्यों में जो एकत्व भावना से परिणत है (देहको ही आत्मा समझने वाला) बहिरात्मा है । बहिरात्मा से विरुद्ध (निज शुद्ध आत्माको आत्मा जानने वाला) अन्तरात्मा है । अथवा हेय उपादेय का विचार करनेवाला जो "चित्त" तथा निर्दोष परमात्मा से भिन्न राग आदि "दोष", और शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक "आत्मा" इसप्रकार उक्त लक्षण वाले चित्त, दोष, आत्मा इन तीनों में अथवा वीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थों में जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है और

---

१. जयधवला में भी कहा है कि पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्धजीवणाणं णाणं..... । यानी प्रमेय के निमित्त से सिद्ध जीवों के भी ज्ञानांशों में परिवर्तन देखा जाता है । जयधवला १/४६, प्रवचनसार गा० १८ जयसेनीय टीका, धवला १/११८, परमात्मप्रकाश गाथा ५६ की टीका एवं आलापपद्धति पृ० ६०–६१ (रतनचन्द मुख्तार सा० कृत टीका) ।

भावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा। अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तं, निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसदृशोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्तरात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम्। परमात्मलक्षणं कथ्यते—सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। **शिवं परमकल्याणं निर्वाणं[1] ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥१॥** इति श्लोककथितलक्षणः

उस बहिरात्मा से भिन्न अन्तरात्मा है। ऐसा बहिरात्मा, अन्तरात्मा का लक्षण समझना चाहिये।

अब परमात्मा का लक्षण कहते हैं—क्योंकि पूर्णनिर्मल केवलज्ञान द्वारा सर्वज्ञ समस्त लोकालोकको जानता है या अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा **विष्णु** कहा जाता है। परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खंडित न हो सका अतः वह **परमब्रह्म** कहलाता है। केवलज्ञान आदि गुणरूपी ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पदकी अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञापालन करते हैं, अतः वह परमात्मा **ईश्वर** होता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य 'सु' उत्तम 'गत' यानी ज्ञान जिसका वह **सुगत** है। अथवा शोभायमान अविनश्वर मुक्ति पदको प्राप्त हुआ सो **सुगत** है। तथा "शिव यानी परम कल्याण, निर्वाण एवं अक्षय ज्ञानरूप मुक्तपदको जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है॥१॥" इस श्लोक में कहे गये लक्षण का धारक होने के कारण वह परमात्मा **शिव** है। कामक्रोधादि के जीतने से अनन्त ज्ञान आदि गुणों का धारक **जिन** कहलाता है। इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार आठ नामों से कहे जाने योग्य जो है, उसको परमात्मा जानना चाहिये।

इसप्रकार ऊपर कहे गये इन तीनों आत्माओं में जो मिथ्या-दृष्टि भव्य जीव

---

१. 'शांतम्' इति पाठान्तरम्।

शिवः। कामक्रोधादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः। इत्यादिपरमागमकथिताष्टोत्तरसहस्र-संख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः। एवमेतेषु त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्य-जीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति। यद्य-भव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत्? परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादि-रूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्य-भव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते। भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञ बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्त-रात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वय भूतपूर्वनयेनेति। अथ त्रिधात्मानं गुण-

---

है उसमें केवल बहिरात्मा तो व्यक्ति-रूपसे रहता है। और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं, भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव में बहिरात्मा व्यक्ति रूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं; भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूपसे नहीं रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव में पर-मात्मा शक्ति रूपसे रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे है? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव में परमात्म शक्ति की केवलज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिये उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नयकी अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में शक्ति रूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं। इसप्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा में नय विभाग से तीनों आत्माओं को बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुणस्थानों में भी घटित करना चाहिये। इसप्रकार बहिरात्मा की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं और भावी नैगमनय से व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिये। अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा भूतपूर्व नयसे घृत के घटके समान और परमात्मा का स्वरूप शक्ति रूपसे तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी जानना चाहिये। परमात्म अवस्था में अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नय की अपेक्षा जानने चाहिये। अब तीनों तरह के आत्माओं को गुणस्थानों में योजित करते हैं—मिथ्यात्व, सासादन और

स्थानेषु योजयति । मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति । अत्र बहिरात्मा हेयः, उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः । एवं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकप्रथमाधिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्थलैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥१४॥

अतः परं यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यमुपादेयं भवति तथापि हेयरूपस्याजीवद्रव्यस्य गाथाष्टकेन व्याख्यानं करोति । कस्मादिति चेत् ? हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति हेतोः । तद्यथा—

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥१५॥

अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशम् ।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुणः अमूर्त्ताः शेषाः तु ॥१५॥

मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में तारतम्य न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा जानना चाहिये; अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट अन्तरात्मा है । अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थानों के बीच में जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम-अन्तरात्मा है । सयोगी और अयोगी इन दोनों गुणस्थानों में विवक्षित एक देश शुद्ध नय की अपेक्षा सिद्ध के समान परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं ही । यहाँ बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत (परमात्मा) के अनन्त सुखका साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है; ऐसा अभिप्राय है । इसप्रकार छह द्रव्य और पंच अस्तिकाय के प्रतिपादन करनेवाले प्रथम अधिकार में नमस्कार गाथा आदि चौदह गाथाओं द्वारा, ६ मध्य स्थलों द्वारा जीव द्रव्य के कथन रूप प्रथम अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥१४॥

उसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा द्रव्य ही उपादेय है तो भी हेय रूप अजीव द्रव्य का आठ गाथाओं द्वारा निरूपण करते हैं । क्यों करते हैं ? क्योंकि पहले हेयतत्त्व का ज्ञान होनेपर फिर उपादेय पदार्थ स्वीकार होता है । अजीव द्रव्य इसप्रकार है—

गाथार्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अजीवद्रव्य जानने चाहिये । इनमें रूप आदि गुणों का धारक पुद्गल मूर्त्तिमान् है और शेष चारों द्रव्य अमूर्त्तिक हैं ॥१५॥

व्याख्या—अज्जीवो पुण णेओ अजीवः पुनर्ज्ञेयः। सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं शुद्धोपयोगः, मतिज्ञानादिरूपो विकलोऽशुद्धोपयोग इति द्विविधोपयोगः, अव्यक्तसुखदुःखानुभवनरूपा कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिमनःपर्ययपर्यन्तमशुद्धोपयोग इति, स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमनं कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयः। **पुण** पुनः पश्चाज्जीवाधिकारानन्तरं। **पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं कालो** स च पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यभेदेन पञ्चधा। पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्गल इत्युच्यते। गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनालक्षणा धर्माधर्माकाशकालाः, **पुग्गल मुत्तो** पुद्गलो मूर्त्तः। कस्मात् **रूवादिगुणो** रूपादिगुणसहितो यतः। **अमुत्ति सेसा हु** रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्गलाच्छेषाश्चत्वार इति। तथाहि—यथा अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणचतुष्टयं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगन्धस्पर्शगुणचतुष्टयं सर्वपुद्गलसाधारणं, यथा च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवे अनन्तचतुष्टयमतीन्द्रियं तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये

वृत्त्यर्थ—अज्जीवो पुण णेओ अजीव पदार्थ जानना चाहिये। पूर्ण व निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग हैं; इस तरह उपयोग दो प्रकार का है। अव्यक्त सुखदुःखानुभव स्वरूप **कर्मफलचेतना** है। तथा मतिज्ञान आदि मनःपर्यय तक चारों ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग है। निज चेष्टा पूर्वक इष्ट, अनिष्ट विकल्प रूप से विशेष रागद्वेष रूप परिणाम **कर्मचेतना** है। केवलज्ञान रूप **शुद्ध चेतना** है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह **अजीव** है ऐसा जानना चाहिये। **पुण** जीव अधिकार के पश्चात् अजीव अधिकार है। **पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो** वह अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के भेद से पांच प्रकार का है। पूरण तथा गलन स्वभाव सहित होने से पुद्गल कहा जाता है (पूरने और गलने के स्वभाव वाला पुद्गल है।) क्रम से गति; स्थिति; अवगाह और वर्त्तना लक्षण वाले धर्म; अधर्म; आकाश और काल ये चारों द्रव्य हैं। (गति में सहायक धर्म; ठहरने में सहायक अधर्म; अवगाह देने वाला आकाश, वर्त्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है)। **पुग्गल मुत्तो** पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। क्योंकि पुद्गल **रूवादिगुणो** रूप आदि गुणों से सहित है। **अमुत्ति सेसा हु** पुद्गल के सिवाय शेष धर्म; अधर्म; आकाश और काल ये चारों द्रव्यरूप आदि गुणों के न होने से अमूर्त्तिक हैं। जैसे अनन्त ज्ञान; अनन्त दर्शन; अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवों में साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गलों में साधारण हैं। जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी सिद्ध में अनंत चतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु में रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय हैं। जिस तरह

रूपादिचतुष्टयमतीन्द्रियं, यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं तथा स्निग्धरूक्षत्वगुणेन द्वयणुकादिबंधावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं, यथा निःस्नेहनिजपरमात्मभावनाबलेन रागादिस्निग्धत्वविनाशे सत्यनंतचतुष्टयस्य शुद्धत्वं तथा जघन्यगुणानां बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये स्निग्धरूक्षत्वगुणस्य जघन्यत्वे सति रूपादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वमवबोद्धव्यमित्यभिप्रायः ॥१५॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान्प्रतिपादयति—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः ।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः ॥१६॥

व्याख्या—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति । अथ विस्तरः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः । तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको

राग आदि स्नेह गुण से कर्मबन्ध की दशा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीय इन चारों गुणों की अशुद्धता है; उसी तरह स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्वि-अणुक आदि बंध दशा में रूप आदि चारों गुणों की अशुद्धता है। जैसे स्नेहरहित निज परमात्मा की भावना के बल से राग आदि स्निग्धता का विनाश हो जाने पर अनन्त चतुष्टय को शुद्धता है; उसी तरह जघन्य गुणों का बन्ध नहीं होता है इस वचन के अनुसार परमाणु में स्निग्ध रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चारों गुणों की शुद्धता समझनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

अब पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायों का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप सहित सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं[1] ॥१६॥

वृत्त्यर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत इन सहित पुद्गल द्रव्य को पर्यायें होती हैं। अब इसको विस्तार से बतलाते हैं—भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो तरह का है। उनमें भाषात्मक शब्द

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—शब्दबन्धसौक्ष्मस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च [५/२४] अर्थ—वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं। अर्थात् ये भी पुद्गलों की ही पर्यायें हैं।

द्विधा भवति । तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च । अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैस्रसिकभेदेन द्विविधः । **ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः ॥१॥** इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति । विस्रसा स्वभावेन भवो वैस्रसिको मेघादिप्रभवो बहुधा । किञ्च शब्दातीतनिजपरमात्मभावनाच्युतेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च जीवेन यदुपार्जितं सुस्वरदुःस्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति । बन्धः कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बंधः स केवलः पुद्गलबधः, यस्तु कर्मनोकर्मरूपः स जीवपुद्गलसंयोगबंधः । किञ्च विशेषः—कर्मबंधपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबंधः, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबंधः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबंध एव । बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः साक्षादिति; बदराद्यपेक्षया

अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो तरह का है । उनमें भी अक्षरात्मक भाषा संस्कृत–प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है । अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंच जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि में है । अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो तरह का है । उनमें **वीणा आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और बंसी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं ॥१॥** इस श्लोक में कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है; "विस्रसा" अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैस्रसिक शब्द बादल आदि से होता है वह अनेक तरह का है । विशेष—शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञअमनोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नाम कर्म का बंध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीव में शब्द दिखता है तो भी वह शब्द जीव के संयोग से उत्पन्न होने से व्यवहार नय की अपेक्षा 'जीव का शब्द' कहा जाता है; किन्तु निश्चय नय से तो वह शब्द पुद्गलमयी ही है । अब बंध को कहते हैं—मिट्टी आदि के पिंड रूप जो बहुत प्रकार का बंध है वह तो केवल पुद्गल बंध है । जो कर्म, नोकर्म रूप बंध है, वह जीव और पुद्गल के संयोग से होनेवाला बंध है । विशेष यह है—कर्मबन्ध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य बंध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से जो वह रागादिक रूप भावबन्ध कहा जाता है; यह भी शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल का ही बन्ध है । बिल्वादि की

बिल्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कंधे सर्वोत्कृष्टमिति । समचतुरस्रन्यग्रोधसातिककुब्जवामनहुण्डभेदेन षट्प्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यास्ति तथाप्यसंस्थानाच्चिच्चमत्कारपरिणतेर्भिन्नत्वान्निश्चयेन पुद्गलसंस्थानमेव; यदपि जीवादन्यत्र वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव । गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः । दृष्टिप्रतिबंधकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते । वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया । उद्योतश्चंद्रविमाने खद्योतादितिर्यग्जीवेषु च भवति । आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकांतमणिविशेषादौ

अपेक्षा बेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है (परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नहीं है)। बेर आदि की अपेक्षा बिल्वादि में स्थूलता (बड़ापन) है; तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं। किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है जो जीव से भिन्न गोल, त्रिकोन, चौकोर आदि प्रगट, अप्रगट अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्गल के ही हैं। गेहूं आदि के चून रूप से तथा घी, खांड आदि रूप से अनेक प्रकार का भेद (खंड) जानना चाहिये। दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार है उसको तम कहते हैं। पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाई रूप जो है उसे छाया जानना चाहिये। चन्द्रमा के विमान में[1] तथा जुगनू आदि तिर्यञ्च जीवों में उद्योत होता है। सूर्य के विमान में[2] तथा अन्यत्र भी सूर्यकांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकाय में आतप जानना चाहिये। सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्धनिश्चयनय

---

१. स्मरण रहे कि उद्योत का उदय तेजःकायिक, वायुकायिक तथा साधारणवनस्पतिकायिक को छोड़ अन्य किसी भी बादर पर्याप्त तिर्यंच के होता है। [गो० क० गा० २८९] कहीं ऐसा नहीं है कि देवों के भी उद्योत प्रकृति का उदय होता हो। [गो० क० ३०४] अतः ऐसा समझना चाहिये कि चन्द्रबिम्ब के अधो भाग में पाये जा रहे पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नाम कर्म का उदय है। इसी तरह पटबीजना, चमकने वाली गिडार आदि के शरीर के उद्योत का सम्पादक उद्योत नामकर्म का उदय जानना चाहिये। [श्लोक वार्तिक भाग ७ पृ० ६५ पं० माणिकचन्दजी कौंदेय, न्यायाचार्य]।

२. ऐसा नहीं समझना कि सूर्य के आतप नामकर्म का उदय है। बल्कि सूर्य-विमान के नीचली ओर उत्पन्न हुए पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर उद्योत के उदय वाला होता है [श० वा० भाग ७ पृ० ६५]।
धवला में भी कहा है कि पृथ्वीकायिक जीवों के शरीररूप सूर्यमण्डल में आतप होता है। सारतः सूर्यबिम्ब में (सूर्यविमान में) उत्पन्न हुए पृथ्वीकायिकों में आताप का उदय देखा जाता है। [धवल ६/६० संशोधित संस्करण] आतप नाम का उदय तो मात्र बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त जीवों के ही होता है, अन्य तिर्यंचों के नहीं, नारकी, देव या मनुष्य के भी नहीं। [गो० क० गा० २८५]

पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः । अयमत्रार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबंधवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानंदैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्ट नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्‌गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाण्ववस्थालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधो भवतीति वचनाद्रागद्वेषस्थानीयबंधयोग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाच्छब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणा-आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः । एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितशब्दादिपर्यायसहितस्य संक्षेपेणाणुस्कंधभेदभिन्नस्य पुद्‌गलद्रव्यस्य व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥१६॥

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥

गतिपरिणतानां धर्म्मः पुद्‌गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति ॥१७॥

से जीव के निज-आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्ध-स्वरूप में स्वभाव व्यञ्जन पर्याय विद्यमान है फिर भी अनादि कर्मबन्धन के कारण पुद्‌गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थानभूत राग-द्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक–परमानन्दरूप एक स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट हुए जीव के मनुष्य, नारक आदि विभाव–व्यंजन–पर्याय होते हैं; उसी तरह पुद्‌गल में निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव–व्यञ्जन–पर्याय के विद्यमान होते हुए भी स्निग्धता तथा रूक्षता से बंध होता है । इस वचन से राग और द्वेषके स्थानीय बंध योग्य स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होनेपर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव–व्यञ्जन–पर्यायें जाननी चाहिये ।

इस प्रकार अजीव अधिकार में अज्जीवो आदि पूर्व गाथा में कहे गये रूप-रसादि चारों गुणों से युक्त तथा यहाँ गाथामें कथित शब्द आदि पर्याय सहित अणु, स्कंध आदि पुद्‌गल द्रव्यका संक्षेप से निरूपण करनेवाली दो गाथायें समाप्त हुईं ॥१६॥

अब धर्मद्रव्य का व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—गमन करने में परिणत पुद्‌गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है—जैसे मछलियों को गमनमें जल सहकारी है । गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुद्‌गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता ॥१७॥

व्याख्या—गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी—गतिपरिणतानां धर्मो जीव-पुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति। दृष्टान्तमाह—**तोयं जह मच्छाणं** तोयं यथा मत्स्यानाम्। **अच्छंताणेव सो णेई** स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति। तथाहि—यथा सिद्धो भगवानमूर्तोऽपि निष्क्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्ति-युक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारि-

---

वृत्त्यर्थ—चलते हुए जीव तथा पुद्गलों को चलने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है। इसका दृष्टांत यह है कि जैसे मछलियों के गमन में सहायक जल है। परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव, पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता। तथैव, जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त हैं, क्रिया रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूँ इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यानरूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्यजीवों को वे सिद्ध भगवान् सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं।[1] ऐसे ही क्रियारहित,

---

१. यहाँ सिद्ध भगवान को उक्त भव्य जीवों के लिये सहकारी कारण कहा है, मिथ्याकारण या अकारण नहीं। इसी तरह उन्हें आरोपित कारण कारणाभासरूप भी नहीं कहा। बात ठीक भी है, उनका आश्रय लिये बिना जीव सम्यक्त्व को भी नहीं प्राप्त होता। देव, गुरु व शास्त्र यद्यपि बाह्य शरण होने से व्यवहार शरण व्यपदेश को प्राप्त होते हैं तथापि यह व्यवहार शरण मिथ्या नहीं है, अलंघ्य है—अत्यावश्यक है। इस बाह्य व्यवहार शरण में भक्ति, श्रद्धा, पूजा, अर्चा के भाव बिना जीव निज परमात्मा रूप निश्चय शरण को पा ही नहीं सकता। इसीलिये व्यवहारशरणको निश्चयशरण का कारण कहा है। कारण की परिभाषा ही यह है कि "जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं [धवला १४/९०]" अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है। सिद्ध चूंकि परद्रव्य हैं, अतः यह सहकारीकारणत्व का व्याख्यान परद्रव्य विषयक होने से उपचरित असद्भूतव्यवहार का विषय अवश्य है, पर है अपने स्थान पर सत्य। पर हाँ कोई इसे निश्चय की आँख से देख कर, निश्चय की तुलासे तौलकर असत्य कहे उसे तो विवक्षा तथा प्रकरण का अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये। जहाँ जैसा प्रकरण आवे वहां उसे उसी दृष्टि से देखना, जानना व मानना चाहिये। काट-छांट नहीं करनी चाहिये। टोडरमलजी ने भी कहा है—जिनवानी विषैं तो नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा कहीं कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्राय हैं निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताही कौं ग्रहि करि मिथ्यादृष्टि कौं धारै है। [मोक्षमार्गप्रकाशक अधि० ७ पृ० २९१ धर्मपुरा, सस्ती ग्रन्थमाला]

सारतः यदि व्यवहार झूठा-मिथ्या ही होता तो व्यवहार का उपदेश-अर्थात् खोटा उपदेश भगवान् देते ही क्यों? तथा यदि निश्चय ही सही होता तो भगवान् फिर एक नय का ही उपदेश देते! और भी क्या? फिर तो निश्चय को ही पूर्ण प्रमाण कहते तथा निश्चय को ही सम्यग् अनेकान्त कहते।

भव्य पुरुषों को इस पर विचार कर समीचीन मार्ग अपनाना चाहिये। इसप्रकार प्रकृत भव्य जीवों को सिद्ध भगवान् सहकारी कारण होते हैं, यह समीचीन है। इसी तरह आगे भी कहा है—निश्चय काल विमानों के गमनरूप परिणाम का बहिरंग सहकारी कारण होता है। यथा—निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहि-रंगसहकारिकारणं भवति। [गा० ३५ की टीका, ज्योतिर्लोक का वर्णन] इसीतरह गा० ५२।

कारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीव-पुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः । एवं धर्मद्रव्यव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥१७॥

अथाधर्मद्रव्यमुपदिशति:—

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

स्थानयुतानां अधर्म्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति ॥१८॥

व्याख्या—'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी' स्थानयुक्तानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति । तत्र दृष्टान्तः—**छाया जह पहियाणं** छाया यथा पथिकानाम् । **गच्छंता णेव सो धरई** स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति । तद्यथा—स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूपं परमस्वास्थ्यं यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारणं भवति तथा **सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं । देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य** ॥१॥ इति गाथाकथितसिद्धभक्ति रूपेणहं

अमूर्त्त प्रेरणारहित धर्मद्रव्य भी अपने-अपने उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है । जैसे मत्स्य आदि के गमनमें जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है, यह अभिप्राय है । इस तरह धर्मद्रव्य के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥ १७ ॥

अब अधर्मद्रव्य का कथन करते हैं :—

गाथार्थ—ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म-द्रव्य है । जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है । गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को अधर्मद्रव्य नहीं ठहराता ॥ १८ ॥

वृत्त्यर्थ—ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म-द्रव्य है । उसमें दृष्टांत—जैसे छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी कारण है; परन्तु स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों को अधर्मद्रव्य नहीं ठहराता है । सो ऐसे है—यद्यपि निश्चय नय से आत्म-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूपमें स्थिति का कारण है; परंतु **मैं सिद्ध हूँ; शुद्ध हूँ; अनंतज्ञान आदि गुणों का धारक हूँ; शरीर प्रमाण हूँ; नित्य हूँ; असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अमूर्त्तिक हूँ** ॥१॥ इस गाथा में कही हुई सिद्ध भक्ति के रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे

पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम् । लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वे ति सूत्रार्थः । एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ॥१८॥

अथाकाशद्रव्यमाह—

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम् ।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम् ॥१९॥

व्याख्या—जीवादीणं अवगासदाणजोग्गं आयासं वियाण जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाशं विजानीहि हे शिष्य ! किं विशिष्टं ? **जेण्हं** जिनस्येदं जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । तच्च **लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं** लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति । इदानीं विस्तरः—सहजशुद्धसुखामृतरसास्वादेन परमसमरसीभावेन भरितावस्थेषु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमितासंख्येयस्व-

---

भव्य जीवों के लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी तरह अपने-अपने उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुए जीव पुद्गलों को अधर्मद्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है । लोक-व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होती है उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य सहकारी होता है । इसी प्रकार अधर्मद्रव्य के कथन द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ॥ १८ ॥

अब आकाशद्रव्य का कथन करते हैं—

गाथार्थ—जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो । लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश दो प्रकार का है ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थ—हे शिष्य ! जीवादिक द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य समझो । वह आकाश, लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदों से दो तरह का है । अब इसको विस्तार से कहते हैं—स्वाभाविक, शुद्ध सुखरूप अमृत रसके आस्वाद रूप परमसमरसी भाव से परिपूर्ण तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश

कीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽस्ति। स च ईदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थितः सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति नान्यत्र। ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा ऊर्ध्वगमनस्वभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकाग्रे तिष्ठन्तीति तत उपचारेण लोकाग्रमपि मोक्षः प्रोच्यते, यथा तीर्थभूतपुरुषसेवितस्थानमपि भूमिजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति। सुखबोधार्थं कथितमास्ते। यथा तथैव सर्वद्रव्याणि यद्यपि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति ॥१६॥

तमेव लोकाकाशं विशेषेण द्रढयति—

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ॥२०॥

धर्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।
आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः ॥२०॥

प्रमाण असंख्यात प्रदेश अपनी आत्मा के हैं; उन प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध जीव रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्षशिला (ऊपरी तनुवात वलय) में रहते हैं, ऐसा कहा जाता है। ऐसा पहले कह चुके हैं। जिस स्थान में आत्मा परमध्यान से कर्मरहित होता है, ऐसा मोक्ष वहाँ ही है; अन्यत्र नहीं। ध्यान करने के स्थान में कर्म पुद्गलों को छोड़कर तथा उर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव चूंकि लोक के अग्रभाग में जाकर निवास करते हैं इस कारण लोक का अग्रभाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है, जैसे कि तीर्थभूत पुरुषों द्वारा सेवित भूमि, पर्वत, गुफा, जल आदि स्थान भी उपचारसे तीर्थ होते हैं। यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिये किया है। जैसे सिद्ध अपने प्रदेशों में रहते हैं उसी प्रकार निश्चयनय से सभी द्रव्य यद्यपि अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं; ऐसा भगवान् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव का अभिप्राय जानना चाहिए ॥ १६ ॥

उसी लोकाकाश को विशेष रूपसे दृढ़ करते हैं—

गाथार्थ—धर्म; अधर्म; काल; पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है ॥२०॥

व्याख्या—धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये आयासे सो लोगो धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः। तथा चोक्तं—लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति। **तत्तो परदो अलोयत्ति** तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति। अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठो। हे भगवन्! केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति। स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हृतो न धृतो न च रक्षितः। तथैवासंख्यातप्रदेशस्तत्रासंख्यातप्रदेशे लोकेऽनन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति? भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्भस्मघटमध्ये सूचिकोष्ट्रदुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानमवगाहो न विरुध्यते। यदि पुनरित्थंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्व-

---

वृत्त्यर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाश में रहते हैं उतने आकाश का नाम **लोकाकाश** है। ऐसा कहा भी है कि—जहां पर जीव आदि पदार्थ देखने में आते हैं वह लोक है। उस लोकाकाश से बाहर जो अनन्त आकाश है वह **अलोकाकाश** है।

यहां सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन्! केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के भी अनन्तवें भाग में, सबके बीच में लोक है और वह लोक (काल की दृष्टि से) आदि अन्त रहित है, न किसी का बनाया हुआ है, न किसी से कभी नष्ट होता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है और न कोई उसकी रक्षा करता है। वह लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों का धारक है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में असंख्यात प्रदेशी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालाणु लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य कैसे रहते हैं?

भगवान् उत्तर में कहते हैं—एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ़ रस विशेष से भरे शीशे के बर्तन में बहुत सा सुवर्ण समा जाता है; अथवा भस्म से भरे हुए घट में सुई और ऊंटनी का दूध आदि समा जाते हैं; इत्यादि दृष्टान्तों के अनुसार विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त जीव पुद्गलादिक के भी समा जाने में कुछ विरोध नहीं आता। यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न होवे तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो सकेगा। ऐसा होने पर जैसे शक्ति रूप शुद्ध

संख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति। एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥२०॥

अथ निश्चयव्यवहारकालस्वरूपं कथयति :—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

द्रव्यपरिवर्तनरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥२१॥

व्याख्या—दव्वपरिवट्टरूवो जो द्रव्यपरिवर्त्तरूपो यः **सो कालो हवेइ ववहारो** स कालो भवति व्यवहाररूपः। स च कथंभूतः? **परिणामादीलक्खो** परिणामक्रियापरत्वापरत्वेन लक्ष्यत इति परिणामादिलक्ष्यः। इदानीं निश्चयकालः कथ्यते **वट्टणलक्खो य परमट्ठो** वर्त्तनालक्षणश्च परमार्थकाल इति। तद्यथा—जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं

निश्चयनय से सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं; वैसे ही व्यक्ति रूप व्यवहारनय से भी हो जायें, किन्तु ऐसे है नहीं। क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है। इस तरह आकाश द्रव्य के निरूपण से दो सूत्र समाप्त हुए ॥२०॥

अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकाल के स्वरूप का वर्णन करते हैं :—

गाथार्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है, सो व्यवहारकाल है, वर्त्तना-लक्षण वाला जो काल है वह निश्चयकाल है ॥२१॥

वृत्त्यर्थ—दव्वपरिवट्टरूवो जो जो द्रव्य परिवर्त्तन रूप है **सो कालो हवेइ ववहारो** वह व्यवहार रूप काल होता है। और वह कैसा है? **परिणामादीलक्खो** परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व से जाना जाता है; इसलिये परिणामादि से लक्ष्य है। अब निश्चयकाल को कहते हैं—**वट्टणलक्खो य परमट्ठो** जो वर्त्तनालक्षण वाला है वह परमार्थ (निश्चय) काल है। **विशेष**—जीव तथा पुद्गल का परिवर्त्तनरूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है, उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति है स्वरूप जिसका, वह द्रव्यपर्याय रूप व्यवहारकाल है। ऐसा ही संस्कृत—

यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः तथाचोक्तं संस्कृतप्राभृतेन—**स्थितिः कालसंज्ञका** तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः। यत एव पर्यायसम्बन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञां भजते तत एव जीवपुद्गलसम्बन्धि-परिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया गोदोहनपाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलनकालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते यः, स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्यु-च्यते। अथ द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह। स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेवपरिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावत्, शीतकालाध्ययने अग्निवत, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते। सैव लक्षणं यस्य स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम्।

कश्चिदाह **समयरूप एव निश्चयकालस्तस्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालो नास्त्य-दर्शनात्?** तत्रोत्तरं दीयते—समयस्तावत्कालस्तस्यैव पर्यायः। स कथं पर्याय इति चेत्? पर्यायस्यो-

---

प्राभृत में भी कहा है—जो **स्थिति है, वह कालसंज्ञक है**। सारांश यह है—द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति ही व्यवहारकाल है; वह पर्याय व्यवहारकाल नहीं है। और क्योंकि पर्यायसम्बन्धिनी स्थिति 'व्यवहारकाल' है इसी कारण जीव व पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसीलिये वह व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है। अब द्रव्य रूप निश्चयकाल का कथन करते हैं—अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को, जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है, अथवा शीतकाल में छात्रों को पढ़ने के लिये अग्नि सहकारी है, उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में सह-कारिता है, उसको **वर्त्तना** कहते हैं। वह वर्त्तना ही है लक्षण जिसका, वह वर्त्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप **निश्चयकाल** है। इस तरह व्यवहारकाल तथा निश्चय-काल का स्वरूप जानना चाहिये।

यहां कोई कहता है—कि समय रूप ही निश्चयकाल है; उस समय से भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्य रूप निश्चयकाल नहीं है; क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर देते हैं—कि समय तो काल की ही पर्याय है। यदि यह पूछो कि समय

त्पन्नप्रध्वंसित्वात् । तथाचोक्तं **समओ उप्पण्ण पद्धंसी** । स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम् । इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अथ कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरंगनिमित्तोत्पन्नस्य मृण्मयघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति । तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । अथ मतं **समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति** । नैवम् । यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध—स्निग्धरूक्षादिस्पर्श—मधुरादिरस-

---

काल की पर्याय कैसे है ? तो उत्तर यह है, पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है। 'समय' भी उत्पन्न व नष्ट होता है, इसलिये पर्याय है । पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती; उस समय रूप पर्याय काल का (व्यवहार काल का) उपादान कारणभूत द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिए । क्योंकि जैसे ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न भात (पके चावल) का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुम्भकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणों से उत्पन्न जो मिट्टी की घट पर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड ही है; अथवा नर, नारक आदि जो जीव की पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव है; इसी तरह समय, घड़ी आदि काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिए । यह नियम भी इसलिये है कि **अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है** ऐसा वचन है ।

कदाचित् ऐसा कहो कि **समय, घड़ी आदि कालपर्यायों का उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में मंदगति से परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है; तथा निमेषरूप कालपर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पुटों का विघटन अर्थात् पलक का गिरना उठना उपादान कारण है; ऐसे ही घड़ी रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्रीरूप जल का कटोरा और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है; दिन रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिम्ब उपादान कारण है** । ऐसा नहीं है, जिस तरह चावलरूप उपादान कारण से उत्पन्न भात पर्याय के उपादान कारण में प्राप्त गुणों के समान ही सफेद, काला आदि वर्ण; अच्छी या बुरी गन्ध; चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श; मीठा आदि रस; इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं; वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र-पलक विघटन, जल

विशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकर-विम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्ल-कृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति, न च तथा । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । किं बहुना । योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्त्तो नित्यः समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणु-द्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविवक्षितव्यवहारविकल्परूपस्तस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भावः । यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तबहि-र्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यम् न च कालस्तेन स हेय इति ।।२१।।

अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति :—

कटोरा, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घड़ी, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनके भी सफेद, काला आदि गुण मिलने चाहियें; परन्तु समय, घड़ी आदि में ये गुण नहीं दीख पड़ते, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है ।

बहुत कहने से क्या लाभ ! जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त्त है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्यरूप है, वह निश्चयकाल है और जो आदि तथा अन्त से सहित है; समय, घड़ी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है, वह उसी द्रव्यकाल का पर्याय रूप व्यवहारकाल है । सारांश यह है कि यद्यपि यह जीव काललब्धि के वश से अनन्त सुख का भाजन होता है, तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्म तत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और सम्पूर्ण बाह्य द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण वाला तपश्चरणरूप जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप चार प्रकार की निश्चय आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपा-दान कारण जाननी चाहिए; उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह काल-द्रव्य हेय है ।।२१।।

अब निश्चयकाल के रहने का क्षेत्र तथा काल-द्रव्य की संख्या का प्रतिपादन करते हैं :—

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ।।२२।।

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः ।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ।।२२।।

व्याख्या—लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का लोकाकाशप्रदेशेष्वेकैकेषु ये स्थिता एकैकसंख्योपेता हु स्फुटं । क इव ? **रयणाणं रासीइव** परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव । **ते कालाणू** ते कालाणवः । कति संख्योपेताः ? **असंखदव्वाणि** लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति । तथाहि—यथा अंगुलिद्रव्यस्य यस्मिन्नेव क्षणे वक्रपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव क्षणे पूर्वप्राञ्जलपर्याय-विनाशोऽङ्गुलिरूपेण ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । यथैव च केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति वा द्रव्यसिद्धिः । तथा कालाणोरपि मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना व्यक्तीकृतस्य कालाणूपादानकारणोत्पन्नस्य य एव वर्तमानसमयस्योत्पादः स एवातीतसमयापेक्षया विनाशस्तदुभयाधारकालाणुद्रव्यत्वेन

गाथार्थ—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ।।२२।।

वृत्त्यर्थ—लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो एक-एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूप से स्थित हैं । किसके समान हैं? **रयणाणं रासी इव** परस्पर में तादात्म्य संबंध के अभाव के कारण रत्नों की राशि के समान भिन्न-भिन्न स्थित हैं । **ते कालाणू** वे कालाणु हैं । कितनी संख्या के धारक हैं ? **असंखदव्वाणि** लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात द्रव्य हैं । **विशेष**—जैसे जिस क्षण में अंगुली रूप द्रव्य के टेढ़ी रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी क्षण में उसके सीधे आकार रूप पर्याय का नाश होता है और अंगुली रूप से वह अंगुली दोनों दशाओं में ध्रौव्य है । इस तरह उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से युक्त द्रव्य के स्वरूप की सिद्धि है । तथा जैसे केवलज्ञान आदि की प्रकटता रूप कार्य समयसार का (परम-आत्मा का) उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प

ध्रौव्यमित्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालद्रव्यसिद्धिः। लोकबहिर्भागेकालाणुद्रव्याभावात्कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेत् ? अखण्डद्रव्यत्वादेकदेशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्, तथैवैकदेशमनोहरस्पर्शनेन्द्रियविषयानुभवसर्वाङ्गसुखवत्, लोकमध्यस्थितकालाणुद्रव्यधारणैकदेशेनापि सर्वत्र परिणमनं भवतीति

ध्यानरूप जो कारण समयसार है, उसका नाश होता है[1] और उन दोनों का आधारभूत जो परमात्म द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है; इस तरह से भी द्रव्य की सिद्धि है। उसी तरह कालाणु के भी, जो मन्दगति में परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रगट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए जो यह वर्त्तमान समय का उत्पाद है; वही बीते हुए समय की अपेक्षा विनाश है और उन वर्त्तमान तथा अतीत दोनों समय का आधारभूत कालद्रव्यत्व से ध्रौव्य है। इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप

---

१. यहाँ कारण समयसार का कथन आया है। यह पर्यायरूप कारण समयसार है। इसी तरह गाथा १३, २४ व ३७ की टीका में भी पर्यायरूप कारण समयसार का कथन है। यह कारण समयसार निश्चित ही नाशवान् होता है तथा इसी कारण ध्येयरूप नहीं होता। ध्येयरूप तो द्रव्यरूप कारणसमयसार होता है। जो अविनाशी आत्मस्वभावरूप होता है। कारण समयसार या कारण परमात्मा दोनों एक ही बात है। इसी तरह कार्यसमयसार या कार्य-परमात्मा ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस द्रव्यरूप कारण समयसार को सनातन स्वभावी कारण समयसार सहज कारणसमयसार या निश्चय कारण समयसार या उपासना का विषयभूत शुद्ध (त्रैकालिक) अन्तस्तत्त्व या सहज परमात्मतत्त्व भी कह सकते हैं।

पर्यायरूप कारण समयसार और कार्य समयसार ये दो अभव्य के नहीं होते, पर द्रव्यरूप कारण समयसार अभव्य के भी होता है।

ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक स्वभाव ही कारणपरमात्मा (द्रव्यरूप कारण परमात्मा) या कारण समयसार कहलाता है। और पूर्ण विकास का नाम है कार्य परमात्मा या कार्य समयसार यानी केवलज्ञानादि की व्यक्ति कार्यसमयसार है और इस व्यक्ति का जो स्रोत है सहजज्ञानस्वभाव; उसका परिचय हो जाना ही पर्यायरूप कारण समयसार है।

पर्यायरूप कारण समयसार के अनेक उदाहरण बृहद्द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, पृ० १८२ से १८७ (सं० पं० कैलाशचन्द्रजी सि० शा०) पर देखिए।

कालद्रव्यं शेषद्रव्याणां परिणतेः सहकारिकारणं भवति। कालद्रव्यस्य किं सहकारिकारणमिति ? यथाकाशद्रव्यमशेषद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्यमपि परेषां परिणतिसहकारिकारणं स्वस्यापि। अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारणं परिणतेः सहकारिकारणं च भवति तथा

काल द्रव्य को सिद्धि है।[1]

शंका—"लोक के बाहरी भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणमन कैसे हो सकता है ?" इस शंका का उत्तर यह है—आकाश अखण्ड द्रव्य है इसलिये जैसे चाक के एक कोने में डन्डे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है; अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है; उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एक देश में स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है; इसी प्रकार काल द्रव्य शेष सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है।

शंका—जैसे काल द्रव्य, जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है वैसे ही काल द्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन है ? उत्तर—जिस तरह आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है; इसी तरह काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारो कारण है।

शंका—जैसे कालद्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है; वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने-

---

१. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य; ये तीनों प्रत्येक द्रव्य में एक साथ [युगपत्] ही होते हैं। इसके लिए उदाहरण दिया जाता है—एक पुरुष को स्वर्ण के घट को जरूरत थी, दूसरे को कपालों (घट के टुकड़ों) की आवश्यकता थी और तीसरे को स्वर्ण सामान्य की आवश्यकता थी। तीनों एक सेठ के यहां पहुंचे। सेठ के यहां एक स्वर्ण का घट (घड़ा) रखा हुआ था, किन्तु जिस समय वे तीनों ही व्यक्ति वहां पहुंचे उसी समय वह घड़ा ऊपर से नीचे गिरकर फूट गया। घड़े के फूटते ही तीनों व्यक्तियों को एक साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम हुए। घटेच्छुक को शोक, कपाल (टुकड़े) चाहने वाले को हर्ष और सामान्य स्वर्ण चाहने वाले को मध्यस्थ भाव। इससे सिद्ध होता है कि तीनों के इन समकालभावी, विभिन्न तीन परिणामों के कारणभूत तीन क्रियायें (उत्पादादि तीन) भी साथ में ही (एक काल में ही) हुई हैं, अन्यथा त्रिविध परिणाम का सहभाव घटित नहीं हो सकता। वे क्रियाएं हैं—घटनाश, कपालोत्पत्ति तथा घटत्व सामान्यरूप ध्रुवता। अतः स्पष्ट है कि उत्पाद, नाश व ध्रुवता ये तीनों एक साथ होते हैं। [पंचाध्यायी सुबोधिनी टीका पृ० ८० टिप्पण, आ० मी० ५९, जय ध० १।२३०, अष्टसहस्री एवं षड्द० समु० ५७। ३५८।३५०]

सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति ? नैवम्; यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेनप्रयोजनं नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणां साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतैः प्रयोजनं नास्ति। किञ्च, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते; धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव, प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते; ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभावः प्राप्नोति। ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव, स चागमविरोधः। किञ्च, सर्वद्रव्याणां परिणतिसहकारित्वं कालस्यैव गुणः, घ्राणेन्द्रियस्य रसास्वादनमिवान्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्तुं नायाति द्रव्यसंकरदोषप्रसंगादिति।

कश्चिदाह—यावत्कालेनैकाकाशप्रदेशं परमाणुरतिक्रामति ततस्तावत् कालेन समयो भवतीत्युक्तमागमे एकसमयेन चतुर्दशरज्जुगमने यावंत आकाशप्रदेशास्तावन्तः समयाः प्राप्नुवन्ति। परिहारमाह—एकाकाशप्रदेशातिक्रमेण यत् समयव्याख्यानं कृतं तन्मन्दगत्यपेक्षया, यत्पुनरेकसमये चतुर्दशरज्जुगमन-

---

अपने परिणमन के सहकारी कारण रहें। उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य से क्या प्रयोजन है ? **समाधान**—ऐसा नहीं है क्योंकि, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिये सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य है उनकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। **विशेष**—काल का कार्य तो घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष से दीख पड़ता है; किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसलिए जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव प्राप्त होता है और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्यों के मानने पर आगम से विरोध आता है। सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना, यह केवल कालद्रव्य का ही गुण है। जैसे नाक से रस का आस्वाद नहीं हो सकता; ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य के द्वारा नहीं किया जाता। क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्यसंकर दोष का प्रसंग आवेगा (अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्य में चला जायेगा)।

अब कोई कहता है—जितने काल में "आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय है"; ऐसा शास्त्र में कहा है तो एक समय में परमाणु के चौदह रज्जु गमन करने पर, जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहिये ? शंका का निराकरण करते हैं—आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा

व्याख्यानं तत्पुनः शीघ्रगत्यपेक्षया। तेन कारणेन चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमयः। तत्र दृष्टान्तः— कोऽपि देवदत्तो योजनशतं मन्दगत्या दिनशतेन गच्छति। स एव विद्याप्रभावेण शीघ्रगत्या दिनेनैकेनापि गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति। किन्त्वेक एव दिवसः। तथा चतुर्दशरज्जुगमनेऽपि शीघ्रगमनेनैक एव समयः।

किञ्च—स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टम् श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते तत्प्रभृतिसमस्तजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति। यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति भण्यते। तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम्। कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न भवति ततः स हेय इति। तथाचोक्तम्—किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए

है; सो तो मन्दगतिकी अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है। इसलिए शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन हो गये? किन्तु एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है।

तथा स्वयं विषयों के अनुभव से रहित भी यह जीव अन्य के द्वारा अनुभव किये हुए, देखे हुए, सुने हुए विषय को मन में स्मरण करके विषयों की इच्छा करता है उसको अपध्यान कहते हैं। उस विषय-अभिलाषा आदि समस्त विकल्पों से रहित और आत्म-अनुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दरूप सुख के रस आस्वाद सहित वीतराग चारित्र होता है और जो उस वीतराग चारित्र से अविनाभूत है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व है। वह निश्चय सम्यक्त्व ही तीनों कालों में मुक्ति का कारण है। काल तो उस निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में वीतराग चारित्र का सहकारी कारण भी नहीं होता; इस कारण कालद्रव्य हेय है। ऐसा कहा भी है— **बहुत कहने से क्या; जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं व होंगे; वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है।** यहां तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य तथा अन्य द्रव्यों के विषय में परम-आगम के अविरोध से ही विचारना चाहिए; "वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रमाण है"

काले। चिट्ठिहंहि जेवि भविया तं जाराह सम्मबाहप्पं।। इदमत्र तात्पर्यम्—कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विवादो न कर्तव्यः। कस्मादिति चेत्? विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति ।।२२।।

एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुख्यतया पञ्चमस्थले सूत्रद्वयं गतं। इतिगाथाष्टकसमुदायेन पंचभिः स्थलैः पुद्गलादिपंचविधाजीवद्रव्यकथनरूपेण द्वितीयो अन्तराधिकारः समाप्तः।

अतः परं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पंचास्तिकायव्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथापूर्वार्द्धेन षड्द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पंचास्तिकायव्याख्यानप्रारम्भः कथ्यते :—

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ।।२३।।

एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम्।
उक्तं कालवियुक्तम् ज्ञातव्याः पंच अस्तिकायाः तु ।।२३।।

व्याख्या—एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्व उत्तं एवं पूर्वोक्तप्रकारेण षड्भेदमिदं जीवाजीवप्रभेदतः सकाशाद्द्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम्। **कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु**

ऐसा मन में निश्चय करके उनके कथन में विवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि विवाद में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन राग-द्वेषों से संसार की वृद्धि होती है ।।२२।।

इस प्रकार कालद्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से पांचवें स्थल में दो गाथाएं हुईं। इस प्रकार आठ गाथाओं के समुदाय रूप पांचवें स्थल से पुद्गलादि पांच प्रकार के अजीव द्रव्य के कथन द्वारा दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके पश्चात् पांच गाथाओं में पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं और उनमें भी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में छहों द्रव्यों के व्याख्यान का उपसंहार और उत्तरार्ध से पंचास्तिकाय के व्याख्यान का आरम्भ करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार जीव और अजीव के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के बिना शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय जानने चाहिये ।।२३।।

वृत्त्यर्थ—एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं पूर्वोक्त प्रकार से जीव तथा अजीव के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं। **कालविजुत्तं णादव्वा पंच**

तदेव षड्विधं द्रव्यं कालेन वियुक्तं रहितं ज्ञातव्याः पञ्चास्तिकायास्तु पुनरिति ।।२३।।

पञ्चेति संख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति :—

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा ।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ।।२४।।

सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
काया इव बहुदेशाः तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च ।।२४।।

व्याख्या—संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा सन्ति विद्यन्ते यत एते जीवाद्याकाश-पर्यन्ताः पञ्च तेन कारणेनैतेऽस्तीति भणंति जिणवराः सर्वज्ञाः । **जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य** यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात्कायाश्च भणंति जिनवराः । **अत्थिकाया य** एवं न केवलं

अत्थिकाया दु वे ही छह प्रकार के द्रव्य कालरहित अर्थात् काल के बिना (शेष पांच द्रव्यों को) पांच अस्तिकाय समझने चाहिये ।।२३।।

अस्तिकाय की पांच संख्या तो जान ली है, अब उनके अस्तित्व और कायत्व का निरूपण करते हैं :—

गाथार्थ—चूंकि विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर ने इनको अस्ति कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं इसलिये इनको काय कहा है । अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते हैं ।।२४।।

वृत्त्यर्थ—**संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा** जीव से आकाश तक पांच द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको 'अस्ति' कहते हैं । **जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य** और क्योंकि काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं; इस कारण जिनेश्वरदेव इनको काय कहते हैं । **अत्थिकाया य** इस प्रकार अस्तित्व से युक्त ये पांचों द्रव्य केवल 'अस्ति' ही नहीं हैं और कायत्व से युक्त होने से केवल 'काय' भी नहीं हैं; किन्तु अस्ति और काय इन दोनों को मिलाने से **अस्तिकाय** संज्ञा के धारक हैं ।

अब इन पांचों के संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि से यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्व के साथ अभेद है, यह दर्शाते हैं—

पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तूभयमेलापकेनास्तिकायसज्ञाश्च भवन्ति। इदानीं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति। तथाहि शुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्वलक्षणः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वादयः सामान्यगुणाश्च। तथैवाव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादो रागादिविभावरहितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणैर्गुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सत्तारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति। कस्मादिति चेत् ? मुक्तात्मसत्तायां गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययध्रौव्याणां चास्तित्व सिद्धचति, गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यसत्तायाश्च मुक्तात्मास्तित्वं सिद्धयतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति। कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्व भण्यते। यथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह मुक्तात्मनः सत्ता-

---

जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व रूप शुद्ध द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय है; केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं। तथा मुक्ति दशा में अव्याबाध अनन्तसुख आदि अनन्तगुणों की प्रकटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद, रागादि विभाव रहित परम स्वास्थ्य रूप कारण समय-सार का व्यय (नाश) और इन दोनों के आधारभूत परमात्मा रूप द्रव्यपने से ध्रौव्य है। इस प्रकार पहले कहे लक्षण सहित गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्ता रूप से और प्रदेश रूप से भेद नहीं है। क्योंकि मुक्त जीवों की सत्ता होने पर गुण तथा पर्यायों की और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध होती है, एवं गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता से मुक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तरह गुण पर्याय आदि से मुक्त आत्मा की और मुक्त-आत्मा से गुण पर्याय की परस्पर सत्ता सिद्ध होती है। अब इनके कायपना कहते हैं—बहुत से प्रदेशों के समूह को देखकर जैसे शरीर को काय कहते हैं (जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने के कारण शरीर को काय कहते हैं) उसी प्रकार अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश के बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेशों के समूह, संघात अथवा मेल को देखकर मुक्त जीव में भी कायत्व कहा जाता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायों तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित मुक्तआत्मा के निश्चयनय की अपेक्षा सत्ता रूप से अभेद बताया गया है, वैसे ही संसारी जीवों में तथा पुद्गल; धर्म; अधर्म; आकाश और काल द्रव्यों में भी

रूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा यथासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्यः। कालद्रव्यं विहाय कायत्वं चेति सूत्रार्थः ॥२४॥

अथ कायत्वव्याख्याने पूर्वं यत्प्रदेशास्तित्वं सूचितं तस्य विशेषव्याख्यानं करोतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयोः अनन्ताः आकाशे।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः ॥२५॥

व्याख्या—होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे भवन्ति लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशाः प्रदीपवदुपसंहारविस्तारयुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभावविस्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि। **अणंत आयासे** अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्त्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्ताणूनां पिण्डाः स्कन्धास्त एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते, न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात् ? पुद्गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रे अवस्थानाभावादिति। **कालस्सेगो** कालाणुद्रव्यस्यैक एव प्रदेशः। **ण तेण सो काओ** तेन कारणेन स कायो न भवति।

यथासंभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिए। कालद्रव्य को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों के कायत्व रूप से भी अभेद है। यह गाथा का अभिप्राय है ॥२४॥

अब कायत्व के व्याख्यान में जो पहले प्रदेशों का अस्तित्व सूचित किया है उसका विशेष व्याख्यान करते हैं—यह तो अगली गाथा की एक भूमिका है; और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं, दूसरी भूमिका यह प्रतिपादन करती है—

गाथार्थ—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी तीनों प्रकार वाले हैं। काल के एक ही प्रदेश है इसलिये काल 'काय' नहीं है ॥२५॥

वृत्त्यर्थ—होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे दीपक के समान संकोच तथा विस्तार से युक्त एक जीव में भी और सदा स्वभाव से फैले हुए धर्म, अधर्म द्रव्यों में भी लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं। **अणंत आयासे** आकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्त—पुद्गल द्रव्य में जो संख्यात, असंख्यात तथा

कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति । तद्यथा—किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव । यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति । अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणोरेकाकाशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तदप्येकप्रदेशमेव ।

कश्चिदाह—पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायातम् ? नैवं वक्तव्यम्—धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलवन्मनुष्याणां शकटारोहणादिवत्सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति इति । अथ मतं कालद्रव्यं पुद्गलानां गतिसहकारिकारणं कुत्र

अनन्त परमाणुओं के पिण्ड अर्थात् स्कन्ध हैं, वे ही तीन प्रकार के प्रदेश कहे जाते हैं; न कि क्षेत्र-प्रदेश तीन प्रकार के हैं। क्योंकि पुद्गल अनन्त प्रदेश वाले क्षेत्र में नहीं रहता। कालस्सेगो कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है। ण तेण सो काओ इसी कारण कालद्रव्य 'काय' नहीं है।

कालद्रव्य के एक प्रदेशी होने में युक्ति बतलाते हैं। यथा—जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार कालद्रव्य भी समयरूप कालपर्याय के विभाग से उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मन्दगति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के आकाश के एक प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है; इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है।[1]

यहां कोई कहता है कि—पुद्गल परमाणु की गति में सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य विद्यमान है ही; इसमें काल द्रव्य का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि गति के सहकारी कारण धर्मद्रव्य के विद्यमान रहते भी मत्स्यों की गति में जल के समान तथा मनुष्यों की गति में गाड़ी पर

---

१. यहां एक प्रदेशत्व की सिद्धि में दो हेतु दिये हैं। अन्य भी हेतु श्लोकवार्तिक भाग २ पृष्ठ १४८-४९, आदिपुराण पर्व ३ पृ० ६१ टिप्पण अनु० पं० लालारामजी शास्त्री, शिवसागर ग्रन्थमाला, प्रवचनसार गा० १४४ तथा बृ० जि० पृ० १२८ से १३०; इन ग्रन्थों से देखने चाहिए।

भरिणतमास्ते ? तदुच्यते—पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणाडु इत्युक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पञ्चास्तिकायप्राभृते । अस्यार्थः कथ्यते—धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जीवानाम् कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु कालद्रव्यमित्यर्थः ।।२५।।

अथैकप्रदेशस्यापि पुद्गलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति—

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।।२६।।

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति ।
बहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः ।।२६।।

व्याख्या—एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो एकप्रदेशोऽपि पुद्गलपरमाणुर्नानास्कन्धरूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति । **उवयारा** उपचाराद् व्यवहारनयात् **तेण य**

बैठना आदि के समान पुद्गल की गति में और भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं । कदाचित् कोई यह कहे कि "कालद्रव्य पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है" यह कहां कहा है ? सो कहते हैं—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने **पंचास्तिकाय प्राभृत** की गाथा ९८ में **पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु** ऐसा कहा है । इसका अर्थ यह है—कि धर्मद्रव्य के विद्यमान होने पर भी जीवों की गति में कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदों वाले पुद्गलों के गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है ।।२५।।[1]

पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसको काय कहते हैं, अब ऐसा उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को 'काय' कहते हैं ।।२६।।

वृत्त्यर्थ—एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो यद्यपि पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी है तथापि अनेक प्रकार के द्विअणुक आदि स्कन्ध रूप बहुत प्रदेशों के

---

१. जैसे ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमनरूप परिणमन में काल बहिरंग सहकारी कारण है, धर्म तो सहकारी कारण है ही । [देखो गा० ३५ की टीका, ज्योतिर्लोक वर्णन]

काओ भणंति सव्वण्हु तेन कारणेन कायमिति सर्वज्ञा भणन्तीति । तथाहि—यथायं परमात्मा शुद्ध-निश्चयनयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्तथैकोऽप्यनादिकर्मबन्धवशात्स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषाभ्यां परिणम्य नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण व्यवहारेण बहुविधो भवति । तथा पुद्गलपरमाणुरपि स्वभावेनैकोऽपि शुद्धोऽपि रागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणाभ्यां परिणम्य द्विअणुकादिस्कन्धरूपविभावपर्यायैर्बहुविधोबहुप्रदेशो भवति तेन कारणेन बहुप्रदेशलक्षणकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भण्यते । अथ मतं यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवत्विति ? तत्र परिहारः—स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति । तदपि कस्मात् ? स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति । अणुत्वं पुद्गलसंज्ञा, कालस्याणुसंज्ञा कथमिति चेत् ? तत्रोत्तरम्—अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते

कारण बहुप्रदेशी होता है । **उवयारा** उपचार से अथवा व्यवहारनय से । **तेण य काओ भणंति सव्वण्हु** इसी कारण सर्वज्ञ देव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं । जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्य रूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादि-कर्मबन्धन के कारण स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के स्थानीय (बजाय) राग, द्वेष रूप परिणमन करके व्यवहारनय के द्वारा मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्याय रूप अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तो भी रागद्वेष के स्थानभूत जो बन्ध के योग्य स्निग्ध, रूक्ष गुणों के द्वारा परिणमन करके द्वि-अणुक आदि स्कन्ध रूप जो विभाव पर्याय हैं, उनके द्वारा अनेक प्रकार का बहुत प्रदेशों वाला हो जाता है । इसीलिये बहु-प्रदेशता रूप कायत्व का कारण होने से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञ भगवान् व्यवहार से काय कहते हैं ।

यदि कोई ऐसा कहे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहु-प्रदेश रूप कायत्व सिद्ध हुआ है; ऐसे ही द्रव्य रूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है । इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिये वह काय नहीं हो सकता । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है । काल में स्निग्ध रूक्ष नहीं है और उनके बिना बन्ध नहीं होता ।

कदाचित् यह पूछो कि 'अणु' यह तो पुद्गल की संज्ञा है, काल को 'अणु' संज्ञा कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि—'अणु' इस शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्-गल कहे जाते हैं और निश्चयनय से तो वर्ण आदि गुणों के पूरण तथा गलन के

निश्चयेन तु वर्णादिगुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्या पुनरणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः । तद्यथा—परमेण प्रकर्षेणाणुः । अणुः कोऽर्थः ? सूक्ष्म, इति व्युत्पत्त्या परमाणुः । स च सूक्ष्मवाचकोऽणुशब्दो निर्विभागपुद्गलविवक्षायां पुद्गलाणुं वदति । अविभागिकालद्रव्यविवक्षायां तु कालाणुं कथयतीत्यर्थः ।।२६।।

अथ प्रदेशलक्षणमुपलक्षयतिः—

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।।२७।।

यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाण्ववष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ।।२७।।

व्याख्या—जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे यावत्प्रमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विष्टब्ध व्याप्त तदाकाशं खु स्फुट प्रदेशं जानीहि । हे शिष्य ! कथंभूतं **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सर्वाणूनां सर्वपरमाणूनां सूक्ष्मस्कन्धानां च स्थानदानस्यावकाशदानस्यार्हं योग्यं

सम्बन्ध से वे पुद्गल कहे जाते हैं; वास्तव में 'अणु' शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् अत्यन्त रूप से जो अणु हो सो 'परमाणु' है । अणु का क्या अर्थ है ? "सूक्ष्म" इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द 'अतिसूक्ष्म' पदार्थ को कहता है और वह सूक्ष्म-वाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा (कहने की इच्छा) में पुद्गलाणु को कहता है और अविभागी कालद्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब 'कालाणु' को कहता है ।।२६।।

अब प्रदेश का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है उसको सब अणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो ।।२७।।

वृत्त्यर्थ—जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे हे शिष्य ! जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से घिरा है उसको स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो । वह प्रदेश **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धों को स्थान देने में समर्थ है, क्योंकि ऐसी अवगाहन शक्ति आकाश में है । इसी कारण असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव तथा उन जीवों से भी अनन्तगुणे पुद्गल

समर्थमिति । यत एवेत्थंभूतावगाहनशक्तिरस्याकाशस्य तत एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्त-जीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं लभन्ते । तथा चोक्तम्, जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् **एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।।१।। ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो । सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ।।२।।** अथ मतं मूर्त्तपुद्गलानां विभागो भेदो भवतु नास्ति विरोधः, अमूर्त्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभाग-कल्पनेति ? तन्न । रागाद्युपाधिरहितस्वसंवेदनप्रत्यक्षभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्तस्य मुनियुगल-स्यावस्थानक्षेत्रमेकमनेकं वा । यद्येकं, तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति, न च तथा । भिन्नं चेत्तदा निर्विभाग-द्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति ।।२७।। एवं सूत्रपञ्चकेन पञ्चास्ति-कायप्रतिपादकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः ।।

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रंथे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधि-कारत्रयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः समाप्तः ।

समा जाते हैं । इसी प्रकार जीव और पुद्गल के विषय में भी अवकाश देने को सामर्थ्य आगम में कही है । **एक निगोद शरीर में द्रव्य-प्रमाण से भूतकाल के सब सिद्धों से भी अनन्तगुणे जीव देखे गये हैं ।१। यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलों द्वारा अतिसघन भरा हुआ है ।२।**

यदि किसी का ऐसा मत हो कि "मूर्तिमान् पुद्गलों के तो अणु तथा स्कन्ध आदि विभाग हों, इसमें तो कुछ विरोध नहीं; किन्तु अखण्ड, अमूर्त्तिक आकाश की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है ?" यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि राग आदि उपाधियों से रहित, निज-आत्म-अनुभव को प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुख रूप अमृत रस के आस्वादन से तृप्त ऐसे दो मुनियों के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक ? यदि दोनों का निवास क्षेत्र एक ही है तब तो दोनों एक हुए; परन्तु ऐसा है नहीं । यदि भिन्न मानों तो घट का आकाश तथा पट का आकाश की तरह विभागरहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई ।।२७।।

इस तरह पांच सूत्रों द्वारा पंच अस्तिकायों का निरूपण करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

इसप्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव विरचित द्रव्य संग्रह ग्रंथ में नमस्कारादि २७ गाथाओं से तीन अन्तर अधिकारों द्वारा छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय प्रतिपादन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ।

चूलिका

अतः परं पूर्वोक्तषड्द्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

परिणामि जीव-मुत्तं, सपदेसं एय-खेत्त-किरिया य ।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगदमिदरंहि यपवेसे ॥१॥
दुण्णि य एयं एयं, पंच त्तिय एय दुण्णि चउरो य ।
पंच य एयं एयं, एवेसं एय उत्तरं (रे) णेयं ॥२॥ (युग्मम्)

व्याख्या—परिणामि इत्यादिव्याख्यानं क्रियते। **परिणामि** परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्यां कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति । **जीव** शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः । व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवित-

---

चूलिका

इसके अनन्तर अब छह द्रव्यों के उपसंहार रूप से विशेष व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्तिक एक पुद्गल है, प्रदेशसहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांच द्रव्य हैं, एक-एक संख्या वाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य हैं । क्षेत्रवान् एक आकाश द्रव्य है, क्रिया सहित जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच हैं, कर्त्ता—एक जीव द्रव्य है, सर्वगत (सर्व व्यापक) द्रव्य एक आकाश है (एक क्षेत्र अवगाह होने पर भी) इन छहों द्रव्यों का परस्पर प्रवेश नहीं है । इस प्रकार छहों मूलद्रव्यों के उत्तर गुण जानने चाहिये ॥१-२॥

वृत्त्यर्थ—**परिणामि** इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान करते हैं **परिणामि** स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा परिणाम से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) विभावव्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं । **जीव**—शुद्ध निश्चयनय से निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य को प्राण कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्य रूप प्राण से जो जीता है वह जीव है ।

मूर्तो वा जीवः। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। **मुत्तं** अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शरस-गन्धवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्मूर्त्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्त-मपि, शुद्धनिश्चयनयेनामूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि। **सपदेसं** लोकमात्रप्रमितासंख्येय-प्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि। कालद्रव्यं पुनर्बहु-प्रदेशत्वलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्। **एय** द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति। जीव-पुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति। **खेत्त** सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकम्। शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। **किरियाय** क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ। धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि। **णिच्चं** धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि, तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्याया-भावान्नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च; जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरु-

---

व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकार के जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण से जो जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह जीव है। पुद्गल आदि पांच द्रव्य अजीव रूप हैं। **मुत्तं** शुद्ध आत्मा से विल-क्षण स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण वाला मूर्त्ति कहा जाता है, उस मूर्त्ति के सद्भाव से पुद्गल मूर्त्त है। जीवद्रव्य अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से मूर्त्त है, किन्तु शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्त्तिक हैं। **सपदेसं** लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों को धारण करने से पंचास्तिकाय नामक जीव आदि पांच द्रव्य बहु-प्रदेशी हैं और बहु-प्रदेश रूप कायत्व के न होने से कालद्रव्य अप्रदेश (एक-प्रदेशी) है। **एय** द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं। **खेत्त** सब द्रव्यों को स्थान देने का सामर्थ्य होने से क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है, शेष पांच द्रव्य क्षेत्र नहीं हैं। **किरियाय** एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन रूप हिलने वाली अथवा चलने वाली जो क्रिया है, वह क्रिया जिनमें है ऐसे क्रियावान् जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियाशून्य हैं। **णिच्च** धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्याय के कारण अनित्य हैं, फिर भी मुख्य रूप से इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती इसलिये ये नित्य हैं, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भी नित्य हैं। जीव, पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य हैं तो भी अगुरुलघुगुण के परिणाम रूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा तथा विभावव्यंजन पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। **कारण** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यों में से व्यवहारनय

तत्र परिणतिस्वरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये । **कारण** पुद्‌गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्यशरीरवाङ्‌मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवंति । जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्‌गलादिपंचद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम् । **कत्ता** शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बंधमोक्षद्रव्यभावरूपपुण्यपापघटपटादीनामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबंधयोः कर्त्तातत्फलभोक्ता च भवति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यस्य सम्यक्‌श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तु परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता चेति । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्‌गलादिपंचद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्, वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव । **सव्वगद** लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते । लोकव्याप्त्यपेक्षया

की अपेक्षा जीव के शरीर, वचन, मन, श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्‌गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्त्तना रूप कार्यक्रम से धर्म आदि चार द्रव्य करते हैं; इस कारण पुद्‌गलादि पांच द्रव्य 'कारण' हैं। जीवद्रव्य यद्यपि गुरू, शिष्य आदि रूप से आपस में एक दूसरे का उपकार करता है फिर भी पुद्‌गलादि पांच द्रव्यों के लिये जीव कुछ भी नहीं करता, इसलिये 'अकारण' है। **कत्ता** शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव यद्यपि बंध मोक्ष के कारणभूत द्रव्य-भाव रूप पुण्य, पाप, घट, पट आदि का कर्त्ता नहीं है किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुभ, अशुभ उपयोगों में परिणत होकर पुण्य-पाप बंध का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता होता है। तथा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव निज शुद्ध आत्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होकर यह जीव मोक्ष का भी कर्त्ता और उसके फल का भोगने वाला होता है। यहां सब जगह शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामों के परिणमन का ही कर्त्ता जानना चाहिए। पुद्‌गल आदि पांच द्रव्यों के तो अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है और वास्तव में पुण्य, पाप आदि की अपेक्षा अकर्तापना ही है। **सव्वगदं** लोक और अलोक व्यापक होने की अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है, लोक में सर्वव्यापक होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत हैं। जीवद्रव्य एक जीव की अपेक्षा से लोकपूर्ण समुद्‌घात के सिवाय असर्वगत है किन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वगत ही है। पुद्‌गल द्रव्य लोकव्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्‌गलों की अपेक्षा असर्वगत है, एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं है किन्तु लोक प्रदेश के

धर्माधर्मौ च । जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं, नानाजीवापेक्षया सर्व-गतमेव भवति, पुद्‌गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्‌गलापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । **इदरंहि य पवेसे** यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति । अत्र षड्‌द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दै-कादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः ।

अत ऊर्ध्वं पुनरपि षड्‌द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति । तत्र शुद्धनिश्चय-नयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति । व्यक्तिरूपेण पुनः पञ्चपर-मेष्ठिन एव । तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव । तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव । परमनिश्चयेन तु भोगाकांक्षादि-रूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः शेषद्रव्याणि हेयानीति

बराबर अनेक कालाणुओं की अपेक्षा कालद्रव्य लोक में सर्वगत है । **इदरंहि य पवेसे** यद्यपि व्यवहारनय से सब द्रव्य एक क्षेत्र में रहने के कारण आपस में प्रवेश करके रहते हैं, फिर भी निश्चयनय से चेतना आदि अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते । इसका सारांश यह है कि इन छह द्रव्यों में वीतराग, चिदानन्द, एक शुद्ध बुद्ध आदि गुण स्वभाव वाला और शुभ, अशुभ मन, वचन और काय के व्यापार से रहित निज-शुद्ध-आत्म-द्रव्य ही उपादेय है ।

तदनन्तर फिर भी छह द्रव्यों में से क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका विशेष विचार करते हैं । वहां शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्ति रूप से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सभी जीव उपादेय हैं और व्यक्ति रूप से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं । उनमें भी अर्हन्त-सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दो में भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय हैं । परम-निश्चयनय से तो भोगों की इच्छा आदि समस्त विकल्पों से रहित परमध्यान के समय सिद्ध-समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है । अन्य सब द्रव्य हेय हैं, यह तात्पर्य है । **शुद्ध-बुद्धैकस्वभाव** इस पद का क्या अर्थ है ? इसको कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विभावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है । तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों से सहित होने के कारण आत्मा बुद्ध है । इस तरह 'शुद्धबुद्धैकस्वभाव' पद का अर्थ सर्वत्र समझना चाहिए ।

तात्पर्यम् । शुद्धबुद्धैकस्वभाव इति कोऽर्थः ? मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद्बुद्धः । इति शुद्धबुद्धैकलक्षणम् सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

चूलिकाशब्दार्थः कथ्यते—चूलिका विशेषव्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानम् चेति ।

॥ इति षड्द्रव्यचूलिका समाप्ता ॥

अब चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं—किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को, कहे हुए विषय में जो अनुक्त विषय हैं उनके व्याख्यान को अथवा उक्त, अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को 'चूलिका' कहते हैं ।

इस प्रकार छह द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई ।

द्वितीयः अधिकारः ।

अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामास्रवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ **आसवबंधण** इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमास्रवपदार्थव्याख्यानरूपेण **आसवदि जेण** इत्यादि गाथात्रयम्, ततः परं बन्धव्याख्यानकथनेन **बज्झदि कम्मं** इति प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संवरकथनरूपेण **चेदणपरिणामो** इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्जराप्रतिपादनरूपेण **जहकालेण तवेण य** इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन **सव्वस्स कम्मणो** इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन **सुहअसुह** इत्यादि सूत्रमेकं चेत्येकादशगाथाभिः स्थलसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपातनिका ।

दूसरा अधिकार

[भूमिका]

इसके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव आदि ७ पदार्थों का ११ गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम **आसवबंधण** इत्यादि अधिकार सूचन रूप २८ वीं एक गाथा है । उसके पश्चात् आस्रव के व्याख्यान रूप **आसवदि जेण** इत्यादि तीन गाथायें हैं । तदनन्तर **बज्झदि कम्मं जेण** इत्यादि दो गाथाओं में बंध पदार्थ का निरूपण है । तत्पश्चात् **चेदणपरिणामो** इत्यादि ३४, ३५ वीं गाथाओं में संवर पदार्थ का कथन है । फिर निर्जरा के प्रतिपादन रूप **जह कालेण तवेण य** इत्यादि ३६ वीं एक गाथा है । उसके बाद मोक्ष के निरूपण रूप **सव्वस्स कम्मणो** इत्यादि ३७ वीं एक गाथा है । तदनन्तर पुण्य, पाप पदार्थों के कथन करने वाली **सुहअसुह** इत्यादि एक गाथा है । इस तरह ११ गाथाओं द्वारा सप्त स्थलों के समुदाय सहित द्वितीय अधिकार की भूमिका समझनी चाहिए ।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि यदि जीव, अजीव ये दोनों द्रव्य सर्वथा एकांत से परिणामी ही हैं तो संयोगपर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा

अत्राह शिष्यः—यद्येकान्तेन जीवाजीवौ परिणामिनौ भवतस्तदा संयोगपर्यायरूप एक एव पदार्थः, यदि पुनरेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा जीवाजीवद्रव्यरूपौ पदार्थौ, तत आस्रवादिसप्त-पदार्थाः कथं घटन्त इति। तत्रोत्तरं—कथंचित्परिणामित्वाद् घटन्ते। कथंचित्परिणामित्वमिति कोऽर्थः ? यथा स्फटिकमणिविशेषो यद्यपि स्वभावेन निर्मलस्तथापि जपापुष्पाद्युपाधिजनितं पर्यायान्तरं परिणतिं[1] गृह्णाति। यद्यप्युपाधिं गृह्णाति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वभावं न त्यजति तथा जीवोऽपि यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्तथाप्यनादिकर्मबन्धपर्यायवशेन रागादिपरद्रव्योपाधिपर्यायं गृह्णाति। यद्यपि परपर्यायेण परिणमति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वरूपं न त्यजति। पुद्गलोऽपि तथेति। परस्परसापेक्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः। एवं कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते। ते च पूर्वोक्तजीवाजीवपदार्थाभ्यां सह नव भवन्ति ततः एव नव पदार्थाः। पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोरास्रवपदार्थस्य,

---

अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं; इसलिये आस्रव आदि सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ? इसका उत्तर—कथंचित् परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन संगत होता है। कथंचित् परिणामित्व का क्या अर्थ है ? वह इस प्रकार है—जैसे स्फटिकमणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है फिर भी जपापुष्प (लाल फूल) आदि के संसर्ग से लाल आदि अन्य पर्याय रूप परिणमती है (बिलकुल सफेद स्फटिक मणि के साथ जब जपाफूल होता है तब वह उस फूल की तरह लाल रंग का हो जाता है।) स्फटिक मणि यद्यपि लाल उपाधि ग्रहण करती है फिर भी निश्चयनय से अपने सफेद निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ती। इसी तरह जीव भी यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्वाभाविक शुद्ध-चिदानन्दस्वभाव वाला है फिर भी अनादि कर्म-बन्ध रूप पर्याय के कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर पर्याय रूप परिणमन करता है तो भी निश्चयनय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के विषय में जानना चाहिये। परस्पर अपेक्षा सहित होना यही कथंचित्परिणामित्व शब्द का अर्थ है। इस प्रकार कथंचित् परिणामित्व सिद्ध होने पर, जीव और पुद्गल की संयोग परिणति से बने हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्य सहित ९ हो जाते हैं इसलिये नौ पदार्थ कहे जाते हैं। अभेदनय की अपेक्षा से पुण्य और पाप पदार्थ का आस्रव पदार्थ में या बन्ध पदार्थ में अन्तर्भाव करने से सात तत्त्व कहे जाते हैं। शिष्य

---

१. 'परिणमति' इति पाठान्तरं

बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते । हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्वबलेन भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन नवपदार्थाः सप्ततत्त्वानि वा सिद्धानि तथापि तैः किं प्रयोजनम् । यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवाजीवौ द्वावेव पदार्थाविति । तत्र परिहारः—हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्थाः व्याख्येया भवन्ति । तदेव कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षः, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति । इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते—आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम् । तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति । एवं हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्वनवपदार्थाः स्वयमेव सिद्धाः ।

इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्त्तेति कथ्यते—निजनिरञ्जनशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैक-

---

पूछता है कि हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्व के बल से भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा ९ पदार्थ तथा ७ तत्त्व सिद्ध हो गये किन्तु इनसे प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ ? जैसे अभेदनय की अपेक्षा पुण्य, पाप इन दो पदार्थों का सात पदार्थों में अन्तर्भाव हुआ है उसी तरह विशेष अभेदनय की अपेक्षा से आस्रवादि पदार्थों का भी जीव, अजीव इन दो पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से जीव तथा अजीव ये दो पदार्थ सिद्ध होते हैं ? इन दोनों शंकाओं का परिहार करते हैं कि—'कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय है' इस विषय का परिज्ञान कराने के लिए आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं । इसी को कहते हैं, अविनाशी अनन्तसुख उपादेय तत्त्व है । उस अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है, मोक्ष के कारण संवर और निर्जरा हैं । उन संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला निजात्म तत्त्व का सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय है तथा उस निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है । अब हेयतत्त्व को कहते हैं—आकुलता को उत्पन्न करने वाला, नरकगति आदि का दुःख तथा निश्चय से इन्द्रियजनित सुख भी हेय यानी त्याज्य है, उसका कारण संसार है और संसार के कारण आस्रव तथा बन्ध ये दो पदार्थ हैं, और उस आस्रव का तथा बन्ध का कारण पहले कहे हुए व्यवहार, निश्चयरत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र हैं । इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्व का निरूपण करने पर सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ स्वयं सिद्ध हो गये ।

लक्षणसुखामृतरसास्वादपराङ्मुखो बहिरात्मा भण्यते। स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति। क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकांक्षादिनिदानबंधेन भाविकाले पापानुबंधि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति। यस्तु पूर्वोक्तबहिरात्मनो विलक्षणः सम्यग्दृष्टिः स संवरनिर्जरामोक्ष-पदार्थत्रयस्य कर्ता भवति। रागादिविभावरहितपरमसामायिकं यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबंधितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्ट-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति। कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते। मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्य-पर्यायरूपाणामास्रवबंधपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति। सम्यग्दृस्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरिता-सद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति। परमशुद्धनिश्चयेन तु **ण वि उप्पज्जई, ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउं भणेइ।** इति वचनाद्बन्धमोक्षौ न स्तः। स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते—स्वशुद्धा-

---

अब किस पदार्थ का कर्त्ता कौन है? इस विषय का कथन करते हैं। निज निरंजन शुद्ध आत्मा से उत्पन्न परम-आनन्द रूप सुखामृत-रस-आस्वाद से रहित जो जीव है वह बहिरात्मा कहलाता है। वह बहिरात्मा आस्रव, बंध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्त्ता है। किसी समय जब कषाय और मिथ्यात्व का उदय मन्द हो, तब आगामी भोगों की इच्छा आदि रूप निदान बंध से पापानुबन्धी पुण्यपदार्थ का भी कर्त्ता होता है। जो बहिरात्मा से विपरीत लक्षण का धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है और यह सम्यग्दृष्टि जीव, जब राग आदि विभावों से रहित परम सामायिक में स्थित नहीं रह सकता, उस समय विषयकषायों से उत्पन्न होने वाले दुर्ध्यान से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का भी कर्त्ता होता है। अब कर्तृत्व के विषय में नय विभाग का निरूपण करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जो पुद्गल द्रव्य पर्याय रूप आस्रव, बन्ध तथा पुण्य, पाप पदार्थों का कर्त्तापन है, सो अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा है और जीव-भाव पुण्य-पाप पर्याय रूप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनय से है तथा सम्यक्दृष्टि जीव जो द्रव्य रूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थ का कर्त्ता है, सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है तथा संवर, निर्जरा मोक्षस्वरूप जीवभाव पर्याय का 'कर्त्ता', विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से है और परम शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा

रमसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं चेति । यतः एव भावना मुक्तिकारणं ततः एव शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मादिति चेत् ? ध्यानभावनापर्यायो विनश्वरः स च द्रव्यरूपत्वादविनश्वर इति । इदमत्र तात्पर्यं—मिथ्यात्वरागादिविकल्प-

---

तो न बंध है न मोक्ष है ।[1] जैसा कहा भी है—यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा मोक्ष को करता है, इस प्रकार श्री जिनेन्द्र कहते हैं । पूर्वोक्त विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय को आगमभाषा से क्या कहते हैं ? सो दिखाते हैं—निज शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप से जो होगा उसे 'भव्य' कहते हैं, इस प्रकार के भव्यत्व नामक पारिणामिक भाव से सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्यत्व पारिणामिक भाव की व्यक्ति यानी प्रकटता है और अध्यात्म भाषा में उसी को 'द्रव्यशक्तिरूप शुद्ध पारिणामिकभाव के विषय में भावना' कहते हैं । अन्य पर्याय नामों से इसी द्रव्यशक्ति रूप पारिणामिक भाव की भावना को निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं । क्योंकि भावना मुक्ति का कारण है, इसलिये शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय रूप है, ध्यान या भावना रूप नहीं है । ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है, 'ध्यान या भावना' पर्याय है अतएव विनाशीक है । 'ध्येय' है, वह भावना पर्याय रहित द्रव्य रूप होने से विनाशरहित है । यहां तात्पर्य यह है—मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पों से रहित निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द रूप एक सुख अनुभव रूप जो भावना है वही

---

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में भी लिखा है—

अज्जीव पुण्णपावे असुद्धजीवे तहासवे बंधे ।
सामी मिच्छाइट्ठी सम्माइट्ठी हवदि सेसे ॥१६२॥
सामी सम्माइट्ठी जीवे संवरणणिज्जरा मोक्खो ।
सुद्धे चेदणरूवे तह जाण सुणाणपच्चक्खं ॥१६३॥

अर्थ—अजीव, पुण्य, पाप, अशुद्धजीव, आस्रव और बन्ध का स्वामी तो मिथ्यादृष्टि है और शेष अर्थात् शुद्ध चेतनरूप जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष का स्वामी सम्यग्दृष्टि है । ऐसा सम्यग्ज्ञान से प्रत्यक्ष जानो ।

—आचार्य धवल माइल्ल

जालरहितनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखसंवित्तिरूपा च भावना मुक्तिकारणं भवति। तां च कोऽपि जनः केनापि पर्यायनामान्तरेण भणतीति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणानेकांतव्याख्यानेनास्रवबंधपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसंयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते। संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसंयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षितस्वभावपर्यायेणेति स्थितम्। तद्यथा—

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥२८॥

आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ॥२८॥

व्याख्या—आसव निरास्रवस्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रवः। **बंधण** बंधातीतशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः। **संवर** कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। **णिज्जर** शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा। **मोक्खो** जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य

मुक्ति का कारण है। उसी भावना को कोई पुरुष किन्हीं अन्य नामों (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि) के द्वारा कहता है।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर कहने से आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोगपरिणाम स्वरूप जो विभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ, जीव और पुद्गल के संयोग रूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं।

गाथार्थ—जीव, अजीव की पर्याय रूप जो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप (ऐसे शेष सात पदार्थ) हैं; इनको संक्षेप से कहते हैं ॥२८॥

वृत्त्यर्थ—आसव आस्रवरहित निज आत्मानुभव से विलक्षण जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उससे जो शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन है सो आस्रव है। **बन्धण** बन्धरहित शुद्ध आत्मोपलब्धि रूप भावना से छूटे हुए जीव का जो कर्म के प्रदेशों के साथ परस्पर मेल है, सो बन्ध है। **संवर** कर्म-आस्रव को रोकने में समर्थ स्वानुभव में परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का निरोध है, वह

वि घटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति । **सपुण्णपावा जे** पुण्यपापसहिता ये, **ते वि समासेण पभणामो** यथा जीवाजीवपदार्थौ व्याख्यातौ पूर्वं तथा तानप्यास्रवादिपदार्थान् **समासेण** संक्षेपेण प्रभणामो वयं; ते च कथंभूताः? **जीवाजीवविसेसा** जीवाजीवविशेषाः । चैतन्यभावरूपा जीवस्य विशेषाः । चैतन्याभावरूपा अजीवस्य विशेषाः । विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः? पर्यायाः । चैतन्याः अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थः । एवमधिकारसूत्रगाथा गता ॥२८॥

अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

आस्रवति येन कर्म्म परिणामेन आत्मनः सः विज्ञेयः ।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्म्मास्रवणं परः भवति ॥२९॥

संवर है । **णिज्जर** शुद्धोपयोग की भावना के बल से शक्तिहीन हुए कर्मपुद्गलों के एक देश गलने को निर्जरा कहते हैं । **मोक्खो** जीव, पुद्गल के बन्ध को नाश करने में समर्थ निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम है, वह मोक्ष है । **सपुण्णपावा जे** पुण्य, पाप सहित जो आस्रव आदि पदार्थ हैं, **ते वि समासेण पभणामो** उनको भी, जैसे पहले जीव, अजीव कहे हैं, उसी प्रकार संक्षेप से कहते हैं । वे कैसे हैं? **जीवा-जीवविसेसा** जीव तथा अजीव के विशेष (पर्याय) हैं । चैतन्यभाव रूप जीव की पर्याय हैं और चैतन्यरहित अजीव की पर्याय हैं । 'विशेष' का क्या अर्थ है? 'विशेष' का अर्थ पर्याय है । चैतन्य रूप जो अशुद्ध परिणाम हैं वे जीव के विशेष हैं और जो अचेतनकर्म पुद्गलों की पर्याय हैं वे अजीव के विशेष हैं । इस प्रकार अधिकार सूत्र गाथा समाप्त हुई ॥२८॥

अब तीन गाथाओं से आस्रव पदार्थ का वर्णन करते हैं, उसमें प्रथम ही भावास्रव तथा द्रव्यास्रव के स्वरूप की सूचना करते हैं:—

गाथार्थ—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उसे श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए और जो (ज्ञानावरणादि रूप) कर्मों का आस्रव है सो द्रव्यास्रव है ॥२९॥

व्याख्या—आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विज्ञेयो भावास्रवः। कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म; कस्यात्मनः? स्वस्य; स परिणामो भावास्रवो विज्ञेयः। स च कथंभूतः? **जिणुत्तो** जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तः। **कम्मासवणं परो होदि** कर्मास्रवणं परो भवति, ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं परः। पर इति कोऽर्थः? भावास्रवादन्यो भिन्नो। भावास्रवनिमित्तेन तैलमृक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति। ननु **आस्रवति येन कर्म** तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्धः, पुनरपि कर्मास्रवणं परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया? तन्न। येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म, तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं, न च द्रव्यास्रवव्याख्यानमिति भावार्थः ॥२९॥

अथ भावास्रवस्वरूपं विशेषेण कथयति—

वृत्त्यर्थ—आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव हो, वह भावास्रव जानना चाहिए। कर्मास्रव के नाश करने में समर्थ, ऐसी शुद्ध आत्मभावना से विरोधी जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है; किस आत्मा के? अपनी आत्मा के; उस परिणाम को भावास्रव जानना चाहिये। वह भावास्रव कैसा है? **जिणुत्तो** जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ है। **कम्मासवणं परो होदि** कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का जो आगमन है वह पर द्रव्यास्रव है। पर शब्द का क्या अर्थ है? भावास्रव से अन्य या भिन्न। जैसे तेल से चुपड़े पदार्थों पर धूल का समागम होता है, उसी तरह भावास्रव के कारण जीव के द्रव्यास्रव होता है। यहां कोई शंका करता है—**आसवदि जेण कम्मं** (जिससे कर्म का आस्रव होता है) इस पद से ही द्रव्यास्रव आ गया फिर **कम्मासवणं परो होदि** (कर्मास्रव इससे भिन्न होता है) इस पद से द्रव्यास्रव का व्याख्यान किस लिये किया? **समाधान**—तुम्हारी यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि 'जिस परिणाम से क्या होता है? कर्म का आस्रव होता है' यह जो कथन है, उससे परिणाम का सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया गया, यह तात्पर्य है ॥२९॥

अब भावास्रव का स्वरूप विशेष रूप से कहते हैं—

गाथार्थ—पहले (भावास्रव) के, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय (ऐसे पांच) भेद जानने चाहिये, उनमें से मिथ्यात्व आदि के क्रम से

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादग्रोऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः ।
पंच पंच पंचदश त्रयः चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य ॥३०॥

व्याख्या—मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादग्रो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः। अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च **मिथ्यात्वं** भण्यते । अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा **चेत्यविरतिः** । अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः, बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति **प्रमादः** । निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो **योग** इत्युच्यते । अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्म-

---

पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं । (अर्थात् मिथ्यात्व के पांच, अविरति के पांच, प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन और कषायों के चार भेद हैं) ॥३०॥

वृत्त्यर्थ—मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादग्रो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि कषाय आस्रव के भेद हैं । जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव की रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे **मिथ्यात्व** कहते हैं । अन्तरङ्ग में निज परमात्मस्वरूप भावना से उत्पन्न परम-सुख-अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना, सो **अविरति** है । अन्तरङ्ग में प्रमाद-रहित शुद्ध आत्म-अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उत्तरगुणों में मैल उत्पन्न करने वाला **प्रमाद** है । निश्चयनय की अपेक्षा क्रियारहित परमात्मा है, तो भी व्यवहारनय से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न मन वचन काय वर्गणा को अवलम्बन करने वाला, कर्मवर्गणा के ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्द (संचलन) है उसको **योग** कहते हैं । अन्तरङ्ग में परम-उपशम-मूर्त्ति केवल ज्ञान आदि अनन्त, गुण-स्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप **क्रोध** आदि

स्वरूपक्षोभकारकाः बहिर्विषये तु परेषां संबंधित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवाः । **अथ अथो विण्णेया** विज्ञेया ज्ञातव्याः । कतिभेदास्ते ? **पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु** पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति पुनः । तथाहि **एयंतबुद्धदरसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ । इन्दो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी । १ ।** इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम् । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिरपि पञ्चविधा । अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा । **विकहा तहा कसाया इन्दियणिद्दा तहेव पणयो य । चदु चदु पणमेगेगं हुंति पमादाहु पण्णरस । १ ।** इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः । मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योगः, विस्तरेण पञ्चदशभेदो वा । क्रोधमानमायालोभभेदेन कषायाश्चत्वारः, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा । एते सर्वे भेदाः

(**कषाय**) हैं । इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पांच भावास्रव हैं । **अथ अहो विण्णेया** ये जानने चाहिये । इन पांच भावास्रवों के कितने भेद हैं ? **पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु** उन मिथ्यात्व आदि के क्रम से पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं । बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्वी है, याज्ञिक ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्व के धारक हैं, तापस विनयमिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानमिथ्यात्वी है ।१।[1] इस गाथा के कथनानुसार ५ तरह का मिथ्यात्व है । हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह में इच्छा रूप अविरति भी पांच प्रकार की है अथवा मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति रूप ६ भेद तथा छहकाय के जीवों की विराधना रूप ६ भेद ऐसे बारह प्रकार की भी अविरति है । **चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं ।** मनोव्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इस तरह योग तीन प्रकार का है, अथवा विस्तार से १५ प्रकार का है । क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदों से कषाय चार प्रकार के हैं, अथवा १६ कषाय और ९ नोकषाय इन भेदों से पच्चीस प्रकार के कषाय हैं। ये सब भेद किस आस्रवके हैं ? **पुव्वस्स** पूर्वगाथामें कहे भावास्रव के हैं ।।३०।।

---

१. यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा सं० १६ के रूप में है। गोम्मटसार की जी० प्र० म० प्र० दोनों ही टीकाओं में इन्द्र का अर्थ श्वेताम्बर गुरू ही किया है। परन्तु पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री के विचार से यह भगवान महावीर के समकालीन अनेक दिगम्बर जैनलिंग से भ्रष्ट होकर अपने-अपने मत के प्रवर्तक कुतीर्थंकरों में से कोई एक होना चाहिए जिसका कि पक्ष एक सत्य पक्ष का निश्चय न कर सकना रहा होगा। गो० जी० पृ० १४ [टिप्पण] टीका० अ० पं० खूबचन्दजी सि० शा० ।

कस्य सम्बन्धिनः **पुव्वस्स** पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः ॥३०॥

अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति—

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलं समास्रवति ।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेकभेदः जिनाख्यातः ॥३१॥

व्याख्या—णाणावरणादीणं सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं, तदादिर्येषां तानि ज्ञानावरणादीनि तेषां ज्ञानावरणादीनां **जोग्गं** योग्यं **जं पुग्गलं समासवदि** स्नेहाभ्यक्तशरीराणां धूलिरेणुसमागम इव निष्कषायशुद्धात्मसंवित्तिच्युतजीवानां कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गलद्रव्यं समास्रवति, **दव्वासवो स णेओ** द्रव्यास्रवः स विज्ञेयः । **अणेयभेओ** स च ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञानामष्टमूलप्रकृतीनां भेदेन, तथैव **पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पंचेव । बावण्णहीण बियसयपयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥१॥** इति गाथाकथितक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याप्रमितो-

---

अब द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए । वह अनेक भेदों वाला है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

वृत्त्यर्थ—**णाणावरणादीणं** सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत, 'ज्ञान' शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे यानी ढके सो ज्ञानावरण है । वह ज्ञानावरण है आदि में जिनके ऐसे जो ज्ञानावरणादि हैं उनके **जोग्गं** योग्य **जं** जो **पुग्गलं** पुद्गल **समासवदि** आता है; जैसे तेल से चुपड़े शरीर वाले जीवों की देह पर धूल के कण आते हैं, उसी प्रकार कषायरहित शुद्ध आत्मानुभूति से रहित जीवों के जो कर्मवर्गणा रूप पुद्गल आता है, **दव्वासओ स णेओ** उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये । **अणेयभेओ** वह अनेक प्रकार का है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ये आठ मूल कर्मप्रकृति हैं तथा ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के पांच

त्तरप्रकृतिभेदेन तथा चासंख्येयलोकप्रमितपृथिवीकायनामकर्माद्युत्तरोत्तरप्रकृतिरूपेणानेकभेद इति **जिणक्खादो** जिनख्यातो जिनप्रणीत इत्यर्थः ।।३१।। एवमास्रवव्याख्यानगाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम् ।

अतः परं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्धमुत्तरार्धेन तु द्रव्य-बन्धस्वरूपमावेदयति—

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ।।३२।।

बध्यते कर्म्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः ।
कर्म्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः ।।३२।।

व्याख्या—बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो बध्यते कर्म येन चेतनभावेन स भावबन्धो भवति । समस्तकर्मबन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षण-ज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबन्धिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्वि-

---

इस प्रकार १४८ प्रकृतियों के नाश होने से सिद्ध होते हैं । (सिद्ध भक्ति गाथा ८) इस गाथा में कहे हुए क्रम से एक सौ अड़तालीस १४८ उत्तरप्रकृतियां हैं और असंख्यात लोकप्रमाण जो पृथिवीकाय नामकर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृति भेद हैं, उनकी अपेक्षा कर्म अनेक प्रकार का है । **जिणक्खादो** यह श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ।।३१।।

इसप्रकार आस्रव के व्याख्यान की तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे दो गाथाओं से बन्ध का व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भावबन्ध और उत्तरार्ध से द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जिस चेतनभाव से कर्म बंधता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश अर्थात् कर्म और आत्मप्रदेशों का एकमेक होना द्रव्यबन्ध है ।।३२।।

वृत्त्यर्थ—बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो जिस चैतन्य भाव से कर्म बंधता है, वह भावबंध है । समस्त कर्मबन्ध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास रूप परम-चैतन्य-विलास-लक्षण के धारक ज्ञान गुण की या अभेद-नय की अपेक्षा अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत परमात्मा की जो निर्मल अनुभूति है

पक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो** कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः। तेनैव भावबंधनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥३२॥

अथ तस्यैव बन्धस्य गाथापूर्वार्धेन प्रकृतिबन्धादिभेदचतुष्टयं कथयति, उत्तरार्धेन तु प्रकृतिबन्धादीनां कारणं चेति।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पवेसभेदादु चदुविधो बन्धो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधः बन्धः।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥३३॥

व्याख्या—पयडिट्ठिदिअणुभागप्पवेसभेदादु चदुविधो बन्धो प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धो भवति। तथाहि—ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः का प्रकृतिः ? देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञान-

---

उससे विरुद्ध मिथ्यात्व, राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध-चेतन-भाव-स्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बन्धते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है। **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो** कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर मिलना दूसरा है, अर्थात् उस भावबन्ध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक दूसरे में प्रवेश होकर मिल जाना है सो द्रव्य बन्ध है ॥३२॥

अब गाथा के पूर्वार्ध से उसी बन्ध के प्रकृतिबन्ध आदि चार भेद कहते हैं और उत्तरार्ध से उनके कारण का कथन करते हैं—

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होते हैं ॥३३॥

वृत्त्यर्थ—पयडिट्ठिदिअणुभागप्पवेसभेदादु चदुविधो बंधो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इस तरह बन्ध चार प्रकार का है। ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति (स्वभाव) क्या है ? उत्तर—जैसे देवता के मुख को परदा आच्छादित

प्रच्छादनता । दर्शनावरणीयस्य का प्रकृतिः ? राजदर्शनप्रतिषेधकप्रतीहारवद्दर्शनप्रच्छादनता । साता-सातवेदनीयस्य का प्रकृतिः ? मधुलिप्तखड्गधारास्वादनवदल्पसुखबहुदुःखोत्पादकता । मोहनीयस्य का प्रकृतिः ? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता । आयुःकर्मणः का प्रकृतिः ? निगडवद्गत्यन्तर-गमननिवारणता । नामकर्मणः का प्रकृतिः ? चित्रकारपुरुषवन्नानारूपकरणता । गोत्रकर्मणः का प्रकृतिः ? गुरुलघुभाजनकारककुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता । अन्तरायकर्मणः का प्रकृतिः ? भाण्डागारिकवद्दानादिविघ्नकरणतेति । तथाचोक्तं—**पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं । जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ।।१।।** इति दृष्टान्ताष्टकेन प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः । अजा-गोमहिष्यादिदुग्धानां प्रहरद्वयादिस्वकीयमधुररसावस्थानपर्यन्तं यथा स्थितिर्भण्यते, तथा जीवप्रदेशेष्वपि यावत्कालं कर्मसम्बन्धेन स्थितिस्तावत्कालं स्थितिबन्धो ज्ञातव्यः । यथा च तेषामेव दुग्धानां तारतम्येन रसगतशक्तिविशेषोऽनुभागो भण्यते तथा जीवप्रदेशस्थितिकर्मस्कन्धानामपि सुखदुःखदानसमर्थ-

---

कर देता है (ढक देता है) उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है । दर्शनावरण की प्रकृति क्या है ? राजा के दर्शन को रुकावट जैसे द्वारपाल करता है, उसी तरह दर्शनावरण दर्शन को नहीं होने देता । सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म की क्या प्रकृति है ? मधु (शहद) से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से जैसे कुछ सुख और अधिक दुःख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म भी अल्पसुख और अधिक दुःख देता है । मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है ? मद्यपान के समान, 'हेय उपादेय पदार्थ के ज्ञान की रहितता' यह मोहनीय कर्म का स्वभाव अथवा मोहनीय कर्म की प्रकृति है । आयुकर्म की क्या प्रकृति है ? बेड़ी के समान दूसरी गति में जाने को रोकना, यह आयुकर्म की प्रकृति है । नामकर्म की प्रकृति क्या है ? चित्रकार के समान अनेक प्रकार के शरीर बनाना, यह नामकर्म की प्रकृति है । गोत्रकर्म का क्या स्वभाव है ? छोटे-बड़े घट आदि को बनाने वाले कुम्भकार की तरह उच्च-नीच गोत्र का करना, यह गोत्रकर्म की प्रकृति है । अन्तरायकर्म का स्वभाव क्या है ? भण्डारी के समान 'दान आदि में विघ्न करना', यह अन्तरायकर्म की प्रकृति है । सो ही कहा है—**पट प्रतीहार, द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेड़ी, चितेरा, कुम्भकार और भंडारी इन आठों का जैसा स्वभाव है वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का स्वभाव जानना चाहिये ।।१।।**[1] इस प्रकार गाथा में कहे हुए आठ दृष्टान्तों के अनुसार प्रकृति बन्ध जानना चाहिए । बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में जैसे दो पहर आदि समय तक

---

१. गो० क० २१, पंचसंग्रह प्राकृत २।३ ।

शक्तिविशेषोऽनुभागबन्धो विज्ञेयः। सा च घातिकर्मसम्बंधिनी शक्तिर्लतादार्वस्थिपाषाणभेदेन[1] चतुर्धा। तथैवाशुभाऽघातिकर्मसम्बन्धिनी निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण, शुभाघातिकर्मसम्बंधिनी पुनर्गुडखण्डशर्करामृतरूपेण चतुर्धा भवति। एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभागसंख्या अभव्यानंतगुणप्रमिता अनंतानंतपरमाणवः प्रतिक्षणबन्धमायांतीति प्रदेशबंधः। इदानीं बंधकारणं कथ्यते। **जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।** योगात्प्रकृतिप्रदेशौ, स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत इति। तथाहि—निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्मप्रदेशानां व्यवहारेण परिस्पंदनहेतुर्योगः, तस्मात्प्रकृतिप्रदेशबंधद्वयं भवति। निर्दोषपरमात्मभावनाप्रतिबन्धकक्रोधादिकषायोदयात् स्थित्यनुभागबन्धद्वयं भवतीति। आस्रवे बंधे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेषः? इति चेत्, नैवं; प्रथमक्षणे कर्मस्कंधा-

---

अपने मधुर रस में रहने की मर्यादा है, (बकरी का दूध दो पहर तक अपने रस में ठीक स्थित रहता है; गाय, भैंस का दूध उससे अधिक देर तक ठीक बना रहता है), इत्यादि स्थिति का कथन है; उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्मसम्बन्ध की स्थिति है उतने काल को स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे उन बकरी आदि के दूध में तारतम्य से हीनाधिक मीठापन व चिकनाई शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है, उसी प्रकार जीवप्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं, उनमें भी जो हीनाधिक सुख-दुःख देने की समर्थ शक्ति विशेष है, उसको अनुभाग बन्ध जानना चाहिए। घातिकर्म से सम्बन्ध रखने वाली वह शक्ति लता (बेल) काठ, हाड़ और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है। उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में शक्ति नीम, कांजीर (काली जीरी), विष तथा हालाहल रूप से चार तरह की है तथा शुभ अघातिया कर्मों की शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार तरह की है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्तैक भाग (सिद्धों के अनन्तवें भाग) और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का स्वरूप है। अब बन्ध का कारण कहते हैं—**जोगो पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुन्ति** योग से प्रकृति प्रदेश और कषाय से स्थित अनुभाग बन्ध होते हैं। निश्चयनय से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं, व्यवहार नय से उन आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन का (चलायमान करने का) जो कारण है उसको योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति प्रदेश दो बन्ध होते हैं। दोषरहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबन्ध करने वाले क्रोध आदि कषाय के उदय से स्थिति और

---

१. 'शक्तिभेदेन' इति पाठान्तरम्।

नामागमनमास्रवः, आगमनानंतरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बंध इति भेदः। यत एव योग-कषायाद्बंधचतुष्टयं भवति तत एव बंधविनाशार्थं योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् ॥३३॥ एवं बन्धव्याख्यानेन सूत्रद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ।

अत ऊर्ध्वं गाथाद्वयेन संवरपदार्थः कथ्यते। तत्र प्रथमगाथायां भावसंवरद्रव्यसंवरस्वरूपं निरूपयति—

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

चेतनपरिणामः यः कर्म्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनः अन्यः ॥३४॥

व्याख्या—चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु चेतनपरिणामो

अनुभाग ये दो बन्ध होते हैं। शंका—आस्रव और बंध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं, इसलिये आस्रव और बन्ध में क्या भेद है? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन है वह तो आस्रव है और कर्मस्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण में जो उन कर्मस्कन्धों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना, सो बन्ध है। यह भेद आस्रव और बंध में है। क्योंकि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बन्ध होते हैं। इस कारण बन्ध का नाश करने के लिये योग तथा कषाय का त्याग करके अपनी शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये; यह तात्पर्य है ॥३३॥

इस तरह बंध के व्याख्यानरूप जो दो गाथासूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्याय में द्वितीय स्थल समाप्त हुआ।

अब इसके आगे दो गाथाओं द्वारा संवर पदार्थ का कथन करते हैं। उनमें से प्रथम गाथा में भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको भावसंवर कहते हैं। और जो द्रव्यास्रव का रुकना है सो द्रव्यसंवर है ॥३४॥

वृत्त्यर्थ—**चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु** जो चेतन परिणाम कर्म-आस्रव को रोकने में कारण है, वह निश्चय से भावसंवर है।

यः, कथंभूतः ? कर्मास्रवनिरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति खलु निश्चयेन । दव्वासवरोहणे अण्णो द्रव्यकर्मास्रवनिरोधने सत्यन्यो द्रव्यसंवर इति । तद्यथा—निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्षः, स चैवाविनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थः, अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्तः, दृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तरागादिविभावमलरहितत्वादत्यन्तनिर्मलः परमचैतन्यविलासलक्षणत्वादुच्छलननिर्भरः स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति । यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः ।

अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते । तथाहि—मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते । तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूपउपयोगत्रयव्यापारस्तिष्ठति । तदुच्यते—मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तार-

---

दव्वासवरोहणे अण्णो द्रव्यकर्मों के आस्रव का निरोध होनेपर दूसरा द्रव्यसंवर होता है। वह इस प्रकार है—निश्चयनय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से रहित, अविनाशी होने से नित्य, परम प्रकाश स्वभाव होने से स्व-पर प्रकाशन में समर्थ, अनादि अनन्त होने से आदि मध्य और अन्तरहित, देखे, सुने और अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त रागादिक विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्यविलासरूप लक्षण का धारक होने से चित्-चमत्कार से भरपूर, स्वाभाविक परमानन्दस्वरूप होने से परम सुख की मूर्त्ति और आस्रवरहित-सहज-स्वभाव होने से सब कर्मों के संवर में कारण, इन लक्षणों वाले परमात्मा के स्वभाव की भावना से उत्पन्न जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है। कारणभूत भावसंवर से उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य-कर्मों के आगमन का अभाव सो द्रव्यसंवर है । यह गाथार्थ है ।

अब संवर के विषय में नयों का विभाग कहते हैं—मिथ्यात्व गुणस्थान से क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मन्दता के तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है । उसमें गुणस्थानों के भेद से शुभ, अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीन उपयोगों का व्यापार होता है । सो कहते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र, इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभ उपयोग होता है, (जो अशुभोपयोग

तम्येन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते। तत्रैवं, मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तावत् संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक्कबंधवोछिण्णा। दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलस जोगिणो एक्को। १। इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति। अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते ? इति चेत्तत्रोत्तरं—शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत्

प्रथम गुणस्थान में है, उससे कम दूसरे में और दूसरे से कम तीसरे में है)। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्ध-उपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक ६ गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्धनयरूप शुद्ध उपयोग वर्त्तता है। इनमें से—मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं। सासादन आदि गुणस्थानों में, **मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में १६, दूसरे में २५, तीसरे में शून्य, चौथे में १०, पांचवें में ४, छठे में ६, सातवें में १, आठवें में २, ३० व ४, नौवें में ५, दसवें में १६ और सयोग केवली के १ प्रकृति की बन्ध व्युच्छित्ति होती है।**१ इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर-ऊपर अधिकता से संवर जानना चाहिए। ऐसे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ, शुद्ध रूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया।

शंका—इस अशुद्ध निश्चयनय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार घटित होता है ? **उत्तर**—शुद्ध उपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक स्व-आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होता है, इस कारण उपयोग में शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध अवलम्बनपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। 'संवर' इस शब्द से कहे जाने वाला वह शुद्धोपयोग, संसार के कारणभूत मिथ्यात्व—राग आदि अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध नहीं होता; तथा फलभूत केवलज्ञान स्वरूप शुद्ध पर्याय की भांति (वह शुद्धोपयोग) शुद्ध भी नहीं होता, किन्तु उन अशुद्ध तथा

---

१. गो० क० ६४।

शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते ।

कश्चिदाह—केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । तत्रोत्तरं दीयते—युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तनवर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति । यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति, तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते । ततः किं सिद्धं ? एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूपं विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति । यच्च लब्ध्यपर्याप्त

शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय रूप, मोक्ष का कारण, एकदेश में प्रगट रूप और एकदेश में आवरणरहित ऐसा तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है ।

कोई शंका करता है—केवलज्ञान समस्त आवरण से रहित शुद्ध है, इसलिये केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरण रहित शुद्ध होना चाहिये, क्योंकि 'उपादान कारण के समान कार्य होता है' ऐसा आगम वचन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं—आपने ठीक कहा; किन्तु उपादान कारण भी, सोलह वानी के सुवर्णरूप कार्य के पूर्व-वर्त्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मिट्टी रूप घट कार्य के प्रति मिट्टी का पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूल रूप उपादान कारण के समान, कार्य से एकदेश भिन्न होता है (सोलह वानी के सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकायें उपादान कारण हैं और घट के प्रति जैसे मिट्टी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण हैं, सो सोलह वानी के सुवर्ण और घट रूप कार्य से एकदेश भिन्न हैं, बिलकुल सोलह वानी के सुवर्ण रूप और घट रूप नहीं हैं । इसी तरह सब उपादान कारण कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं) । यदि उपादान कारण का कार्य के साथ एकान्त से सर्वथा अभेद या भेद हो तो उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्तों के समान कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता ।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षणवाला एकदेश व्यक्ति रूप, विवक्षित एकदेश शुद्ध नय की अपेक्षा 'संवर' शब्द से

सूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं, न च सर्वथा। कस्मादिति चेत् ? तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति। वस्तुत उपरितन-क्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं, संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायो-पशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरणवत्केवलज्ञानांशरूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षतां प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवन्निविडलो-चनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः।

अथ क्षयोपशमलक्षणं कथ्यते—सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्ध-कानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्प-र्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उप-शमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। क्षयोपशमे भवः क्षायोपश-

---

बाच्य शुद्ध उपयोग स्वरूप क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव में नित्य उद्घाटित तथा आवरणरहित ज्ञान सुना जाता है, वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म का सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरणरहित है, किन्तु सर्वथा आवरणरहित नहीं है। वह आवरणरहित क्यों रहता है ? उत्तर—यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो जावे तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। वास्तव में तो उपरिवर्त्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है, क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिये निगोदिया का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एकदेश में निरावरण के समान वह ज्ञान केवलज्ञान का अंशरूप हो तो उस एकदेश (अंश) से भी लोकालोक प्रत्यक्ष हो जाये; परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; किन्तु अधिक बादलों से आच्छादित सूर्य-बिम्ब के समान या निबिड़ नेत्रपटल के समान, निगोदिया का ज्ञान सबसे थोड़ा जानता है, यह तात्पर्य है।

अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं—सब प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्मों की जो शक्तियां हैं उनको 'सर्वघातिस्पर्द्धक' कहते हैं। और विवक्षित एक देश से जो आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली कर्मशक्तियां हैं वे 'देशघातिस्पर्द्धक' कहलाती हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का जो अभाव है सो ही क्षय है और उन्हीं सर्वघातिस्पर्द्धकों का जो अस्तित्व है वह उपशम कहलाता है। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का अभावरूप क्षय सहित उपशम और उन (कर्मों) के

मिको भावः । अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुणं लभते यत्र स क्षायोपशमिको भावः । तेन किं सिद्धं ? पूर्वोक्तसूक्ष्मनिगोदजीवे ज्ञानावरणीयदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्येकदेशेन ज्ञानगुणं लभ्यते तेन कारणेन तत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं, न च क्षायिकं, कस्मादेकदेशोदयसद्भावादिति । अयमत्रार्थः—यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति तथापि ध्यातृपुरुषेण यदेव नित्यसकलनिरावरणमखण्डैकसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं, न च खण्डज्ञानरूप, इति भावनीयम् । इति संवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति ॥३४॥

अथ संवरकारणभेदान् कथयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कैः कृत्वा संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददातीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति भगवान्—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥

व्रतसमितिगुप्तयः धर्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥३५॥

एकदेश घातिस्पर्द्धकों का उदय होना, सो ऐसे तीन प्रकार के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है । क्षयोपशम में जो भाव हो, वह क्षायोपशमिक भाव है । अथवा देशघातिस्पर्द्धकों के उदय के होते हुए, जीव जो एकदेश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है । इससे क्या सिद्ध हुआ ? पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीव में ज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने के कारण एकदेश से ज्ञान गुण होता है इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, क्षायिक नहीं; क्योंकि, वहां कर्म के एकदेश उदय का सद्भाव है ।

यहां सारांश यह है—यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षण–वाला क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण है तथापि ध्यान करने वाले पुरुष को, 'नित्य सकल–आवरणों से रहित, अखण्ड, एक सकल विमल–केवल ज्ञानरूप परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मैं हूं, खण्ड ज्ञानरूप नहीं हूं' ऐसा ध्यान करना चाहिए । इस तरह संवर तत्त्व के व्याख्यान में नय का विभाग जानना चाहिये ॥३४॥

अब संवर के कारणों के भेद कहते हैं, यह एक भूमिका है । किनसे संवर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने वाली दूसरी भूमिका है, इन दोनों भूमिकाओं को मन में धारण करके, श्री नेमिचन्द्र आचार्य गाथासूत्र कहते हैं—

व्याख्या—वदसमिदीगुत्तीओ व्रतसमितिगुप्तयः, **धम्माणुपेहा** धर्मस्तथैवानुप्रेक्षाः, **परीसहजओ य** परीषहजयश्च, **चारित्तं बहुभेया** चारित्रं बहुभेदयुक्तं, **णायव्वा भावसंवरविसेसा** एते सर्वे मिलिता भावसंवरविशेषा भेदा ज्ञातव्याः। अथ विस्तरः—निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्व-भावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण, तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्। निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः, व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गसंज्ञाः पञ्च समितयः। निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागा-दिभयात्स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः, व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं

गाथार्थ—पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भावसंवर के भेद जानने चाहिए।

वृत्त्यर्थ—वदसमिदीगुत्तीओ व्रत, समिति, गुप्तियां **धम्माणुपेहा** धर्म और अनुप्रेक्षा, **परीसहजओ य** और परीषहों का जीतना, **चारित्तं बहुभेया** अनेक प्रकार का चारित्र, **णायव्वा भावसंवरविसेसा** ये सब मिलकर भावसंवर के भेद जानने चाहिए। अब इसको विस्तार से कहते हैं—*निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव* धारक निज-आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ—अशुभ राग आदि विकल्पों से रहित होना व्रत है। व्यवहारनय से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से जीवन भर त्याग रूप पांच प्रकार का व्रत है। निश्चयनय की अपेक्षा अनन्तज्ञान-आदि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें 'सम' भले प्रकार, अर्थात् समस्त रागादि विभावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदिरूप से जो अयन कहिये गमन अर्थात् परिणमन सो समिति है। व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं। निश्चय से सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशन या रक्षा करना है, सो गुप्ति है। व्यवहारनय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन, वचन, काय की क्रिया को रोकना सो गुप्ति है। निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे (बचावे) सो विशुद्ध ज्ञान,

मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः। निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञानदर्शन-लक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तम-क्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्मः।

तद्यथा—प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहार्थं धर्मवचनं। क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवेऽ-कालुष्योपरमः क्षमा। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनाव-ज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमा इति उच्यते ॥१॥ जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं ॥२॥ योगस्यावक्रता आर्जवं। योगस्यकायवाङ्मनोलक्षण-स्यावक्रता आर्जवं इति उच्यते ॥३॥ सत्सु साधुवचनं सत्यं। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्य-मिति उच्यते ॥४॥ प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचं। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा शौचं इति निश्चीयते ॥५॥ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणेन्द्रियपरिहारः संयमः। ईर्यासमि-

---

दर्शन, लक्षणमयी निज शुद्ध आत्मा की भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनय से उसके साधन के लिए इन्द्र चक्रवर्ती आदि से जो वन्दने योग्य पद है उसमें पहुंचाने वाला उत्तम क्षमा मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यरूप दस प्रकार का धर्म है।

वे धर्म इस प्रकार हैं, जो समिति-पालन में प्रवृत्तिरूप हैं, उनके प्रमाद को दूर करने के लिये धर्म का निरूपण किया गया है। क्रोध उत्पन्न होने में निमित्तीभूत ऐसे असह्य दुर्वचन आदि के अवसर प्राप्त होने पर कलुषता का न होना क्षमा है अर्थात् शरीर को स्थिति का कारण जो शुद्ध आहार उसकी खोज के लिये पर-कुलों (गृहों) में जाते हुए मुनि को दुष्टजनों द्वारा गाली, हास्य, निरादर के वचन कहे जाने पर भी तथा ताड़न, शरीर-घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त कारण मिलने पर भी परिणामों में मलिनता न आना, इस ही का नाम क्षमा कहा गया है ॥ १ ॥

उत्तम जाति आदि मद के आवेग से अभिमान का न होना मार्दव है ॥२॥ योगों की अकुटिलता आर्जव है अर्थात् मन-वचन-कायरूप योगों की सरलता को आर्जव कहा गया है ॥३॥ सत्जनों से साधुवचन बोलना सत्य है अर्थात् प्रशस्त एवं श्रेष्ठ सज्जन पुरुषों से जो समीचीन वचन बोलना, वह सत्य कहलाता है ॥४॥ लोभ की निवृत्ति की प्रकर्षता होना, शौच है। शुचि नाम पवित्रता का है, शुचि के भाव व कर्म को शौच कहते हैं ॥५॥ समितियों के पालन करने वाले मुनिराज का प्राणियों

त्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते। एकेन्द्रियादि प्राणिपीड़ापरिहारः प्राणिसंयमः। शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः।

तत्प्रतिपादनार्थः शुद्धयष्टकोपदेशः, तद्यथा—**अष्टौ शुद्धयः**—भावशुद्धिः, कायशुद्धिः, विनयशुद्धिः, ईर्यापथशुद्धिः, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः, वाक्यशुद्धिश्चेति। तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता, मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा, रागाद्युपप्लवरहिता। कायशुद्धिः, निरावरणाभरणा, निरस्तसंस्कारा, यथाजातमलधारिणी, निराकृताङ्गविकारा। विनयशुद्धिः अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधिभक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः। ईर्यापथशुद्धिः नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीड़ा, ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी, द्रुतविलम्बितसम्भ्रांतविस्मितलीलाविकारदिगान्तरावलोकनादिदोषविरहित-

---

की रक्षा करना तथा इन्द्रियों के विषयों का निषेध संयम है, अर्थात् ईर्यासमिति आदि में प्रवर्तमान मुनि का उनकी (समिति की) प्रतिपालना के लिए प्राणीपीड़ापरिहार एवं इंद्रियविषयासक्ति-परिहार को संयम कहते हैं। एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग **प्राणिसंयम** है, शब्दादि इन्द्रिय-विषयों में राग का लगाव न होना **इन्द्रिय-संयम** है।

उस संयम का विशेष निरूपण करने के लिए अथवा उसकी पालना के लिये **अष्टशुद्धियों** का उपदेश है। वे अष्टशुद्धि इसप्रकार हैं:—भावशुद्धि-कायशुद्धि-विनयशुद्धि-ईर्यापथशुद्धि-भिक्षाशुद्धि-प्रतिष्ठापनशुद्धि-शयनासनशुद्धि-वाक्यशुद्धि। इनमें भावशुद्धि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग में रुचि होने से परिणामों को निर्मल करने वाली है, तथा रागादि विकार से रहित है। १। **कायशुद्धि** आवरण एवं आभूषणों से रहित, समस्त संस्कारों से अतीत, बालक (यथाजात) के समान धूलि-धूसरित देह को धारण करने वाली शरीर विकारों से रहित है। २। **विनयशुद्धि**—परम गुरु अरहन्तादि की यथायोग्य पूजा में तत्परता जहां रहती है, ज्ञानादि में यथाविधि भक्ति जहाँ की जाती है, गुरु के प्रति जहाँ सर्वत्र अनुकूल वृत्ति होती है। ३। **ईर्यापथशुद्धि**—नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के स्थान तथा योनिरूप आश्रयों का बोध होने से ऐसा प्रयत्न करना जिससे जीवों को पीड़ा न हो, ज्ञानरूपी सूर्य से एवं इन्द्रियों से तथा प्रकाश से भले प्रकार देखे हुए प्रदेश में गमन करना, जल्दी चलना, देर से चलना, चंचल उपयोग सहित चलना, साश्चर्य चलना, क्रीड़ा करते हुए चलना, विकारयुक्त चलना, इधर-उधर दिशाओं में देखते हुए चलना, इत्यादि चलने सम्बन्धी दोषों

गमना । भिक्षाशुद्धिः आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला, लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः, लोकगर्हित कुलपरिवर्जनपरा, चन्द्रगतिरिवहीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना दीनानाथदानशालाविवाहय जनगेहादि परिवर्जनोपलक्षिता, दीनवृत्तिविगमा, प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना, आगमविहित निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला । प्रतिष्ठापनशुद्धिः, नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च जंतूपरोधविरहिता । शयनासनशुद्धिः, स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः सेव्याः । वाक्यशुद्धिः, पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता, परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका, व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला, हितमितमधुरमनोहरा, संयतस्य योग्या, इति संयमान्तर्गताष्टशुद्धयः ॥६॥

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः । तद्द्विविधं, बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्येकं षड्विधम् ॥७॥ परि-

---

से रहित गमन करना । ४ । **भिक्षाशुद्धि**—आचारसूत्र में कहे अनुसार काल, देश, प्रकृति का बोध करना, लाभ–अलाभ, मान–अपमान में समान मनोवृत्ति का रहना; लोकनिंद्य परिवारों में आहार के लिये नहीं जाना, चन्द्रमा की गति के समान कम और अधिक गृहों की जिसमें मर्यादा हो, विशेष रूप से जो स्थान दीन-अनाथों के लिये दानशाला हो अथवा विवाह तथा यज्ञ जिस गृह में हो रहे हों, ऐसे स्थानों में आहार के लिये चर्या नहीं करनी । (अन्तराय एवं अनेक उपवासों के पश्चात् भी) दीनवृत्ति का न होना । प्रासुक आहार खोजना ही जहाँ मुख्य लक्ष्य है । आगम विधि के अनुसार निर्दोष भोजन की प्राप्ति से प्राणों की स्थिति मात्र है लक्ष्य जिसमें, ऐसी भिक्षाशुद्धि है । ५ । **प्रतिष्ठापनशुद्धि**—नख-रोम-नासिकामल-कफ-वीर्य-मल-मूत्र की क्षेपणक्रिया में तथा शरीर की उठने-बैठने की क्रिया इत्यादि में जन्तुओं को बाधा न होने देना । ६ । **शयनासनशुद्धि**—स्त्री, क्षुद्र पुरुष, चोर, मद्यपायी, जुआरी, मद्यविक्रेता, तथा पक्षियों को पकड़ने वाले आदि के स्थानों में नहीं बसना चाहिये । प्राकृतिक गिरि-गुफा, वृक्ष का कोटर तथा कृत्रिम सूने घर, छूटे हुए वा छोड़े हुए स्थानों में, जो अपने लिये नहीं बनाये गये हों, बसना चाहिये । ७ । **वाक्यशुद्धि**—पृथिवीकायिकादि सम्बन्धी आरम्भ आदि की प्रेरणा जिसमें न हो, जो कठोर निष्ठुर और परपीड़ाकारी प्रयोगों से रहित हो, व्रतशील आदि का उपदेश देने वाली हो, हित-मित-मधुर मनोहर और संयमी के योग्य हो, ऐसी वाक्यशुद्धि है । ८ । इस प्रकार संयम के अन्तर्गत आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ ।

कर्मक्षय के लिये जो तपा जाये वह तप है । वह तप दो प्रकार का है:—

ग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते ।।८।। ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं । उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यमित्याख्यायते । नास्य किंचनास्ति इत्यकिंचनः, तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम् ।।९।। अनुभूतांगनास्मरणतत्कथाश्रवण स्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं । मया अनुभूतांगना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीससक्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते । स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा ।।१०।। एवं दशधा धर्मः ।

द्वादशानुप्रेक्षाः कथ्यन्ते —अध्रुवाशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः । अथाध्रुवानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेनाविनश्वरस्वभावनिजपरमात्मद्रव्यादन्यद् भिन्नं यज्जीवसंबन्धे अशुद्धनिश्चयनयेन रागा-

---

बाह्य तप, अन्तरङ्ग तप । इनमें से प्रत्येक छह प्रकार का है ।।७।। परिग्रह की निवृत्ति त्याग है। चेतन-अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं अथवा संयमी के योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा गया है ।।८।। "यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग आकिंचन्य है अर्थात् जो शरीरादि प्राप्त परिग्रह हैं उनमें संस्कार न रहे, इसके लिये "यह मेरा है" इस अभिप्राय की निवृत्ति को आकिंचन्य के नाम से कहा गया है। जिसके कुछ भी (परिग्रह) नहीं है वह अकिंचन है उसका जो भाव अथवा कर्म उसे आकिंचन्य कहते हैं ।।९।। अनुभूत स्त्री का स्मरण, उसकी कथा का श्रवण तथा स्त्रीसंशक्त शय्या, आसन आदि स्थान के त्याग से ब्रह्मचर्य है अर्थात् "मैंने उस कलागुणविशारदा स्त्री को भोगा था" ऐसा स्मरण, उसकी पूर्व कथा का श्रवण एवं रतिकालीन सुगन्धित द्रव्यों की सुवास तथा स्त्रीसंसक्तशय्या आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये गुरु स्वरूप ब्रह्म जो शुद्ध आत्मा, उसमें चर्या होना ब्रह्मचर्य है ।।१०।। इस प्रकार दस धर्म हैं।

बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन किया जाता है—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—इनका चिन्तवन करना, अनुप्रेक्षा है। इनको विस्तार से कहते हैं—

अध्रुव अनुप्रेक्षा—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव से अविनाशी स्वभाव वाले निज परमात्म द्रव्य से भिन्न, अशुद्ध निश्चयनय से जो जीव के रागादि विभावरूप भावकर्म एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य-

दिविभावरूपं भावकर्म, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं च तथैव (उपचरितासद्-भूतव्यवहारेण) तत्स्वस्वामिभावसम्बन्धेन गृहीतं यच्चेतनं वनितादिकम्, अचेतनं सुवर्णादिकं, तदुभयमिश्रं चेत्युक्तलक्षणं तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम् । तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रय-भावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति । इत्यध्रुवानुप्रेक्षा गता ।।१।।

अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते—निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारि-कारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्त्तिसुभटकोटिभटपुत्रादि-चेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रासादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकाला-दौमहाटव्यां, व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव, महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम् ।

कर्म व शरीरादि नोकर्मरूप, तथा (उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से) उसके स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध से ग्रहण किये हुए स्त्री आदि चेतन द्रव्य, सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ, उक्त लक्षण वाले ये सब पदार्थ अध्रुव (नाश-वान) हैं; इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए । ऐसी भावना वाले पुरुष के, उन स्त्री आदि पदार्थों के वियोग होने पर भी, जूठे भोजन के समान, ममत्व नहीं होता । उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है । जैसी अविनश्वर आत्माको भाता है, वैसी ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार अध्रुव भावना है ।। १ ।।

अशरण अनुप्रेक्षा—निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो स्वशुद्धात्म द्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारी कारणभूत पंचपरमेष्ठियों की आराधना, ये दोनों शरण (रक्षक) हैं। उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र, तन्त्र, आज्ञा, प्रासाद (महल) और औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरण आदि के समय शरण नहीं होते; जैसे महावन में व्याघ्र से पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा महासमुद्र में जहाज से छूटे हुए पक्षी को कोई शरण नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए । अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर, आगामी भोगों की वांछारूप निदानबन्ध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुख रूप अमृत के

तद्विनाय भोगकांक्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतसालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति। इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥२॥

अथ संसारानुप्रेक्षा कथ्यते—शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण, शरीरपोषणार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यसंसारः। स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षेत्रप्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रसंसारः। स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय प्रत्येकंदशकोटाकोटिसागरोपमप्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारानयं जीवो यत्र न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः। अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिबलेन। सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय नारकतिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहित-

---

धारक निज-शुद्ध-आत्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्ध-आत्मा की भावना करता है। जैसी शरणभूत आत्माका यह चिन्तन करता है, वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज-शुद्धात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार **अशरण अनुप्रेक्षा** का व्याख्यान हुआ ॥२॥

संसारानुप्रेक्षा—शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न सपूर्व (पुराने), अपूर्व (नये) तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्यों को ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप से तथा शरीरपोषण के लिए भोजनपान आदि पांचों इन्द्रियों के विषय रूप से इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है, इस प्रकार **द्रव्यसंसार** है। निज-शुद्ध आत्म-द्रव्य सम्बन्धी जो सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न लोक-क्षेत्र के सर्व प्रदेशों में एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके, अनन्त बार यह जीव उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है। यह **क्षेत्रसंसार** है। निज-शुद्धात्म अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर (प्राप्त न करके) दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो, और मरा न हो ऐसा कोई भी समय नहीं है। इस प्रकार **कालसंसार** है। अभेद रत्नत्रयात्मक ध्यान के बल से सिद्धगति में निज-आत्मा की उपलब्धि रूप सिद्ध पर्याय रूप उत्पाद के सिवाय नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के भवों में निश्चय रत्नत्रय की भावना से रहित और

भोगाकांक्षानिदानपूर्वकद्रव्यतपश्चरणरूपजिनदीक्षाबलेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं, **सक्को सहग्गमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य । लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति । १ ।** इति गाथाकथित-पदानि तथागमनिषिद्धान्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादक-मिथ्यात्वरागादिभावसहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः।

अथ भावसंसारः कथ्यते । तद्यथा—सर्वजघन्यप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यमनो-वचनकायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टमनोवचनकायव्यापाररूपाणि तद्योग्य-श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वोत्कृष्टयोगस्थानानि च भवन्ति । तथैव सर्वजघन्य-स्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपति-तानि च भवन्ति । तथैव च सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टकषायाध्यवसायस्थानानि

भोग-वांछादि निदान सहित द्रव्यतपश्चरणरूप मुनिदीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक **प्रथम स्वर्ग का इन्द्र, प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लौकान्तिक देव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर निवृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।।१।।** गाथा में कहे हुए पदों को तथा आगम में निषिद्ध अन्य उत्तम पदों को छोड़ कर भवनाशक निज-आत्मा की भावना से रहित व संसार को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व व राग आदि भावों से सहित हुआ, यह जीव अनन्त बार जन्मा है और मरा है । इस प्रकार भवसंसार जानना चाहिए।

अब भावसंसार का कथन किया जाता है—सबसे जघन्य प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत सर्व जघन्य मन, वचन, काय के अवलम्बन से परिस्पन्द रूप, श्रेणी के असंख्यातवेंभाग प्रमाण तथा चार स्थानों में पतित (वृद्धि हानि), ऐसे सर्व जघन्य योगस्थान होते हैं । इसी प्रकार सर्व उत्कृष्ट प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत, सर्वोत्कृष्ट मन, वचन, काय के व्यापार रूप, यथायोग्य श्रेणी के असंख्यातवें-भाग प्रमाण, चार स्थानों में पतित सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं । इसी प्रकार सर्व जघन्य स्थितिबन्ध के कारणभूत, अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण, षट् स्थान वृद्धि-हानि में पतित सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं । इसी तरह सर्वोत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारणभूत सर्वोत्कृष्ट कषाय अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण और षट् स्थानों में पतित होते हैं । इसी प्रकार सबसे जघन्य अनुभागबन्ध के कारणभूत सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण

तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति। तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि भवन्ति। तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबंधनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि। तेनैव प्रकारेण स्वकीयस्वकीयजघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति। तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबंधस्थानानि च। तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानंतवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन, परं किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीनां सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव न लब्धानि। इति भावसंसारः।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्तिविनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन संसारविनाशक-

---

तथा षट् स्थान पतित हानिवृद्धि रूप होते हैं। इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट अनुभागबन्ध के कारण जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं वे भी असंख्यात लोकप्रमाण और षट् स्थान पतित जानने चाहिये। इसी प्रकार से अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्ट के बीच में तारतम्य से मध्यम भेद भी होते हैं। इसी तरह जघन्य से उत्कृष्ट तक ज्ञानावरण आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबन्ध स्थान हैं। उन सब में,[1] परमागम अनुसार, इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण किया, परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृति बन्ध आदि को सत्ता के नाश के कारण जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, उनको इस जीव ने प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार **भावसंसार** है।

इस प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार का चिन्तन करते हुए इस जीव के, संसार रहित निज शुद्ध आत्मज्ञान का नाश करने वाले तथा संसार को वृद्धि के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, उनमें परिणाम नहीं जाता, किन्तु वह संसारातीत (संसार में प्राप्त न होने वाला अतीन्द्रिय) सुख के अनुभव में लीन होकर, निज-शुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को

---

१. परन्तु तीर्थङ्कर व आहारकचतुष्टय जैसी प्रकृतियों के सब स्थिति-बन्ध-स्थानों में इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण नहीं किया यह ध्रुव सत्य है।

निजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति । ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति । अयं तु विशेषः—नित्यनिगोदजीवान् विहाय, पञ्चप्रकार-संसारव्याख्यानं ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत्—नित्यनिगोदजीवानां कालत्रयेऽपि त्रसत्वं नास्तीति । तथा चोक्तं—**अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो । भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति । १ ।** अनुपममद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिनः क्षपितकर्माण इन्द्रगोपाः संजातास्तेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिना पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते च केनचिदपि सह न वदन्ति । ततो भरतेन समवसरणे भगवान् पृष्टो, भगवता च प्राक्तनं वृत्तान्तं कथितम् । तच्छ्रुत्वा ते तपो गृहीत्वा

नष्ट करने वाले निज-निरञ्जन-परमात्मा में भावना करता है । तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है, उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से विलक्षण मोक्ष में अनन्तकाल तक रहता है । यहां विशेष यह है—नित्य निगोद के जीवों को छोड़कर, पंच प्रकार के संसार का व्याख्यान जानना चाहिये (नित्य-निगोदी जीव इस पंच प्रकार के संसार में परिभ्रमण नहीं करते); क्योंकि, नित्य निगोदवर्त्ती जीवों को तीन काल में भी त्रसपर्याय नहीं मिलती । सो कहा भी है—**ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसपर्याय को अभी तक प्राप्त ही नहीं किया वे भाव-कलंकों (अशुभ परिणामों) से भरपूर हैं, जिससे वे निगोद के निवास को कभी नहीं छोड़ते ।** किन्तु यह वृत्तान्त अनुपम और अद्वितीय है कि नित्य निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि नौ सौ तेईस जीव, कर्मों की निर्जरा (मन्द) होने से, इंद्रगोप (मखमली लाल कीड़े) हुए; उन सबके ढेर पर भरत के हाथी ने पैर रख दिया इससे वे मर कर, भरत के वर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए । वे पुत्र किसी के भी साथ नहीं बोलते थे । इसलिये भरत ने समवसरण में भगवान् से पूछा, तो भगवान् ने उन पुत्रों का पुराना सब वृत्तान्त कहा । उसको सुनकर उन सब वर्द्धनकुमारादि ने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े काल में मोक्ष चले गये । यह कथा आचाराराधना की टिप्पणी में कही

क्षणस्तोककालेन मोक्षं गताः। आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते। इति **संसारानुप्रेक्षा** गता। ३।

अथैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते। तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य जीवस्य निश्चयनयेन सहजानन्दसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैकं सहजं शरीरम्। शरीरं कोऽर्थः? स्वरूपं, न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम्। तथैवार्त्तरौद्रदुर्ध्यानविलक्षणपरमसामायिकलक्षणैकत्वभावनापरिणतं निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारी परमो बन्धु, न च विनश्वराहितकारी पुत्रकलत्रादिः। तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयमलक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारी परमोऽर्थः, न च सुवर्णाद्यर्थः। तथैव निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैक-

---

गई है।[1] इस प्रकार संसार अनुप्रेक्षा का व्याख्यान हुआ। ३।

अब एकत्व-अनुप्रेक्षा कहते हैं—निश्चयरत्नत्रय लक्षण वाली एकत्व भावना में परिणत इस जीव के निश्चयनय से स्वाभाविक आनन्द आदि अनन्त गुणों का आधाररूप केवलज्ञान ही एक स्वाभाविक शरीर है। यहां 'शरीर' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' है, न कि सात धातुओं से निर्मित औदारिक शरीर। इसी प्रकार आर्त्त और रौद्र दुर्ध्यानों से विलक्षण परमसामायिक रूप एकत्व भावना में परिणत जो एक अपना आत्मा है वही सदा अविनाशी और परम हितकारी व परम बन्धु है; विनश्वर व अहितकारी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि बन्धु नहीं हैं। उसी प्रकार परम उपेक्षा संयमरूप एकत्व भावना से सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है, वही एक अविनाशी तथा हित-

---

१. परन्तु भगवतीआराधना में निगोदों से सीधी मनुष्यपर्याय की प्राप्ति बताई है, बीच में इन्द्रगोप होने वाली बात भगवती आराधना टीकाकार के अनुसार नहीं है। यथा—

अनादिमिथ्यादृष्टयः भद्दणादया राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अत एवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः सिद्धाश्च दृष्टा आराधनासम्पादका............... [भ० आ० टीका गा० १७, विजयोदयाटीका अनु० पं० कैलाशचन्द्रजी सि० शास्त्री]

अर्थ—भद्दण आदि राजपुत्रों ने उसी भव में त्रस पर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में धर्म का सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया और क्षण मात्र में सिद्ध पद पाया। वहीं पर विशेषार्थ में लिखा है—अनादि काल से मिथ्यात्व का उदय होने से नित्यनिगोद पर्याय में रह कर भद्र-विवर्धन आदि ९२३ भरत चक्री के पुत्र हुए। और उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में धर्म सुनकर रत्नत्रय धारण किया और अल्पकाल में ही सिद्ध पद पाया। [पृ० ३९-४० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर]

इससे यह स्पष्ट होता है कि निगोद से आकर उसी भव से मोक्ष पाना सम्भव है।

लक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकुलत्वोत्पादकेन्द्रियसुखमिति । कस्मादिदं देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति चेत् ? यतो मरणकाले जीव एक एव गत्यन्तरं गच्छति न च देहादीनि । तथैव रोगव्याप्तिकाले विषयकषायादिदुर्ध्यानरहितः स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति । तदपि कथमिति चेत् ? यदि चरमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुखं दत्वा च पश्चात् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—**सग्ग तवेण सव्वो, वि पावए तहि वि झाणजोयेण । जो पावइ सो पावइ, परलोए सासयं सोक्खं । १ ।** एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्तव्या । **इत्येकत्वानुप्रेक्षा** गता ।।४।।

अथान्यत्वानुप्रेक्षां कथयति । तथा हि—पूर्वोक्तानि यानि देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि तथैव हेयभूतानि च, तानि सर्वाणि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन नित्या-

---

कारी परम अर्थ है, सुवर्ण आदि परम-अर्थ नहीं हैं । एवं निर्विकल्प-ध्यान से उत्पन्न निर्विकार परम-आनन्द-लक्षण, आकुलतारहित आत्म-सुख ही एक सुख है और आकुलता उत्पन्न करने वाला इन्द्रियजन्य जो सुख है वह सुख नहीं है । **शंका**—शरीर, बन्धुजन तथा सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि को निश्चयनय से जीव के लिये हेय क्यों कहे हैं ? **समाधान**—मरण समय यह जीव अकेला ही दूसरी गति में गमन करता है, देह आदि इस जीव के साथ नहीं जाते । तथा जब जीव रोगों से घिर जाता है तब विषय कषाय आदि रूप दुर्ध्यान से रहित एक—निजशुद्ध—आत्मा ही इसका सहायक होता है । **शंका**—वह कैसे सहायक होता है ? **समाधान**—यदि जीव का वह अन्तिम शरीर हो, तब तो केवलज्ञान आदि की प्रकटतारूप मोक्ष में ले जाता है और यदि अन्तिम शरीर न हो, तो वह संसार को स्थिति को कम करके देवेन्द्रादि सांसारिक सुख को देकर तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है । यह निष्कर्ष है । कहा भी है—**तप करने से स्वर्ग सब कोई पाते हैं, परन्तु ध्यान के योग से जो कोई स्वर्ग पाता है वह अग्रिम भव में अक्षय-सुख को प्राप्त करता है ।। १ ।।** इस तरह एकत्व भावना के फल को जान कर, सदा निज-शुद्धआत्मा में एकत्व रूप भावना करनी चाहिये । इस प्रकार **एकत्व अनुप्रेक्षा** समाप्त हुई ।।४।।

अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं—पूर्वोक्त देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय-सुख आदि कर्मों के अधीन हैं, इसी कारण विनाशशील तथा हेय भी हैं । इस कारण टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकरूप एकस्वभाव से नित्य, सब प्रकार उपादेयभूत निर्विकार-

त्सर्वप्रकारोपादेयभूतान्निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारस्वभावान्निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि । तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति । अयमत्र भावः—एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधि-रूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये, मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण । इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्यं तदेव । इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ।।५।।

अतः परं अशुचित्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—सर्वाशुचिशुक्रशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव "वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः" इत्युक्ताशुचिसप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्र-द्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरयं देहः । न केवल-मशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचिः, शुचि सुगन्धमाल्यवस्त्रादीनामशुचित्वो-त्पादकत्वाच्चाशुचिः । इदानीं शुचित्वं कथ्यते—सहजशुद्धकेवलज्ञानादिगुणानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचिः । जीवो बह्मा जीवह्मि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो ।

परम चैतन्य चित्–चमत्कार स्वभाव रूप जो निज-परमात्म पदार्थ है, निश्चयनय की अपेक्षा उससे वे सब देह आदि भिन्न हैं । आत्मा भी उनसे भिन्न है । भावार्थ यह है कि एकत्व अनुप्रेक्षा में तो 'मैं एक हूं' इत्यादि प्रकार से विधि रूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षा में 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूप से वर्णन है । इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि–निषेध रूप का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनों का एक ही है । ऐसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ।।५।।

इसके आगे अशुचित्व अनुप्रेक्षा कहते हैं—सब प्रकार से अपवित्र वीर्य और रज से उत्पन्न होने के कारण, 'वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि (हाड़), मज्जा और शुक्र धातु हैं, इन अपवित्र सात धातुमय होने से, नाक आदि नौ छिद्रद्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्ठा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है; किन्तु यह शरीर अपने संसर्ग से पवित्र-सुगन्ध-माला व वस्त्र आदि में भी अपवित्रता उत्पन्न कर देता है, इसलिये भी यह देह अशुचि है ।

अब पवित्रता को बतलाते हैं—सहज–शुद्ध केवलज्ञान आदि गुण का आधार होने से और निश्चय से पवित्र होने से यह परमात्मा ही शुचि है । जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो । इस

तं जाण बह्मचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए । १ । इति गाथाकथितनिर्मलब्रह्मचर्यं तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते । तथैव **ब्रह्मचारी सदा शुचिः** इतिवचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं न च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि । तथैव च—**जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते । श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः । १ ।** इतिवचनात्त एव निश्चयशुद्धाः ब्राह्मणाः । तथा चोक्तं नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं, न च लौकिकगङ्गादि-तीर्थे स्नानादिकम् । **आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः । तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा । १ ।** इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता ।।६।।

अत **ऊर्ध्वमास्रवानुप्रेक्षा** कथ्यते । समुद्रे सच्छिद्रपोतवदयं जीव इन्द्रियाद्यास्रवैः संसारसागरे पततीति वार्तिकम् । अतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसंवित्तिविलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि भण्यन्ते । परमोपशममूर्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादकाः क्रोधमानमायालोभकषाया अभिधीयन्ते । रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपायाः शुद्धात्मानुभूतेः प्रतिकूलानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहप्रवृत्तिरूपाणि

गाथा में कहा हुआ जो निर्मल ब्रह्मचर्य है, वह निज परमात्मा में स्थित जीवों को ही मिलता है । तथा **ब्रह्मचारी सदा पवित्र है** इस वचन से पूर्वोक्त प्रकार के ब्रह्मचारियों के ही पवित्रता है । जो काम, क्रोध आदि में लीन जीव हैं, उनके जल-स्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है । क्योंकि **जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत शास्त्र से श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिए । १ ।** इस आगम-वचनानुसार वे (परमात्मा में लीन) ही वास्तविक शुद्ध ब्राह्मण हैं । नारायण ने युधिष्ठिर से कहा भी है—**विशुद्ध आत्मा रूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गंगा आदि तीर्थों में स्नान करना शुचि का कारण नहीं है ।** 'संयम रूपी जल से भरी, सत्य रूपी प्रवाह शील रूप तट और दयामय तरङ्गों की धारक जो आत्मा रूप नदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! स्नान करो क्योंकि, अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता है ।।१।। इस प्रकार **अशुचित्व अनुप्रेक्षा** का वर्णन हुआ ।।६।।

अब आगे आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं । जैसे छेद वाली नाव समुद्र में डूबती है, उसी तरह इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा यह जीव संसार-समुद्र में गिरता है, यह वार्तिक है । अतीन्द्रिय निज-शुद्धात्मज्ञान से विलक्षण स्पर्शन, रसना, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । परम उपशम रूप परमात्म स्वभाव को क्षोभित करने वाले क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय कहे जाते हैं । राग आदि विकल्पों से रहित ऐसे शुद्ध-

पञ्चाव्रतानि । निष्क्रियनिर्विकारात्मतत्त्वाद्विपरीतो मनोवचनकायव्यापाररूपाः परमागमोक्ताः सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रियेत्यादिपञ्चविंशतिक्रियाः उच्यन्ते । इन्द्रियकषायाव्रतक्रियारूपास्रवाणां स्वरूपमेतद्विज्ञेयम् । यथा समुद्रेऽनेकरत्नभाण्डपूर्णस्य सच्छिद्रपोतस्य जलप्रवेशे पातो भवति, न च वेलापत्तनं प्राप्नोति । तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतस्य पूर्वोक्तास्रवद्वारैः कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति, न च केवलज्ञानाव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति । एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति ॥७॥

अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति । एवं संवरगत-

---

आत्मानुभव से प्रतिकूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों में प्रवृत्ति रूप पाँच अव्रत हैं । क्रिया रहित और निर्विकार आत्मतत्त्व से विपरीत मन वचन काय के व्यापार रूप, शास्त्र में कही हुई सम्यक्क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया आदि पच्चीस क्रियायें हैं ।[1] इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया रूप आस्रवों का स्वरूप जानना चाहिये । जैसे समुद्र में अनेक रत्नों से भरा हुआ छिद्र सहित जहाज उसमें जल के प्रवेश से डूब जाता है, समुद्र के किनारे पत्तन (नगर) को नहीं पहुंच पाता । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अमूल्य रत्नों से पूर्ण जीव रूपी जहाज, इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा कर्म रूपी जल का प्रवेश हो जाने पर, संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है । केवलज्ञान, अव्याबाध सुख आदि अनन्त गुणमय रत्नों से पूर्ण व मुक्ति स्वरूप वेलापत्तन (संसार-समुद्र के किनारे का नगर) को यह जीव नहीं पहुंच पाता इत्यादि प्रकार से आस्रवगत दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ॥७॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं । वही समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से जल के न घुसने पर निर्विघ्न वेलापत्तन को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव रूप छिद्रों के मुँद जाने पर कर्म रूप जल न घुस सकने से, केवलज्ञान आदि अनन्तगुण रत्नों से पूर्ण मुक्ति रूप वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है । ऐसे संवर के गुणों के चिन्तवन

---

१. नोट :—इन पच्चीस क्रियाओं के नाम व स्वरूप सर्वार्थसिद्धि ६।५ तथा रा० वा० ६।५।७-१२ । पृ० ५०९-१० से जानने चाहिए ।

गुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ।।८।।

अथ निर्जरानुप्रेक्षां प्रतिपादयति । यथा कोप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सत्याहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति । तेन च मलपाकेन मलानां पातने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति । तथायं भव्यजीवोऽप्यजीर्णजनकाहारस्थानीयमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधस्थानीयं जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादि-समभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिनवचनौषधं सेवते । तेन च कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति । किञ्च—यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुखं जातं तदजोर्णे गतेऽपि न विस्मरति ततश्चाजीर्णजनकाहारं परिहरति तेन च सर्वदैव सुखी भवति । तथा विवेकिजनोऽपि **आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति** इति वचनाद्दुखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते तान् दुःखे गतेऽपि न विस्मरति । ततश्च निजपरमात्मानुभूतिबलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिविभावपरिणाम-

---

रूप **संवर अनुप्रेक्षा** जाननी चाहिए ।।८।।

अब निर्जरानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्य के अजीर्ण होने से पेट में मल का जमाव हो जाने पर, वह मनुष्य आहार को छोड़कर मल को पचाने वाले तथा जठराग्नि को तीव्र करने वाले हरड़ आदि औषध को ग्रहण करता है । जब उस औषध से मल पक जाता है, गल जाता है अथवा पेट से बाहर निकल जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है । उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण उत्पन्न करने वाले आहार के स्थानभूत मिथ्यात्व–रागादि अज्ञान भावों से कर्म रूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व–राग आदि छोड़कर, जीवन–मरण में व लाभ–अलाभ में और सुख–दुःख आदि में समभाव को उत्पन्न करने वाला, कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्ध ध्यान-अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाला, जो परम औषध के स्थानभूत जिन-वचन रूप औषध है, उसका सेवन करता है, उससे कर्मरूपी मलों के गलन तथा निर्जरण हो जाने पर सुखी होता है । **विशेष**—जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्ण के समय जो कष्ट हुआ उसको अजीर्ण चले जाने पर भी नहीं भूलता और अजीर्ण पैदा करने वाले आहार को छोड़ देता है, जिससे सदा सुखी रहता है; उसी तरह ज्ञानी मनुष्य भी, **दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर होते हैं** इस वाक्यानुसार, दुःख के समय जो धर्म रूप परिणाम होते हैं उनको दुःख नष्ट हो जाने पर भी नहीं भूलता । तत्पश्चात् निज-परमात्म अनुभव के बल से निर्जरा के लिये देखे, सुने तथा अनुभव किए हुए भोग-वांछादि रूप विभाव परिणाम के त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों के साथ

परित्यागरूपैः संवेगवैराग्यपरिणामैर्वर्त्तत इति। संवेगवैराग्यलक्षणं कथ्यते— **धम्मे य धम्मफलह्मि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो। संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्गं। १।** इति निर्जरानुप्रेक्षा गता ॥ ६ ॥

अथ **लोकानुप्रेक्षां** प्रतिपादयति। तद्यथा—अनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधिघनवाततनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासंख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति। तस्याकारः कथ्यते—अधोमुखार्द्धमुरजस्योपरि पूर्णे मुरजे स्थापिते यादृशाकारो भवति तादृशाकारः, परं किन्तु मुरजो वृत्तो लोकस्तु चतुष्कोण इति विशेषः। अथवा प्रसारितपादस्य कटितटन्यस्तहस्तस्य चोर्ध्वस्थितपुरुषस्य यादृशाकारो भवति तादृशः। इदानीं तस्यैवोत्सेधायामविस्ताराः कथ्यन्ते—चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधस्तथैव दक्षिणोत्तरेण सर्वत्र सप्तरज्जुप्रमाणायामो भवति। पूर्वपश्चिमेन पुनरधोविभागे सप्तरज्जुविस्तारः। ततश्चाधोभागात् क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोक एकरज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। ततो मध्यलोकादूर्द्ध्वंक्रमवृद्ध्या वर्द्धते यावद् ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपञ्चकविस्तारो भवति। ततश्चोर्द्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकांते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। तस्यैव लोकस्य मध्ये पुनरुदूखलस्य मध्या-

---

रहता है। संवेग और वैराग्य का लक्षण कहते हैं— **धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है सो तो संवेग है; और संसार, देह तथा भोगों में जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है ॥१॥** ऐसे निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥६॥

अब **लोकानुप्रेक्षा** का प्रतिपादन करते हैं—वह इस प्रकार है—अनन्तानन्त आकाश के बिलकुल मध्य के प्रदेशों में, घनोदधि, घनवात, तनुवात नामक तीन पवनों से वेढ़ा हुआ, अनादि अनंत-अकृत्रिम-निश्चल-असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार बतलाते हैं—नीचे मुख किये हुए आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है; परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह अन्तर है। अथवा पैर फैलाये, कमर पर हाथ रखे, खड़े हुए मनुष्य का जैसा आकार होता है, वैसा लोक का आकार है। अब उस लोक की ऊँचाई-लम्बाई-विस्तार का निरूपण करते हैं—चौदह रज्जु प्रमाण ऊँचा तथा दक्षिण उत्तर में सब जगह सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम में नीचे के भाग में सात राजू विस्तार है, फिर उस अधोभाग से, क्रम से इतना घटता है कि मध्यलोक (बीच) में एक रज्जु रह जाता है फिर मध्यलोक से ऊपर क्रम से बढ़ता है सो ब्रह्मलोक नामक पंचम स्वर्ग के अन्त में पाँच रज्जु का विस्तार है, उसके ऊपर फिर घटता हुआ लोक के अन्त में जाकर एक रज्जु प्रमाण विस्तार वाला रह जाता है। इसी लोक के मध्य में, ऊखल के मध्य भाग से नीचे को ओर छिद्र करके एक बांस की नली रखी जावे,

धोभागे छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनालिकेव चतुष्कोणा त्रसनाडी भवति। सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्जूत्सेधा विज्ञेया। तस्यास्त्वधोभागे सप्तरज्जवोऽधोलोकसंबन्धिन्यः। ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्सेधसंबंधिलक्षयोजनप्रमाणमेरूत्सेधः सप्तरज्जव ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन्यः।

अतः परमधोलोकः कथ्यते। अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी। तस्या अधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमः संज्ञा षड्भूमयो भवन्ति। तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभृतं च तिष्ठति। रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम्। कस्यां पृथिव्यां कति नरकबिलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति—तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ८४००००० । अथ रत्नप्रभादिपृथिवीनां क्रमेण पिण्डस्य प्रमाणं कथयति। पिण्डस्य कोऽर्थः ? मन्दत्वस्य बाहल्यस्येति। अशीतिसहस्राधिकैकलक्षं तथैव द्वात्रि-

---

उसका जैसा आकार होता है उसके समान, एक चौकोर त्रसनाड़ी है, वह एक रज्जु लम्बी-चौड़ी और चौदह रज्जु ऊँची जाननी चाहिए। उस त्रस नाड़ी के नीचे के भाग के जो सात रज्जु हैं वे अधोलोक सम्बन्धी हैं। ऊर्ध्व भाग में, मध्य लोक की ऊंचाई सम्बन्धी लक्ष-योजन-प्रमाण सुमेरु की ऊंचाई सहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी हैं।

इसके आगे अधोलोक का कथन करते हैं—अधोभाग में सुमेरु की आधारभूत रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी है। उस रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे-नीचे एक-एक रज्जु प्रमाण आकाश जाकर क्रमशः शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महा तमःप्रभा नामक ६ भूमियां हैं। उनके नीचे भूमिरहित एक रज्जुप्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोद आदि पंच स्थावरों से भरा हुआ है। घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक जो तीन वातवलय हैं वे रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथिवी के आधारभूत हैं (रत्नप्रभा आदि पृथिवी इन तीनों वातवलयों के आधार से है) यह जानना चाहिए। किस पृथिवी में कितने (कुए सरीखे) नरक–बिल हैं, उनको यथाक्रम से कहते हैं—पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख तथा सातवीं पृथिवी में पांच, इस प्रकार सब मिलकर चौरासी लाख ८४००००० नरक–बिल हैं। अब रत्नप्रभा आदि भूमियों का पिंड प्रमाण क्रम से कहते हैं। यहां पिंड शब्द का अर्थ गहराई या मोटाई है। प्रथम पृथिवी का एक लाख अस्सी हजार, दूसरी का बत्तीस हजार, तीसरी का अट्ठाईस हजार, चौथी का चौबीस हजार, पांचवीं का बीस हजार,

शदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिविंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योजनानि ज्ञातव्यानि। तिर्यग्विस्तारस्तु चतुर्दिग्विभागे यद्यपि त्रसनाडयपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्तथापि त्रसरहितबहिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति। तथाचोक्तं **भुवामन्ते स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदिक्षु च।** अत्र विस्तारेण तिर्यग्विस्तारपर्यंतमन्द्रत्वेन मंदरावगाह्ययोजनसहस्रबाहल्या मध्यलोके या चित्रा पृथिवी तिष्ठति तस्या अधोभागे षोडशसहस्रबाहल्यः खरभागस्तिष्ठति। तस्मादप्यधश्चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्यः पङ्कभागः तिष्ठति। ततोऽप्यधोभागे अशीतिसहस्रबाहल्यो अब्बहुलभागस्तिष्ठतीत्येवं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिभेदा ज्ञातव्या। तत्र खरभागेऽसुरकुलं विहाय नवप्रकारभवनवासिदेवानां तथैव राक्षसकुलं विहाय सप्तप्रकारव्यन्तरदेवानां आवासा ज्ञातव्या इति। पङ्कभागे पुनरसुराणां राक्षसानां चेति। अब्बहुलभागे नरकास्तिष्ठन्ति।

तत्र बहुभूमिकाप्रासादवदधोऽधः सर्वपृथिवीषु स्वकीयस्वकीयबाहल्यात् सकाशादध उपरि चैकैकयोजनसहस्रं विहाय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति त्रयोदशैकादशनवसप्तपञ्चत्र्येकसंख्यानि,

---

छठी का सोलह हजार और सातवीं का आठ हजार योजन पिंड जानना चाहिये। उन पृथिवियों का तिर्यग् विस्तार चारों दिशाओं में यद्यपि त्रस नाड़ी की अपेक्षा से एक रज्जु प्रमाण है तथापि त्रसों से रहित जो त्रस नाड़ी के बाहर का भाग है वह लोक के अन्त तक है। सो ही कहा है—**अन्त को स्पर्श करती हुई भूमियों का प्रमाण सब दिशाओं में लोकान्त प्रमाण है।** अब यहां विस्तार की अपेक्षा तिर्यग् लोक पर्यन्त विस्तार वाली, गहराई (मोटाई) की अपेक्षा मेरु की अवगाह समान एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथिवी मध्य लोक में है। उस पृथिवी के नीचे सोलह हजार योजन मोटा खर भाग है। उस खर भाग के भी नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पङ्क भाग है। उससे भी नीचे के भाग में अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग है। इस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी खर भाग, पङ्क भाग और अब्बहुल भाग भेदों से तीन प्रकार की जाननी चाहिए। उनमें ही खर भाग में असुरकुमार देवों के सिवाय नौ प्रकार के भवनवासी देवों के और राक्षसों के सिवाय सात प्रकार के व्यन्तर देवों के निवास स्थान हैं। पङ्क भाग में असुर तथा राक्षसों का निवास है। अब्बहुल भाग में नरक हैं।

बहुत से खनों (मंजिलों) वाले महल के समान नीचे-नीचे सब पृथिवियों में अपनी-अपनी मोटाई में, नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़ कर, जो बीच का भाग है, उसमें पटल होते हैं। भूमि के क्रम से वे पटल पहली नरक पृथिवी में तेरह, दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात, पाँचवीं में पांच, छठी में तीन

तान्येव सर्वसमुदायेन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि पटलानि । पटलानि कोऽर्थः ? प्रस्तारा इन्द्रका अन्तर्भूमयः इति । तत्र रत्नप्रभायां सीमंतसंज्ञे प्रथमपटलविस्तारे नृलोकवत् यत्संख्येययोजनविस्तारवत् मध्यबिलं तस्येन्द्रकसंज्ञा । तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पंक्तिरूपेणासंख्येययोजनविस्ताराण्येकोनपञ्चाशद्बिलानि । तथैव विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पंक्तिरूपेण यान्यष्टचत्वारिंशद्बिलानि तान्यप्यसंख्यातयोजनविस्ताराणि । तेषामपि श्रेणीबद्धसंज्ञा । दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पंक्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत्कानिचित्संख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । इतीन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा नरका भवन्ति । इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं विज्ञेयम् । तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाशत्पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्वष्टकश्रेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत् सप्तमपृथिव्यां चतुर्दिग्भागेष्वेकं बिलं तिष्ठति ।

रत्नप्रभादिनारकदेहोत्सेधः कथ्यते । प्रथमपटले हस्तत्रयं ततः क्रमवृद्धिवशात्त्रयोदशपटले

और सातवीं में एक, ऐसे सब ४९ पटल हैं । 'पटल' का क्या अर्थ है ? पटल का अर्थ प्रस्तार, इन्द्रक अथवा अन्तर भूमि है । रत्नप्रभा प्रथम पृथिवी के सीमन्त नामक पहले पटल में ढाई द्वीप के समान संख्यात (पैंतालीस लाख) योजन विस्तार वाला जो मध्य-बिल है, उसकी इन्द्रक संज्ञा है । उस इन्द्रक की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में असंख्यात योजन विस्तार वाले ४९ बिल हैं और इसी प्रकार चारों विदिशाओं में से प्रत्येक विदिशा में पंक्ति रूप जो ४८-४८ बिल हैं, वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं । (इन्द्रक-बिल की दिशा और विदिशाओं में जो पंक्ति रूप बिल हैं) उनकी 'श्रेणीबद्ध' संज्ञा है । चारों दिशाओं और विदिशाओं के बीच में, पंक्ति के बिना, बिखरे हुए पुष्पों के समान, संख्यात योजन तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले जो बिल हैं, उनकी 'प्रकीर्णक' संज्ञा है । ऐसे इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक रूप से तीन प्रकार के नरक हैं । इस प्रकार प्रथम पटल का व्याख्यान जानना चाहिये । इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथिवियों में उनचास पटल हैं उनमें भी बिलों का ऐसा ही क्रम है; किन्तु प्रत्येक पटल में, आठों दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवीं पृथिवी में चारों दिशाओं में एक-एक बिल ही रह जाता है ।

रत्नप्रभादि पृथिवियों के नारकियों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं—प्रथम पटल में तीन हाथ की ऊँचाई है और यहां से क्रम-क्रम से बढ़ते हुए तेरहवें पटल में सात धनुष, तीन हाथ और ६ अंगुल की ऊँचाई है । तदनन्तर दूसरी आदि पृथिवियों

सप्तचापानि हस्तत्रयमङ्गुलषट्कं चेति। ततो द्वितीयपृथिव्यादिषु चरमेन्द्रकेषु द्विगुणद्विगुणे क्रियमाणे सप्तमपृथिव्यां चापशतपञ्चकं भवति। उपरितने नरके य उत्कृष्टोत्सेधः सोऽधस्तने नरके विशेषाधिको जघन्यो भवति, तथैव पटलेषु च ज्ञातव्यः। आयुःप्रमाणं कथ्यते। प्रथमपृथिव्यां प्रथमे पटले जघन्येन दशवर्षसहस्राणि तत आगमोक्तक्रमवृद्धिवशादन्तपटले सर्वोत्कर्षेणैकसागरोपमम्। ततः परं द्वितीयपृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममुत्कृष्टजीवितम्। यच्च प्रथमपृथिव्यामुत्कृष्टं तद्द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं, तथैव पटलेषु च। एवं सप्तमपृथिवीपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयविलक्षणैस्तीव्रमिथ्यात्वदर्शनज्ञानचारित्रैः परिणतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियसरटपक्षिसर्पसिंहस्त्रीणां क्रमेण रत्नप्रभादिषु षट्पृथिवीषु गमनशक्तिरस्ति सप्तम्यां तु

के अन्त के इंद्रक बिलों में दूनी-दूनी वृद्धि करने से सातवीं पृथिवी में पाँचसौ धनुष की ऊंचाई होती है। ऊपर के नरक में जो उत्कृष्ट ऊंचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के नरक में जघन्य ऊंचाई है। इसी प्रकार पटलों में भी जानना चाहिये। नारकी जीवों की आयु का प्रमाण कहते हैं। प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल में जघन्य दस हजार वर्ष की आयु है; तत्पश्चात् आगम में कहे हुए क्रमानुसार वृद्धि से अन्त के तेरहवें पटल में एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर क्रम से दूसरी पृथिवी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दस सागर, पांचवीं में सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तेंतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। जो पहली पृथिवी में उत्कृष्ट आयु है, उससे एक समय अधिक दूसरी में जघन्य आयु है। इसी तरह जो पहले पटल में उत्कृष्ट आयु है सो दूसरे में समयाधिक जघन्य है। ऐसे ही सातवीं पृथिवी तक जानना चाहिये। निजशुद्ध-आत्मानुभव रूप निश्चय रत्नत्रय से विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं, उनसे परिणत असंज्ञी पंचेन्द्रिय, सरट (गोह आदि), पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री की क्रम से रत्नप्रभादि छह पृथिवियों तक जाने की शक्ति है (असैनी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमि तक, सरट (गोह) दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पांचवीं तक तथा स्त्री का जीव छठी भूमि तक जा सकता है), और सातवीं पृथिवी में कर्मभूमि के उत्पन्न हुए मनुष्य और मगर-मच्छ ही जा सकते हैं।[१] विशेष—यदि कोई जीव निरन्तर नरक में जाता है तो प्रथम

---

१. (i) तत्त्वार्थसार २।१४७ में भी ऐसा ही लिखा है।

(ii) इतना विशेष है कि सातवीं पृथ्वी में १५ कर्म भूमियों के साथ कर्म भूमि प्रतिभाग (स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न) के जीव भी जाते हैं। धवल पु० ११ प्रस्ता० पृष्ठ १० तथा मूल पृष्ठ ११३–११४।

कर्मभूमिजमनुष्याणां मत्स्यानामेव । किञ्च—यदि कोऽपि निरन्तरं नरके गच्छति तदा पृथिवीक्रमेणाऽष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यवारानेव । किन्तु सप्तमनरकादागताः पुनरप्येकवारं तत्रान्यत्र वा नरके गच्छन्तीति नियमः । नरकादागता जीवा बलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवचक्रवर्तिसंज्ञाः शलाकापुरुषाः न भवन्ति । चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमनरकेभ्यः समागताः क्रमेण तीर्थंकरचरमदेहभावसंयतश्रावका न भवन्ति । तर्हि किं भवन्ति ? **णिरयादो णिस्सरिदो णरतिरिए कम्मसण्णिपज्जत्ते । गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमणिरयादु तिरिएव । १ ।**

इदानीं नारकदुःखानि कथ्यन्ते । तद्यथा—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानभावनोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरहितैः पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपार्जितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके समुत्पद्य पृथिवीचतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चम्यां पुनरुपरितन – त्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे तीव्र–शीत–दुःखं,

---

पृथिवी में आठ बार, दूसरी में सात बार, तीसरी में छह बार, चौथी में पाँच बार, पाँचवीं में चार बार, छठी में तीन बार और सातवीं में दो बार ही जा सकता है। किन्तु सातवें नरक से आये हुए जीव फिर एक बार उसी या अन्य किसी नरक में जाते हैं, ऐसा नियम है।[1] नरक से आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नामक शलाकापुरुष नहीं होते। चौथे नरक से आये हुए जीव तीर्थङ्कर, पांचवें से आये हुए जीव चरम शरीरी, छठे से आये हुए जीव भावलिंगी मुनि और सातवें से आये हुए जीव श्रावक नहीं होते। तो क्या होते हैं ? **नरक से आये हुए जीव, कर्मभूमि में संज्ञी, पर्याप्त तथा गर्भज मनुष्य या तिर्यंच होते हैं। सातवें नरक से आये हुए तिर्यंच ही होते हैं ॥१॥**

अब नारकियों के दुःखों का कथन करते हैं। यथा—विशुद्धज्ञान, दर्शनस्वभाव निज शुद्ध परमात्म तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–आचरण की भावना से समुत्पन्न निर्विकार-परम-आनन्दमय सुख रूपी अमृत के आस्वाद से रहित और पांच इन्द्रियों के विषय सुखास्वाद में लम्पट, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों ने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि पापकर्म उपार्जन किया है, उसके उदय से वे नरक में उत्पन्न होते हैं। वहां पहले की चार पृथिवियों में तीव्र गर्मी का दुःख और पांचवीं पृथिवी के ऊपरी तीव्र

---

१. हरिवंशपुराण ४।३७६ में भी लिखा है कि—यह नियम है कि सातवें नरक से निकल कर संज्ञी तिर्यञ्च ही होता है और वह संख्यात वर्ष की आयु पाकर फिर नरक जाता है।

षष्ठीसप्तम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति । तथैव छेदनभेदनक्रकचविदारणयंत्रपीडनशूलारोहणादि-तीव्रदुःखं सहंते तथाचोक्तं—**अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुःखमेव अणुबद्धं । णिरये णेरयियाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ।** १ । प्रथमपृथिवीत्रयपर्यन्तमसुरोदीरितं चेति । एवं ज्ञात्वा, नारकदुःख-विनाशार्थं भेदाभेदरत्नत्रयभावना कर्तव्या । संक्षेपेणाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।

अतः परं तिर्यक्लोकः कथ्यते—जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः लवणो दादिशुभनामानः समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्वं पूर्वं परिवेष्टय वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तास्तिर्यग्विस्तारेण विस्तीर्णास्तिष्ठन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग् लोको भण्यते, मध्यलोकाश्च । तद्यथा—तेषु सार्द्धतृतीयो-द्धारसागरोपमलोमच्छेदप्रमितेष्वसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपस्तिष्ठति । स च जम्बूवृक्षोपलक्षितो

चौथाई भाग में तीव्र उष्णता का दुःख और नीचे के एक चौथाई भाग में तीव्र शीत का दुःख तथा छठी और सातवीं पृथिवी में अत्यन्त शीत के दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोती से चीरने, घानी में पेलने और शूली पर चढ़ाने आदिरूप तीव्र दुःख सहन करते हैं। सो ही कहा है कि **नरक में रात–दिन दुःख–रूप अग्नि में पकते हुए नारकी जीवों को नेत्रों के टिमकार मात्र भी सुख नहीं है, किन्तु सदा दुःख ही लगा रहता है** ॥१॥ पहली तीन पृथिवियों तक, असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख भी सहते हैं। ऐसा जान कर, नरक-सम्बन्धी दुःख के नाश के लिये भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार संक्षेप से अधोलोक का व्याख्यान जानना चाहिए।

इसके अनन्तर तिर्यग् लोक का वर्णन करते हैं। अपने दूने-दूने विस्तार से पूर्व-पूर्व द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप इस क्रम से बेढ़ करके, गोल आकार वाले जम्बू द्वीप आदि शुभ नामों वाले द्वीप और लवणोदधि आदि शुभ नामों वाले समुद्र; स्वयम्भूरमण समुद्र तक तिर्यग् विस्तार से फैले हुए हैं। इस कारण इसको तिर्यग् लोक या मध्य लोक भी कहते हैं। वह इस प्रकार है—साढ़े तीन उद्धार सागर प्रमाण

मध्यभागस्थितमेरुपर्वतसहितो वृत्ताकारलक्षयोजनप्रमाणस्तद्द्विगुणविष्कम्भेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि लवणसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षचतुष्टयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टितः। सोऽपि धातकीखण्डद्वीपस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनाष्टलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि कालोदकसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण षोडशयोजनलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टितः। इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्यः। यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुदयाद्योजनलक्षत्रयप्रमितात्सकाशाद्धातकीखण्ड एकलक्षेणाधिकस्तथैवासंख्येय-

---

लोमों (बालों) के टुकड़ों के बराबर जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं;[1] उनके बीच में जंबू द्वीप है; वह जम्बू (जामुन) के वृक्ष से चिह्नित तथा मध्य भाग में स्थित सुमेरु पर्वत सहित है; गोलाकार एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले दो लाख योजन प्रमाण गोलाकार लवण समुद्र से वेष्टित (बेढ़ा हुआ) है। वह लवण-समुद्र भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले चार लाख योजन प्रमाण गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप से वेष्टित है। वह धातकीखण्ड द्वीप भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले आठ लाख योजन प्रमाण गोलाकार कालोदक समुद्र से वेष्टित है। वह कालोदक समुद्र भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले सोलह लाख योजन प्रमाण गोलाकार पुष्कर द्वीप से वेष्टित है। इस प्रकार यह दूना-दूना विस्तार स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना चाहिये। जैसे जम्बूद्वीप एक लाख योजन और लवणसमुद्र दो लाख योजन चौड़ा है, इन दोनों

---

१. यहां साढ़े तीन उद्धार सागर प्रमाण रोम खण्ड के बराबर द्वीपसमुद्र बताये हैं। परन्तु जहां तक मुझे विदित है, ढाई उद्धार सागर प्रमाण (यानी २५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्य प्रमाण) ही द्वीप सागरों की संख्या देखने में आई है। सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि—

"अर्द्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः"

[स० सि० ३।३८]

यही का यही कथन राजवार्तिक ३।३८।७।२०८ में भी है। एवमेव, 'यानी ढाई उद्धार सागर प्रमाण ही द्वीप समुद्र हैं', यह बात गो० क०, प्रस्ता० पृ० ८ [श्रीमद् रायचन्द जैन शास्त्रमाला], गो० जी० गा० ११८ की भूमिका, पर्याप्ति प्ररूपणा० पृ० २३८ (ज्ञानपीठ प्रकाशन), रा० वा० हिन्दीसार पृ० ३६८ [पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य], ह० पु० ७।५१, श्लोकवार्तिक ५।३९३ (दो बार), व पृ० ३९६, सिद्धान्तसार दीपक ४।११, रा० वा० ३।७।२।१७० आदि ग्रन्थों में लिखी है। अतः बृहद्द्रव्यसंग्रह के "सार्द्धतृतीय" इस शब्द की जगह 'अर्द्धतृतीय' पाठ उचित प्रतीत होता है।

द्वीपसमुद्रविष्कम्भेभ्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः। एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्ये द्वीपसमुद्रेषु व्यन्तरदेवानां पर्वताद्युपरिगता आवासाः, अधोभूभागगतानि भवनानि तथैव द्वीपसमुद्रादिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणाणि। तथैव खरभागपङ्कभागस्थितप्रतरासंख्येयभागप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासाः, तथैव द्वासप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसम्बन्धिभवनानि अकृत्रिमजिनचैत्यालयसहितानि भवन्ति। एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः।

अथ तिर्यग्लोकमध्यस्थितो मनुष्यलोको व्याख्यायते – तन्मध्यस्थितजम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि भण्यन्ते। दक्षिणदिग्विभागादारभ्य भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतसंज्ञानि सप्तक्षेत्राणि भवन्ति। क्षेत्राणि कोऽर्थः ? वर्षा वंशा देशा जनपदा इत्यर्थः। तेषां क्षेत्राणां विभागकारकाः षट् कुलपर्वताः कथ्यन्ते—दक्षिणदिग्भागमादीकृत्य हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिसंज्ञा भरतादिसप्तक्षेत्राणामन्तरेषु पूर्वापरायताः षट् कुलपर्वताः भवन्ति। पर्वता इति कोऽर्थः। वर्षधरपर्वत

का समुदाय तीन लाख योजन है; उससे एक लाख योजन अधिक अर्थात् चार लाख योजन धातकीखण्ड है। इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों के विष्कंभ का जो योग है उससे एक लाख योजन अधिक स्वयंभूरमण समुद्र का विष्कम्भ जानना चाहिए। ऐसे पूर्वोक्त लक्षण के धारक असंख्यात द्वीप समुद्रों में पर्वत आदि के ऊपर व्यन्तर देवों के आवास; नीचे की पृथिवी के भाग में भवन और द्वीप तथा समुद्र आदि में पुर हैं इन आवास; भवन तथा पुरों के परमागमानुसार भिन्न-भिन्न लक्षण हैं। इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि के खर भाग और पङ्क भाग में स्थित प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्य व्यन्तर देवों के आवास हैं तथा सात करोड़ बहत्तर लाख भवनवासी देवों के भवन अकृत्रिम जिन चैत्यालयों सहित हैं। इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से मध्यलोक का व्याख्यान किया।

अब तिर्यग् लोक के बीच में स्थित मनुष्य लोक का व्याख्यान करते हैं। उस मनुष्यलोक के बीच में स्थित जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। दक्षिण दिशा से आरम्भ होकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामक सात क्षेत्र हैं। क्षेत्र का क्या अर्थ है ? यहां क्षेत्र शब्द से वर्ष; वंश; देश अथवा जनपद अर्थ का ग्रहण है। उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचल हैं। दक्षिण दिशा की ओर से उनके नाम हिमवत् १, महाहिमवत् २, निषध ३, नील ४, रुक्मी ५ और शिखरी ६ हैं। पूर्व-पश्चिम लम्बे ये पर्वत उन भरत आदि सप्त क्षेत्रों के बीच में हैं। पर्वत का क्या अर्थ है ? पर्वत का अर्थ वर्षधर पर्वत अथवा सीमा पर्वत है। उन पर्वतों के

सीमापर्वता इत्यर्थः । तेषां पर्वतानामुपरि क्रमेण ह्रदा कथ्यन्ते । पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा षट् ह्रदा भवन्ति । ह्रदा इति कोऽर्थः ? सरोवराणीत्यर्थः । तेभ्यः पद्मादिषड्ह्रदेभ्यः सकाशादागमकथितक्रमेण निर्गता याश्चतुर्दशमहानद्यस्ताः कथ्यन्ते । तथाहि—हिमवत्पर्वतस्थपद्मनाममहाह्रदादर्धक्रोशावगाहक्रोशाधिकषट्योजन[1] प्रमाणविस्तारपूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिग्विभागेन योजनशतपञ्चकम् गच्छति ततो गङ्गाकूटसमीपे दक्षिणेन व्यावृत्य भूमिस्थकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण निर्गत्य भरतक्षेत्रमध्यभागस्थितस्य दीर्घत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्पर्शिनो विजयार्द्धस्य गुहाद्वारेण निर्गत्य, तत आर्यखण्डार्द्धभागे पूर्वेण व्यावृत्य प्रथमावगाहापेक्षया दशगुणेन गव्यूतिपञ्चकावगाहेन तथैव प्रथमविष्कम्भापेक्षया दशगुणेन योजनार्द्धसहितद्विषष्टियोजनप्रमाणविस्तारेण च पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा गङ्गा । तथा गङ्गावत्सिन्धुरपि तस्मादेव हिमवत्पर्वतस्थपद्मह्रदात्पर्वतस्यैवोपरि पश्चिमद्वारेण निर्गत्य पश्चाद्दक्षिणदिग्विभागेनागत्य विजयार्द्धगुहाद्वारेण निर्गत्यार्यखण्डार्द्धभागे पश्चिमेन व्यावृत्य पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टेति । एवं दक्षिणदिग्विभागसमागत-

---

ऊपर ह्रदों का क्रम से कथन करते हैं । पद्म १, महापद्म २, तिगिंछ ३, केसरी ४, महापुंडरीक ५ और पुंडरीक ६ ये अकृत्रिम छह ह्रद हैं । ह्रद का क्या अर्थ है ? ह्रद का अर्थ सरोवर है । उन पद्म आदि ६ ह्रदों से आगम में कहे क्रमानुसार जो चौदह महानदियां निकली हैं, उनका वर्णन करते हैं । तथा—हिमवत् पर्वत पर स्थित पद्म नामक महाह्रद के पूर्व तोरण द्वार से, अर्ध कोस प्रमाण गहरी और एक कोस अधिक छह योजन प्रमाण चौड़ी गंगा नदी निकलकर, उसी हिमवत् पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा में पांच सौ योजन तक जाती है; फिर वहां से गङ्गाकूट के पास दक्षिण दिशा को मुड़कर, भूमि में स्थित कुण्ड में गिरती है, वहाँ से दक्षिण द्वार से निकलकर, भरत क्षेत्र के मध्य भाग में स्थित तथा अपनी लम्बाई से पूर्व पश्चिम समुद्र को छूने वाले विजयार्द्ध पर्वत की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखण्ड के अर्द्ध भाग में पूर्व को घूमकर पहली गहराई की अपेक्षा दसगुणी अर्थात् ५ कोस गहरी और इसी प्रकार पहली चौड़ाई से दस गुणी अर्थात् साढ़े बासठ योजन चौड़ी गङ्गा नदी पूर्व समुद्र में प्रवेश करती है । इस गंगा की भांति सिन्धु नामक महानदी भी उसी हिमवत् पर्वत पर विद्यमान पद्म ह्रद के पश्चिम द्वार से निकलकर पर्वत पर ही गमन करके फिर दक्षिण दिशा को आकर विजयार्द्ध की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखण्ड के अर्धभाग में पश्चिम को मुड़कर पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है । इस प्रकार दक्षिण दिशा को

---

१. 'क्रोशार्धाधिक षट् योजन' इति पाठान्तरम् ।

गङ्गासिन्धुभ्यां पूर्वापरायतेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतं भरतक्षेत्रम् ।

अथ महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्मह्रदाद्दक्षिणदिग्विभागेन हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थनाभिगिरिपर्वतं योजनार्द्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धं प्रदक्षिणं कृत्वा रोहित्पूर्वसमुद्रम् गता । तथैव हिमवत्पर्वतस्थितपद्मह्रदादुत्तरेणागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धं प्रदक्षिणं कृत्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं गता । इति रोहिद्रोहितास्यासज्ञं नदीद्वन्द्वं हैमवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । अथ निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छनामह्रदाद्दक्षिणनागत्य नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरित्पूर्वसमुद्रम् गता । तथैव महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्मनामह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरिकान्तानामनदी पश्चिमसमुद्रम् गता । इति हरिद्धरिकांतासंज्ञं नदीद्वयं हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे विज्ञेयम् । अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिनामह्रदाद्दक्षिणेनागत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रे मध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनस्य मध्येन पूर्वविदेहस्य च मध्येन शीताना-

---

आई हुई गंगा और सिन्धु दो नदियों से और पूर्व–पश्चिम लम्बे विजयार्द्ध पर्वत से भरत क्षेत्र छह खण्ड वाला किया गया है अर्थात् भरत के छह खण्ड हो जाते हैं ।

महाहिमवत् पर्वत पर स्थित महापद्म नामक ह्रद के दक्षिण दिशा की ओर से हैमवत् क्षेत्र के मध्य में आकर, वहां पर स्थित नाभिगिरि पर्वत को आधा योजन से न छूती हुई (पर्वत से आधा योजन दूर रहकर), उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करती हुई रोहितनामा नदी पूर्व समुद्र को गई है । इसी प्रकार रोहितास्या नदी हिमवत् पर्वत के पद्म ह्रद से उत्तर को आकर, उसी नाभिगिरि से आधा योजन दूर रहती हुई, उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पश्चिम समुद्र में गई है । इस प्रकार रोहित और रोहितास्या नामक दो नदियां हैमवत् नामक जघन्य भोगभूमि के क्षेत्र में जाननी चाहिए । हरित नदी निषध पर्वत के तिगिंछ ह्रद से दक्षिण को आकर नाभिगिरि पर्वत से आधे योजन दूर रहकर उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पूर्व समुद्र में गई है । इसी तरह हरिकान्ता नदी महाहिमवत् पर्वत के महापद्म ह्रद से उत्तर दिशा की ओर आकर, उसी नाभिगिरि को आधे योजन तक न स्पर्शती हुई अर्ध प्रदक्षिणा देकर, पश्चिम समुद्र में गई है । ऐसे हरित् और हरिकान्ता नामक दो नदियां हरि नामक मध्य-भोग-भूमि क्षत्र में हैं । शीता नदी नील पर्वत के केसरी ह्रद से दक्षिण को आकर, उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि क्षेत्र के बीच में होकर, मेरु के पास आकर, गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु को प्रदक्षिणा से आधे योजन तक दूर रह

-मनदी पूर्वसमुद्रं गता । तथैव निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य देवकुरुसंज्ञोत्तम-भोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पश्चिमभद्रशालवनस्य मध्येन पश्चिमविदेहस्य च मध्येन शीतोदा पश्चिमसमुद्रं गता । एवं शीताशीतोदासंज्ञं नदीद्वयं विदेहाभिधाने कर्मभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । यत्पूर्वं गङ्गासिन्धुनदीद्वयस्य विस्तारावगाहप्रमाणं भणितं तदेव क्षेत्रे क्षेत्रे नदीयुगलं प्रति विदेहपर्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं ज्ञातव्यम् । अथ गंगा चतुर्दशसहस्र-परिवारनदीसहिता, सिन्धुरपि तथा, तद्द्विगुणसंख्यानं रोहिद्रोहितास्याद्वयम्, ततोऽपि द्विगुण-संख्यानं हरिद्धरिकान्ताद्वयम्, तद्द्विगुणं शीताशीतोदाद्वयमिति । तथा षड्विंशत्यधिकयोजनशत-पञ्चकमेकोनविंशतिभागी-कृतैकयोजनस्य भागषट्कं च यद्दक्षिणोत्तरेण कर्मभूमिसंज्ञभरतक्षेत्रस्य विष्कम्भप्रमाणं, तद्द्विगुणं हिमवत्पर्वते, तस्माद्द्विगुणं हैमवतक्षेत्र, इत्यादि द्विगुणं द्विगुणं विदेहपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । तथा पद्मह्रदो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो दशयोजनावगाहो योजनैकप्रमाणपद्म-विष्कम्भस्तस्मान्महापद्मे द्विगुणस्तस्मादपि तिगिंछे द्विगुण इति ।

कर, पूर्व भद्रशालवन और पूर्व विदेह के मध्य में होकर, पूर्व समुद्र को गई है । इसी प्रकार शीतोदा नदी निषधपर्वत के तिगिंछह्रद से उत्तर को आकर, देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि क्षेत्र के बीच में से जाकर मेरु के पास गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन दूर रह कर, पश्चिम भद्रशालवन के और पश्चिम विदेह के मध्य में गमन करके, पश्चिम समुद्र को गई है । ऐसे शीता और शीतोदा नामक नदियों का युगल विदेह नामक कर्मभूमि के क्षेत्र में जानना चाहिये । जो विस्तार और अवगाह का प्रमाण पहले गंगा-सिंधु नदियों का कहा है, उससे दूना-दूना विस्तार आदि, प्रत्येक क्षेत्र में, नदियों के युगलों का विदेह तक जानना चाहिये । गंगा चौदह हजार परिवार की नदियों सहित है । इसी प्रकार सिन्धु भी चौदह हजार नदियों को धारक है । इनसे दूनी परिवार नदियों की धारक रोहित व रोहितास्या है । हरित-हरिकान्ता का इससे भी दूना परिवार है । शीता-शीतोदा दोनों नदियों का इनसे भी दूना परिवार है । दक्षिण से उत्तर को पांच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग प्रमाण कर्मभूमि संज्ञक भरत क्षेत्र का विष्कम्भ है । उससे दूना हिमवत्पर्वत का, हिमवत् पर्वत से दूना हैमवत क्षेत्र का, ऐसे दूना-दूना विष्कम्भ विदेह क्षत्र तक जानना चाहिये । पद्मह्रद एक हजार योजन लम्बा, उस से आधा (पांच सौ योजन) चौड़ा और दस योजन गहरा है, उसमें एक योजन का कमल है, उससे दूना महापद्म ह्रद में और उससे दूना तिगिंछ ह्रद में जानना ।

अथ यथा भरते हिमवत्पर्वतान्निर्गतं गङ्गासिन्धुद्वयं, तथोत्तरे कर्मभूमिसंज्ञैरावतक्षेत्रे शिखरिपर्वतान्निर्गतं रक्तारक्तोदानदीद्वयम्। यथा च हैमवतसंज्ञे जघन्यभोगभूमिक्षेत्रे महाहिमवद्धिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं रोहितरोहितास्यानदीद्वयं, तथोत्तरे हैरण्यवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे शिखरिरुक्मिसंज्ञपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं सुवर्णकूलारूप्यकूलानदीद्वयम्। तथैव यथा हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्र निषधमहाहिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं हरिद्धरिकान्तानदीद्वयं, तथोत्तरे रम्यकसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे रुक्मिनीलनामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं नारीनरकान्तानदीद्वयमिति विज्ञेयम्। सुषमसुषमादिषट्कालसंबंधिपरमागमोक्तायुरुत्सेधादिसहिता दशसागरोपमकोटिप्रमितावसर्पिणी तथोत्सर्पिणी च यथा भरते वर्त्तते तथैवैरावते च। अयन्तु विशेषः, भरतैरावतम्लेच्छखण्डेषु विजयार्धनगेषु च चतुर्थकालसमयाद्यन्ततुल्यकालोऽस्ति नापरः। किं बहुना, यथा खट्वाया एकभागे ज्ञाते द्वितीयभागस्तथैव

जैसे भरतक्षेत्र में हिमवत् पर्वत से गंगा तथा सिन्धु ये दो नदियां निकलती हैं वैसे ही उत्तर दिशा में कर्मभूमिसंज्ञक ऐरावत क्षेत्र में शिखरी पर्वत से निकली हुई रक्ता तथा रक्तोदा नामक दो नदियां हैं। जैसे हैमवत नामक जघन्य भोगभूमि क्षेत्र में महाहिमवत् और हिमवत् नामक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई रोहित तथा रोहितास्या, ये दो नदियां हैं, इसी प्रकार उत्तर में हैरण्यवत नामक जघन्य भोगभूमि में, शिखरी और रुक्मी नामक पर्वतों से क्रमशः निकली हुई सुवर्णकूला तथा रूप्यकूला, ये दो नदियां हैं। जिस तरह हरि नामक मध्यम भोगभूमि में, निषध और महाहिमवन पर्वतों से क्रमशः निकली हुई हरित–हरिकान्ता, ये दो नदियां हैं, उसी तरह उत्तर में रम्यक नामक मध्यम भोगभूमि–क्षेत्र में रुक्मी और नील संज्ञक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई नारी-नरकान्ता दो नदियां जाननी चाहिये। सुषमसुषमा आदि छहों कालों सम्बन्धी आयु तथा शरीर की ऊँचाई आदि परमागम में कही गई है, उन सहित, दस-कोटाकोटिसागर प्रमाण, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल भरत जैसे ही ऐरावत में भी होते हैं। इतना विशेष है कि भरत ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्ध पर्वतों में चतुर्थ काल की आदि तथा अन्त के समान काल वर्तता है, अन्य काल नहीं वर्तता।[१] विशेष क्या कहें, जैसे खाट का एक भाग जान लेने पर उसका दूसरा भाग भी उसी प्रकार समझ लिया जाता है; उसी तरह जम्बूद्वीप के क्षेत्र, नदी, पर्वत और ह्रद आदि

---

१. यानी इन स्थानों में अवसर्पिणी काल में चतुर्थकाल के प्रारम्भ से अन्त तक हानि और उत्सर्पिणी काल में तृतीय काल के प्रारम्भ से अन्त तक वृद्धि होती रहती है। यहां अन्य कालों की प्रवृत्ति नहीं होती। त्रि० सा० ८८३ तथा सिद्धान्तसार दीपक ९।३५४ ति० प० ४।१६०७ आदि।

ज्ञायते तथैव जम्बूद्वीपस्य क्षेत्रपर्वतनदीह्रदादीनां यदेव दक्षिणविभागे व्याख्यानं तदुत्तरेऽपि विज्ञेयम् ।

अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्वरागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शनसुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते । तस्य जम्बूद्वीपस्य मध्यवर्त्तिनः किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—नवनवतिसहस्रयोजनोत्सेध एकसहस्रावगाह आदौ भूमितले दशयोजनसहस्रवृत्त-विस्तार उपर्युपरि पुनरेकादशांशहानिक्रमेण हीयमानत्वे सति मस्तके योजनसहस्रविस्तार आगमोक्ता-कृत्रिमचैत्यालयदेववनदेवावासाद्यागमकथितानेकाश्चर्यसहितो विदेहक्षेत्रमध्ये महामेरुर्नाम पर्वतोस्ति । स च गजो जातस्तस्मान्मेरुगजात्सकाशादुत्तरमुखे दन्तद्वयाकारेण यन्निर्गतं पर्वतद्वयं तस्य गजदन्तद्वय-संज्ञेति, तयोत्तरे भागे नीलपर्वते लग्नं तिष्ठति । तयोर्मध्ये यत्त्रिकोणाकारक्षेत्रमुत्तमभोगभूमिरूपं तस्योत्तरकुरुसंज्ञा । तस्य च मध्ये मेरोरीशानदिग्विभागे शीतानीलपर्वतयोर्मध्ये परमागमवर्णितानाद्य-कृत्रिमपार्थिवो जम्बूवृक्षस्तिष्ठति । तस्या एव शीताया उभयतटे यमकगिरिसंज्ञं पर्वतद्वयं विज्ञेयम् ।

का जो दक्षिण दिशा सम्बन्धी व्याख्यान है वही उत्तर दिशा सम्बन्धी भी जानना ।

अब शरीर में ममत्व के कारणभूत मिथ्यात्व तथा राग आदि विभावों से रहित और केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से सहित निज परमात्म द्रव्य में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके, मुनिजन जहां से विगत-देह अर्थात् देहरहित होकर अधिकता से मोक्ष प्राप्त करते हैं उसको विदेह कहते हैं । जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित विदेह क्षेत्र का कुछ वर्णन करते हैं । निन्यानवे हजार योजन ऊंचा, एक हजार योजन गहरा और आदि में भूमितल पर दस हजार योजन गोल विस्तार वाला तथा ऊपर-ऊपर ग्यारहवें भाग हानि क्रम से घटते-घटते शिखर पर एक हजार योजन विस्तार का धारक और शास्त्र में कहे हुए अकृत्रिम चैत्यालय, देववन तथा देवों के आवास आदि नाना प्रकार के आश्चर्यों सहित ऐसा महामेरुनामक पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य में है, वही मानों गज (हाथी) हुआ, उस मेरुरूप गज से उत्तर दिशा में दो दन्तों के आकार से जो दो पर्वत निकले हैं, उनका नाम 'दो-गजदन्त' है और वे दोनों उत्तर भाग में जो नील पर्वत है उसमें लगे हुए हैं । उन दोनों गज-दन्तों के मध्य में जो त्रिकोण आकारवाला उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका नाम 'उत्तरकुरु' है । उसके मध्य में मेरु की ईशान दिशा में शीता नदी और नील पर्वत के बीच में परमागम-कथित अनादि-अकृत्रिम तथा पृथिवीकायिक जम्बू वृक्ष है । उसी शीता नदी के दोनों किनारों पर यमकगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहिये । उन दोनों

तस्मात्पर्वतद्वयाद्दक्षिणभागे कियन्तमध्वानं गत्वा शीतानदीमध्ये अन्तरान्तरेण पद्मादिह्रदपञ्चक मस्ति। तेषां ह्रदानामुभयपार्श्वयोः प्रत्येकं सुवर्णरत्नमयजिनगृहमण्डिता लोकानुयोगव्याख्यानेन दश दश सुवर्णपर्वता भवन्ति। तथैव निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकोत्तमपात्रपरमभक्तिदत्ताहारदानफलेनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्तिभोगसुखादप्यधिकस्य विविधपञ्चेन्द्रियभोगसुखस्य प्रदायका ज्योतिर्गृहप्रदीपतूर्य भोजनवस्त्र माल्यभाजनभूषणरागमदोत्पादकरसांगसंज्ञा दशप्रकारकल्पवृक्षाः भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य तिष्ठन्तीत्यादि परमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्चर्याणि ज्ञातव्यानि। तस्मादेव मेरुगजाद्दक्षिणदिग्विभागेन गजदन्तद्वय मध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगभूमिक्षेत्रमुत्तरकुरुवद्विज्ञेयम्।

तस्मादेव मेरुपर्वतात्पूर्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं सवेदिकं भद्रशालवनमस्ति। तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति। तत्र नीलकुलपर्वताद्दक्षिणभागे शीता

यमकगिरि पर्वतों से दक्षिण दिशा में कुछ मार्ग चलने पर शीता नदी के बीच में कुछ-कुछ अन्तराल से पद्म आदि पांच ह्रद हैं। उन ह्रदों के दोनों पसवाड़ों में से प्रत्येक पार्श्व में, लोकानुयोग के व्याख्यान के अनुसार, सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित जिनचैत्यालयों से भूषित दस-दस सुवर्ण पर्वत हैं। इसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय को आराधना करने वाले उत्तम पात्रों को परम भक्ति से दिये हुए आहार-दान के फल से उत्पन्न हुए तिर्यञ्च और मनुष्यों को, निज शुद्ध आत्म-भावना से उत्पन्न होनेवाला निर्विकार सदा आनन्दरूप सुखामृत रस के आस्वाद से विलक्षण और चक्रवर्ती के भोग-सुखों से भी अधिक, नाना प्रकार के पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोग-सुखों के देनेवाले ज्योतिरङ्ग, गृहाङ्ग, दीपाङ्ग, तूर्याङ्ग, भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, भाजनाङ्ग, भूषणाङ्ग तथा राग एवं मद को उत्पन्न करने वाले रसाङ्ग नामक, ऐसे दस प्रकार के कल्पवृक्ष भोगभूमिया क्षेत्र में स्थित हैं। इत्यादि परमागमकथित प्रकार से अनेक आश्चर्य समझने चाहिये। उसी मेरुगज से निकले हुए दक्षिण दिशा में जो 'दो-गजदन्त' हैं उनके मध्य में उत्तर कुरु के समान देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि का क्षेत्र जानना चाहिये।

उसी मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में, पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला वेदी सहित भद्रशाल वन है। उससे पूर्व दिशा में कर्मभूमि नामक पूर्वविदेह है। वहां नील नामक कुलाचल से दक्षिण दिशा में और शीता नदी के उत्तर में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—मेरु से पूर्व

नद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः कथ्यते । तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पूर्वदिग्भागे प्रथमं क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति, ततोऽप्यनन्तरं विभंगा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभंगा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं ततः परं वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तर क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पूर्वसमुद्रसमीपे यद्देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते कच्छा १ सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्त्ता ५ लांगलावर्त्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती ८ चेति । इदानीं क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । क्षेमा १ क्षेमपुरी २ रिष्टा ३ रिष्टपुरी ४ खड्गा ५ मञ्जूषा ६ औषधी ७ पुण्डरीकिणी ८ चेति ।

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणविभागे निषधपर्वतादुत्तरविभागे यान्यष्टक्षेत्राणि तानि कथ्यन्ते । तद्यथा—पूर्वोक्ता या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्माद्वक्षारपर्वतस्ततश्च क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं,

---

दिशा में जो पूर्वभद्रशाल वन की वेदिका है, उससे पूर्व दिशा में प्रथम क्षेत्र है, उसके पश्चात् दक्षिण–उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, उसके बाद क्षेत्र है, उसके आगे विभङ्गा नदी है, उसके आगे क्षेत्र है, उसके अनन्तर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, तदनन्तर पूर्व समुद्र के पास जो देवारण्य नामक वन है, उसकी वेदिका है । ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहिये । क्रम से उनके नाम हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्त्ता ५, लांगलावर्त्ता ६, पुष्कला ७ और पुष्कलावती ८ । अब क्षेत्रों के मध्य में जो नगरियां हैं, उनके नाम कहते हैं—क्षेमा १, क्षेमपुरी २, रिष्टा ३, रिष्टपुरी ४, खड्गा ५, मंजूषा ६, औषधी ७ और पुण्डरीकिणी ८ ।

इसके ऊपर शीता नदी के दक्षिण भाग में निषध पर्वत से उत्तर भाग में जो आठ क्षेत्र हैं उनका कथन करते हैं । वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्य की वेदी है उसके पश्चिम में क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, पश्चात्

ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशालवनवेदिका भवतीति नवभित्तिमध्येऽष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मंगलावती ८ चेति। इदानीं तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं समाप्तम्।

अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनानन्तरं पश्चिमविदेहस्तिष्ठति। तत्र निषधपर्वतादुत्तरविभागे शीतोदानद्यादक्षिणभागे यानि क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते। तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततः विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततः वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्र समीपे यद्भूतारण्यवनं

विभंगा नदी है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे मेरु की पूर्व दिशा वाले पूर्वभद्रशाल वन की वेदी है। ऐसे नौ भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं। उन क्षेत्रों के नाम क्रम से कहते हैं—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७ और मंगलावती ८। अब उन क्षेत्रों में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३ प्रभाकरी ४, अंका ५, पद्मा ६, शुभा ७ और रत्नसंचया ८। इस प्रकार पूर्व विदेह क्षेत्र के विभागों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब मेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन लम्बे पश्चिम भद्रशाल वन के बाद पश्चिम विदेहक्षेत्र है। वहां निषध पर्वत के उत्तर में और शीतोदा नदी के दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग कहते हैं—मेरु की पश्चिम दिशा में जो पश्चिम भद्रशाल वन की वेदिका है, उसके पश्चिम भाग में क्षेत्र है, उससे आगे दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, उससे आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनन्तर पश्चिम समुद्र के समीप जो भूतारण्य नामक वन है उसकी वेदिका है। ऐसे नौ

तिष्ठति तस्य वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां नामानि कथ्यन्ते। पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति। तन्मध्यस्थित नगरीणां नामानि कथयन्ति—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति।

अत ऊर्ध्वं शीतोदाया उत्तरभागे नीलकुलपर्वताद्दक्षिणे भागे यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागभेदं कथयति। पूर्वभणिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति। तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्तदनंतरं क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी. ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततश्च क्षेत्रं, ततश्च विभंगा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो विभंगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततश्च वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिशाभागे पश्चिमभद्रशालवनवेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वप्रा १ सुवप्रा २ महावप्रा ३ वप्रकावती ४ गन्धा ५ सुगन्धा ६ गन्धिला ७ गन्धमालिनी ८ चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते। विजया १ वैजयंती २ जयंती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ खड्गपुरी ६ अयोध्या ७ अवध्या ८ चेति।

भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र होते हैं। उनके नाम कहते हैं—पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७ और सलिला ८। उन क्षेत्रों के मध्य में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७ और विशोकापुरी ८।

अब शीतोदा के उत्तर में और नील कुलाचल के दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग-भेद का वर्णन करते हैं—पहले कही हुई जो भूतारण्य वन की वेदिका है उसके पूर्व में क्षेत्र है, उसके बाद वक्षार पर्वत, उसके अनन्तर क्षेत्र, उसके बाद विभंगा नदी, उसके पीछे क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र, उसके बाद पुनः विभंगा नदी, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र, तदनन्तर विभंगा नदी, उसके अनन्तर क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र है। उसके अनन्तर मेरु की (पश्चिम) दिशा में स्थित पश्चिमभद्र-शाल वन की वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के बीच में आठ क्षेत्र हैं। उनके नाम क्रम से कहते हैं—वप्रा १, सुवप्रा २, महावप्रा ३, वप्रकावती ४, गंधा ५, सुगंधा ६, गंधिला ७ और गंधमालिनी ८। उन क्षेत्रों के मध्य में वर्तमान नगरियों के नाम कहते हैं—विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, चक्रपुरी ५, खड्गपुरी ६, अयोध्या ७ और अवध्या ८।

अथ यथा—भरतक्षेत्रे गङ्गासिंधुनदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च म्लेच्छखण्डपञ्चकमार्यखण्डं चेति षट् खण्डानि जातानि। तथैव तेषु द्वात्रिंशत्क्षेत्रेषु गंगासिंधुसमाननदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च प्रत्येकं षट् खण्डानि ज्ञातव्यानि। अयं तु विशेषः। एतेषु क्षेत्रेषु सर्वदैव चतुर्थकालादिसमानकालः। उत्कर्षेण पूर्वकोटिजीवितं, पञ्चशतचापोत्सेधश्चेति विज्ञेयम्। पूर्वप्रमाणं कथ्यते। **पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु सदसहस्सकोडीओ। छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासगणनाओ।१।** इति संक्षेपेण जम्बूद्वीपव्याख्यानं समाप्तम्।

तदनन्तरं यथा सर्वद्वीपेषु सर्वसमुद्रेषु च द्वीपसमुद्रमर्यादाकारिका योजनाष्टकोत्सेधा वज्रवेदिकास्ति तथा जम्बूद्वीपेप्यस्तीति विज्ञेयम्। यद्बहिर्भागे योजनलक्षद्वयवलयविष्कम्भ आगमकथितषोडशसहस्रयोजनजलोत्सेधाद्यनेकाश्चर्यसहितो लवणसमुद्रोऽस्ति। तस्मादपि बहिर्भागे योजनलक्षचतुष्टयवलयविष्कम्भो धातकीखण्डद्वीपोऽस्ति। तत्र च दक्षिणभागे लवणोदधिकालोदधिसमुद्रद्वयवेदिकास्पर्शी दक्षिणोत्तरायामः सहस्रयोजनविष्कम्भः शतचतुष्टयोत्सेध इष्वाकारनामपर्वतः अस्ति। तथोत्तर-

---

अब, जैसे भरतक्षेत्र में गंगा और सिंधु इन दोनों नदियों से तथा विजयार्ध पर्वत से पांच म्लेच्छ खंड और एक आर्य खंड ऐसे छह खंड हुए हैं, उसी तरह पूर्वोक्त बत्तीस विदेह क्षेत्रों में गंगा सिंधु समान दो नदियों और विजयार्ध पर्वत से प्रत्येक क्षेत्र के छह खंड जानने चाहिये। इतना विशेष है कि इन सब क्षेत्रों में सदा चौथे काल की आदि जैसा काल रहता है। उत्कृष्टता से कोटि पूर्व प्रमाण आयु है और पांच सौ धनुष प्रमाण शरीर का उत्सेध है। **पूर्व का प्रमाण कहते हैं—पूर्व का प्रमाण सत्तर लाख छप्पन हजार कोडि वर्ष जानना चाहिये।** इस प्रकार संक्षेप में जंबू द्वीप का व्याख्यान समाप्त हुआ।

जैसे सब द्वीप और समुद्रों में द्वीप और समुद्र की मर्यादा (सीमा) करने वाली आठ योजन ऊंची वज्र की वेदिका (दीवार) है, उसी प्रकार से जंबूद्वीप में भी है, ऐसा जानना चाहिये। उस वेदिका के बाहर दो लाख योजन चौड़ा, गोलाकार, शास्त्रोक्त सोलह हजार योजन जल की ऊंचाई (गहराई) आदि अनेक आश्चर्यों सहित लवणसमुद्र है; उसके बाहर चार लाख योजन गोल विस्तार वाला धातकीखंड द्वीप है। वहां पर दक्षिण भाग में लवणोदधि और कालोदधि इन दोनों समुद्रों की वेदिका को छूने वाला, दक्षिण–उत्तर लम्बा, एक हजार योजन विस्तार वाला तथा चार सौ योजन ऊंचा इष्वाकार नामक पर्वत है। इसी प्रकार उत्तर भाग में भी एक इष्वाकार पर्वत है। इन दोनों पर्वतों से विभाजित, पूर्व धातकीखंड तथा पश्चिम

विभागेऽपि । तेन पर्वतद्वयेन खण्डीकृतं पूर्वापरधातकीखण्डद्वयं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वधातकीखण्डद्वीपमध्ये चतुरशीतिसहस्रयोजनोत्सेधः सहस्रयोजनावगाहः क्षुल्लकमेरुरस्ति । तथा पश्चिमधातकीखण्डेऽपि । यथा जम्बूद्वीपमहामेरोः भरतादिक्षेत्रहिमवदादिपर्वतगंगादिनदीपद्मादिह्रदानां दक्षिणोत्तरेण व्याख्यानं कृतं तथात्र पूर्वधातकीखण्डमेरौ पश्चिमधातकीखण्डमेरौ च ज्ञातव्यम् । अत एव जम्बूद्वीपापेक्षया संख्यां प्रति द्विगुणानि भवन्ति भरतक्षेत्राणि, न च विस्तारायामापेक्षया । कुलपर्वताः पुनर्विस्तारापेक्षयैव द्विगुणा, नत्वायामं प्रति । तत्र धातकीखण्डद्वीपे यथा चक्रस्यारास्तथाकाराः कुलपर्वता भवन्ति । यथा चाराणां विवराणि छिद्राणि मध्यान्यभ्यन्तरे सङ्कीर्णानि बहिर्भागे विस्तीर्णानि तथा क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि ।

इत्थंभूतं धातकीखण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनवलयविष्कंभः कालोदकसमुद्रः परिवेष्ट्य तिष्ठति । तस्माद्बहिर्भागे योजनलक्षाष्टकं गत्वा पुष्करवरद्वीपस्य अर्द्धे वलयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतस्तिष्ठति । तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीखण्डद्वीपवद्दक्षिणोत्तरेणेष्वाकारनामपर्वतद्वयं पूर्वापरेण

धातकीखंड ऐसे दो भाग जानने चाहिये । पूर्व धातकीखंड द्वीप के मध्य में चौरासी हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन गहरा छोटा मेरु है । उसी प्रकार पश्चिम धातकीखंड में भी एक छोटा मेरु है । जैसे जंबूद्वीप के महामेरु में भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और पद्म आदि ह्रदों का दक्षिण व उत्तर दिशाओं सम्बन्धी व्याख्यान किया है; वैसा ही इस पूर्व धातकीखंड के मेरु और पश्चिम धातकीखंड के मेरु सम्बन्धी जानना चाहिये । इसी कारण धातकीखंड में जंबू द्वीप की अपेक्षा संख्या में भरत क्षेत्र आदि दूने होते हैं, परन्तु लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा से दुगुने नहीं हैं । कुलपर्वत तो विस्तार की अपेक्षा ही दुगुने हैं, आयाम (लम्बाई) की अपेक्षा दुगुने नहीं हैं । उस धातकीखंड द्वीप में, जैसे चक्र के आरे होते हैं, वैसे आकार के धारक कुलाचल हैं । जैसे चक्र के आरों के छिद्र अन्दर की ओर तो संकीर्ण (सुकड़े) होते हैं और बाहर की ओर विस्तीर्ण (फैले हुए) होते हैं, वैसा ही क्षेत्रों का आकार समझना चाहिये ।

इस प्रकार जो धातकीखंड द्वीप है उसको आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदक समुद्र वेढ़े हुए है । उस कालोदक समुद्र के बाहर आठ लाख योजन चलकर पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग में गोलाकार रूप से चारों दिशाओं में मानुषोत्तर नामक पर्वत है । उस पुष्करार्ध द्वीप में भी धातकीखंड द्वीप के समान दक्षिण तथा उत्तर दिशा में इष्वाकार दो पर्वत हैं, पूर्व-पश्चिम में दो छोटे मेरु हैं । इसी प्रकार (धातकी-

क्षुल्लकमेरुद्वयं च । तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च बोधव्यः । परं किन्तु जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्वं, न च धातकीखण्डापेक्षया । कुलपर्वतानां तु धातकीखण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विष्कम्भ आयामश्च । उत्सेधप्रमाणं पुनः दक्षिणभागे विजयार्धपर्वते योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वते शतं महाहिमवति द्विशतं, निषधे चतुःशतं, तथोत्तरभागे च । मेरुसमीपगजदन्तेषु शतपञ्चकं, नील-निषध-पार्श्वे गजदन्तानि योजन चतुःशतानि । नदीसमीपे वक्षारेषु चान्त्यनिषधनीलसमीपे चतुःशतं च । शेषपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं तदेवार्धतृतीयद्वीपेषु च विज्ञयम् । तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां तान्येव । तथैव क्रोशद्वयोत्सेधा पञ्चशतधनुर्विस्तारा पद्मरागरत्नमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति । अत्रापि चक्राराकारवत्पर्वता आरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग एव मनुष्यास्तिष्ठन्ति, न च बहिर्भागे । तेषां च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण पल्यत्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवस्तथा तिरश्चां च । एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्लोकमध्येऽर्धतृतीयद्वीपप्रमाणः संक्षेपेण

खंड के समान) भरत आदि क्षेत्रों का विभाग जानना चाहिए। परन्तु जम्बूद्वीप के भरत आदि की अपेक्षा से यहाँ पर संख्या में दूने-दूने भरत आदि क्षेत्र हैं, धातकीखंड की अपेक्षा से भरत आदि दूने नहीं हैं। कुल पर्वतों का विष्कम्भ तथा आयाम धातकीखण्ड के कुल पर्वतों की अपेक्षा दुगुना है। दक्षिण में विजयार्ध पर्वत की ऊँचाई का प्रमाण पच्चीस योजन, हिमवत् पर्वत की ऊँचाई १०० योजन, महाहिमवान् पर्वत की दो सौ योजन, निषध की चार सौ योजन प्रमाण है। तथा उत्तर भाग में भी इसी प्रकार उत्सेध प्रमाण है। मेरु के समीप में गजदन्तों की ऊँचाई पाँच सौ योजन है और नील निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है। वक्षार पर्वतों की ऊँचाई नदी के निकट तथा अन्त में नील और निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है। मेरु को छोड़कर शेष पर्वतों की जो ऊँचाई जंबू द्वीप में कही है सो ही पुष्करार्द्ध तक द्वीपों में जाननी चाहिये। तथा क्षेत्र, पर्वत, नदी, देश, नगर आदि के नाम भी वे ही हैं, जो कि जंबू द्वीप में हैं। इसी प्रकार दो कोस ऊँची, पाँच सौ धनुष चौड़ी पद्मराग रत्नमयी जो वन आदि की वेदिका है, वह सब द्वीपों में समान है। इस पुष्करार्ध द्वीप में भी चक्र के आरों के आकार समान पर्वत और आरों के छिद्रों के समान क्षेत्र जानने चाहिये। मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग में ही मनुष्य निवास करते हैं बाहरी भाग में नहीं। उन मनुष्यों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य के बराबर है। मध्य में मध्यमविकल्प बहुत से हैं। तिर्यंचों की आयु भी मनुष्यों की आयु के समान है। इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों से विस्तरित तिर्यग्लोक के मध्य

मनुष्यलोको व्याख्यातः ।

अथ मानुषोत्तरपर्वतसकाशाद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्द्धं परिक्षिप्य योऽसौ नागेन्द्रनामा पर्वतस्तस्मात्पूर्वभागे येऽसंख्यातीता द्वीपसमुद्रास्तिष्ठन्ति तेषु यद्यपि व्यन्तरा निरन्तरा इति वचनाद् व्यन्तरदेवावासास्तिष्ठन्ति तथापि पल्यप्रमाणायुषां तिरश्चां सम्बन्धिनी जघन्यभोगभूमिरिति ज्ञेयम् । नागेन्द्रपर्वताद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्द्धे समुद्रे च पुनर्विदेहवत्सर्वदैव कर्मभूमिश्चतुर्थकालश्च । परं किन्तु मनुष्या न सन्ति । एवमुक्तलक्षणतिर्यग्लोकस्य तदभ्यन्तरं मध्यभागवर्त्तिनो मनुष्यलोकस्य च प्रतिपादनेन संक्षेपेण मध्यमलोकव्याख्यानं समाप्तम् । अथ मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टयं तिर्यग्लोके

में ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्यलोक का संक्षेप से व्याख्यान हुआ ।

अब मानुषोत्तर पर्वत से बाहरी भाग में, स्वयंभूरमण द्वीप के अर्धभाग को बेढ़कर जो नागेन्द्र नामक पर्वत है, उस पर्वत के पूर्व भाग में जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनमें 'व्यन्तर देव निरन्तर रहते हैं' इस वचनानुसार, यद्यपि व्यन्तर देवों के आवास हैं, तथापि एक पल्यप्रमाण आयुवाले तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि भी है, ऐसा जानना चाहिये । नागेन्द्र पर्वत से बाहर स्वयंभूरमण आधे द्वीप और पूर्णस्वयंभूरमण समुद्र में विदेह क्षेत्र के समान, सदा ही कर्मभूमि और चतुर्थकाल रहता है ।[1] परन्तु वहां पर मनुष्य नहीं हैं । इस प्रकार तिर्यग्लोक के तथा उस तिर्यक् लोक के मध्य में विद्यमान मनुष्य-लोक के निरूपण द्वारा मध्य लोक का व्याख्यान समाप्त हुआ । मनुष्य लोक में तीन सौ अट्ठानवे ३९८ और तिर्यक् लोक में

---

१. नोट—यहां स्वयंप्रभ पर्वत से परे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र में चतुर्थकाल का होना बताया है ।

स्वयंभूरमण समुद्र में स्थित महामत्स्य जलचर जीव सप्तम नरक जाते हैं, यह बात धवल ११ पृ० १८, १९, २० तथा भगवती आराधना १६४४ से अत्यन्त स्पष्ट है । वहां का शालिशिक्थमत्स्य भी मरकर सातवें नरक में जाता है । [वही ग्रन्थ, वही प्रकरण] इससे उनके वज्रवृषभनाराचसंहनन का अस्तित्व सिद्ध होता है । [गो० क० ३१] धवला में स्वयंप्रभ पर्वत के पर भाग में स्थित त्रस कायिक पर्याप्त राशि के जीवों की इतर कर्मभूमिज जीवों की अपेक्षा दीर्घायु और सबसे बड़ी अवगाहना कही है ।

इन बातों को देखते हुए उक्त क्षेत्र में विदेह क्षेत्र के समान चतुर्थकाल का अस्तित्व ही सम्भव लगता है । परन्तु, इस विषय में दूसरा मत भी पाया जाता है । यथा—नागेन्द्र (स्वयप्रभ) पर्वत के बाह्य भाग से स्वयभूरमण समुद्र के अन्त पर्यन्त, अर्थात् अर्द्ध स्वयभूरमणद्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में अवसर्पिणी के पंचमकाल के प्रारम्भ सदृश हानि-वृद्धि रहित पंचम काल का ही नित्य वर्तन होता है, ऐसा लिखा है । [सिद्धान्तसार दीपक ६।१६३, त्रि० सा० ८८४, जं० दी० प० २।१७४।२७]

तु नन्दीश्वरकुण्डलरुचकाभिधानद्वीपत्रयेषु क्रमेण द्विपञ्चाशच्चतुष्टयचतुष्टयसंख्याश्चाकृत्रिमाः स्वतन्त्रजिनगृहा ज्ञातव्याः ।

अत ऊर्ध्वं ज्योतिर्लोकः कथ्यते । तद्यथा—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाश्चेति ज्योतिष्कदेवाः पञ्चविधा भवन्ति । तेषां मध्येऽस्माद्भूमितलादुपरि नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वा तारकविमानाः सन्ति, ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्यविमानाः, ततः परमशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रविमानाः, ततोऽपि त्रैलोक्यसारकथितक्रमेण योजनचतुष्टयं गते अश्विन्यादिनक्षत्रविमानाः, ततः परं योजन चतुष्टयं गत्वा बुधविमानाः, ततः परं योजनत्रयं गत्वा शुक्रविमानाः, ततः परं योजनत्रये गते बृहस्पतिविमानाः, ततो योजनत्रयानन्तरं मङ्गलविमानाः, ततोऽपि योजनत्रयानन्तरं शनैश्चरविमाना इति । तथा चोक्तं **णउदुत्तरसत्तसया दस सीदी चउदुग तु तिचउक्कं । तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवअंगिरारसणी ।** १ । ते च ज्योतिष्कदेवा अर्धतृतीयद्वीपेषु निरन्तरं मेरोः प्रदक्षिणेन परिभ्रम-

---

नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डल द्वीप तथा रुचक द्वीप इन तीन द्वीपों सम्बन्धी क्रमशः बावन, चार, चार अकृत्रिम स्वतन्त्र चैत्यालय जानने चाहिये । (मध्यलोक में सब अकृत्रिम चैत्यालय ४५८ हैं) ।

इसके पश्चात् ज्योतिष्कलोक का वर्णन करते हैं । चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा ऐसे ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं । उनमें से इस मध्य लोक के पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर आकाश में तारों के विमान हैं, तारों से दस योजन ऊपर सूर्य के विमान हैं । उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान हैं । उसके अनन्तर, त्रिलोकसार कथित क्रमानुसार, चार योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्रों के विमान हैं । उसके पश्चात् चार योजन ऊपर बुध के विमान हैं । उसके अनन्तर तीन योजन ऊपर शुक्र के विमान हैं । वहां से तीन योजन ऊपर बृहस्पति के विमान हैं । उसके पश्चात् तीन योजन पर मंगल के विमान हैं । वहां से भी तीन योजन के अन्तर पर शनैश्चर के विमान हैं । सो ही कहा है—**सात सौ नब्बे, दस, अस्सी, चार, चार, तीन, तीन, तीन और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर के विमान हैं**[1] । १ । वे ज्योतिष्क देव ढाई द्वीप में मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा परिभ्रमण करते हैं । समय निमिष आदि सूक्ष्म व्यवहार काल के समान घटिका, प्रहर, दिवस आदि स्थूल व्यवहार काल भी,

---

१. त्रिलोकसार ३३२ ।

गमनं कुर्वन्ति । तत्र घटिकाप्रहरदिवसादिरूपः स्थूलव्यवहारकालः समयनिमिषादिसूक्ष्मव्यवहार-कालवत् यद्यप्यनादिनिधनेन समयघटिकादिविवक्षितविकल्परहितेन कालाणुद्रव्यरूपेण निश्चयकालेनोपादानभूतेन जन्यते तथापि चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवविमानगमनागमनेन कुम्भकारेण निमित्तभूतेन मृत्पिण्डोपादानजनितघट इव व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तेन कारणेनोपचारेण ज्योतिष्कदेवकृत इत्यभिधीयते । निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति कुम्भकारचक्रभ्रमणस्याधस्तनशिलावदिति ।

इदानीमर्धतृतीयद्वीपेषु चन्द्रादित्यसंख्या कथ्यते । तथाहि—जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयं सूर्यद्वयं च, लवणोदे चतुष्टयं, धातकीखण्डद्वीपे द्वादश चन्द्रादित्याश्च, कालोदकसमुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रादित्याश्च, पुष्करार्धे द्वीपे द्वासप्ततिचन्द्रादित्याः चेति । ततः परं भरतैरावतस्थितजम्बूद्वीपचन्द्रसूर्ययोः किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे योजनानामशीतिशतं बहिर्भागे लवणसमुद्रसम्बन्धे त्रिंशदधिकशतत्रयमिति समुदायेन दशोत्तरयोजनशतपञ्चकं चारक्षेत्रं भण्यते, तत् चन्द्रादित्ययोरेकमेव ।

समय–घटिका आदि विवक्षित भेदों से रहित तथा अनादिनिधन कालाणुद्रव्यमयी निश्चयकाल रूप उपादान से यद्यपि उत्पन्न होता है; तो भी, निमित्तभूत कुम्भकार के द्वारा उपादान रूप मृत्तिकापिंड से घट प्रगट होने की तरह, उन ढाई द्वीप में चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमनागमन से यह व्यवहारकाल प्रगट किया जाता है तथा जाना जाता है; इस कारण उपचार से **व्यवहार काल ज्योतिष्क देवों का किया हुआ है** ऐसा कहा जाता है। कुम्भकार के चाक के भ्रमण में बहिरंग सहकारी कारण नीचे की कीली के समान, निश्चयकाल तो, उन ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमन रूप परिणमन में, बहिरंग सहकारी कारण होता है।

अब ढाई द्वीपों में जो चन्द्र और सूर्य हैं, उनकी संख्या बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—जंबू द्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं, लवणोदकसमुद्र में चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं, धातकीखंड द्वीप में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं, कालोदक समुद्र में ४२ चन्द्रमा और ४२ सूर्य हैं तथा पुष्करार्ध द्वीप में ७२ चन्द्रमा और बहत्तर ही सूर्य हैं।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावत में स्थित जम्बूद्वीप के चन्द्र–सूर्य का कुछ थोड़ा-सा विवरण कहते हैं। वह इस तरह है—जम्बूद्वीप के भीतर एक सौ अस्सी और बाहरी भाग में अर्थात् लवणसमुद्र के तीन सौ तीस योजन, ऐसे दोनों मिलकर पाँच सौ दस योजन प्रमाण सूर्य का चार क्षेत्र (गमन का क्षेत्र) कहलाता है। सो

तत्र भरतेन (सह) बहिर्भागे तस्मिश्चारक्षेत्रे सूर्यस्य चतुरशीतिशतसंख्या मार्गा भवन्ति, चन्द्रस्य पञ्चदशैव । तत्र जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे निषधपर्वतस्योपरि प्रथममार्गे सूर्यः प्रथमोदयं करोति । यत्र सूर्यविमानस्थं निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिमं जिनबिम्बम् प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्यानगरीस्थितो निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्यार्घ्यं ददातीति । तन्मार्गस्थितभरतक्षेत्रादित्यस्यैरावतादित्येन सह तथापि चन्द्रस्यान्यचंद्रेण सह यदन्तरं भवति तद्विशेषेणागमतो ज्ञातव्यम् ।

अथ सदभिस भरणी अद्दा सादी असलेस्स जेट्ठमवर वरा । रोहिणि विसाह पुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा । १ । इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यमनक्षत्राणि तेषु मध्ये कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्ठतीति । इंदुरवीदो रिक्खा सत्तट्ठि पंच गगणखंडहिया । अहियहिदरि-

---

चन्द्र तथा सूर्य इन दोनों का एक ही गमन क्षेत्र है । भरत क्षेत्र और बाहरी भाग के चार क्षेत्र में सूर्य के एक सौ चौरासी मार्ग (गली) हैं और चन्द्रमा के पन्द्रह ही मार्ग हैं । उनमें जम्बू द्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन जब दक्षिणायन प्रारम्भ होता है, तब निषध पर्वत के ऊपर प्रथम मार्ग में सूर्य प्रथम उदय करता है । वहां पर सूर्य विमान में स्थित निर्दोष-परमात्म-जिनेन्द्र के अकृत्रिम जिनबिम्ब को, अयोध्या नगरी में स्थित भरत क्षेत्र का चक्रवर्ती प्रत्यक्ष देखकर निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पांजलि उछालकर अर्घ देता है । उस प्रथम मार्ग में स्थित भरत क्षेत्र के सूर्य का ऐरावत क्षेत्र के सूर्य के साथ तथा चन्द्रमा का चन्द्रमा के साथ और भरत क्षेत्र के सूर्य चन्द्रमाओं का मेरु के साथ जो अन्तर (फासला) रहता है, उसका विशेष कथन आगम से जानना चाहिए ।

अब "शतभिषा (शतभिषक्), भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा, ये छह नक्षत्र जघन्य हैं । रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद, ये छह नक्षत्र उत्कृष्ट हैं । इनके अतिरिक्त शेष १५ नक्षत्र मध्यम हैं[१] ।" इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार जो जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्र में कितने दिन सूर्य ठहरता है, सो कहते हैं—"एक मुहूर्त में चन्द्र १७६८, सूर्य १८३० और नक्षत्र १८३५ गगनखंडों में गमन करते हैं, इसलिये ६७ व ५ (१८३५–१७६८ = ६७, १८३५ – १८३० = ५) अधिक भागों से नक्षत्रखण्डों को भाग देने से

---

१. त्रि० सा० ३९९ ।

नक्खत्ता रिक्खे इंदुरवीअत्थणमुहुत्ता ।१। इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्रमेण पृथक् पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकषष्टियुतत्रिशतसंख्यदिनानि भवन्ति। तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा द्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन बहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायनसंज्ञा; यदा पुनः समुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति। तत्र यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रांतिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे तिष्ठत्यादित्यस्तदा चतुर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाण उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो ज्ञेयः। तत्र पुनरष्टादशमुहूर्तैर्दिवसो भवति द्वादशमुहूर्तै रात्रिरिति। ततः क्रमेणातपहानौ सत्यां मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावल्लवणसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिषष्टिसहस्राधिकषोडशयोजनप्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति। तथैव द्वादशमुहूर्तैर्दिवसो भवत्यष्टादशमुहूर्तै रात्रिश्चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विज्ञेयम्।

जो मुहूर्त्त प्राप्त होते हैं, उन मुहूर्त्तों को चन्द्र और सूर्य के आसन्न मुहूर्त्त जानने चाहिये। अर्थात् एक नक्षत्र पर उतने मुहूर्त्तों तक चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति जाननी चाहिये[1]।" इस प्रकार इस गाथा में कहे हुए क्रम से भिन्न-भिन्न दिनों को जोड़ने से तीन सौ छयासठ दिन होते हैं। जब द्वीप के भीतर से दक्षिण दिशा के बाहरी मार्गों में सूर्य गमन करता है, तब तीन सौ छयासठ दिनों के आधे एक सौ तिरासी दिनों की दक्षिणायन संज्ञा होती है और इसी प्रकार जब सूर्य समुद्र से उत्तर दिशा को अभ्यन्तर मार्गों में आता है तब शेष १८३ दिनों की उत्तरायण संज्ञा है। उनमें जब द्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य प्रथम मार्ग की परिधि में होता है, तब सूर्य-विमान के आतप (धूप) का पूर्व-पश्चिम फैलाव चौरानवे हजार पाँच सौ पच्चीस योजन प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिये। उस समय अठारह मुहूर्त्तों का दिन और बारह मुहूर्त्तों की रात्रि होती है। फिर यहां से क्रम-क्रम से आतप की हानि होने पर दो मुहूर्त्तों के इकसठ भागों में से एक भाग प्रतिदिन दिवस घटता है। यह तब तक घटता है जब तक कि लवणसमुद्र के अन्तिम मार्ग में माघ मास में मकर संक्रांति में उत्तरायण दिवस के प्रारम्भ में जघन्यता से सूर्य-विमान के आतप का पूर्व-पश्चिम विस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाण होता है। उसी प्रकार इस समय बारह मुहूर्त्तों का दिन और अठारह मुहूर्त्तों की रात्रि होती है। अन्य विशेष वर्णन लोकविभाग आदि से जानना चाहिये।

---

१. त्रि० सा० ४०४।

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति । ते च मानुषोत्तरपर्वताद्बहिर्भागे पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां गत्वा वलयाकारं पंक्तिक्रमेण पूर्वक्षेत्रं परिवेष्ट्य तिष्ठन्ति । तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्याश्चान्तरान्तरेण तिष्ठन्ति । ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण वलयं भवति । अयन्तु विशेषः—वलये वलये चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्करार्धबहिर्भागे वलयाष्टकमिति । ततः पुष्करसमुद्रप्रवेशे वेदिकायाः सकाशात्पंचाशत्सहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य यत्पूर्वं चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणं प्रथमवलयं व्याख्यातं तस्माद् द्विगुणसंख्यानं प्रथमवलयं भवति । तदनन्तरं पूर्ववद्योजनलक्षे गते वलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च वृद्धिरित्यनेनैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागवेदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेवानामवस्थानं बोधव्यम् । एते च प्रतरासंख्येयभागप्रमिता असंख्येया ज्योतिष्कविमाना अकृत्रिमसुवर्णमयरत्नमयजिनचैत्यालयमण्डिता ज्ञातव्याः । इति संक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते । तथाहि—सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तव-

---

मनुष्य क्षेत्र से बाहर ज्योतिष्क-विमानों का गमन नहीं है । वे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पचास हजार योजन जाने पर, वलयाकार (गोलाकार) पंक्ति-क्रम से पहले क्षेत्र को वेढ़ (घेर) कर रहते हैं । वहाँ प्रथम वलय में एक सौ चवालीस चन्द्रमा तथा सूर्य परस्पर अन्तर (फासले) से स्थित हैं । उसके आगे एक-एक लाख योजन जाने पर इसी क्रमानुसार एक-एक वलय होता है । विशेष यह है कि प्रत्येक वलय में चार-चार चन्द्रमा तथा चार-चार सूर्यों की वृद्धि पुष्करार्ध के बाह्य भाग में आठवें वलय तक होती है; उसके बाद पुष्करसमुद्र के प्रवेश में स्थित वेदिका से पचास हजार योजन प्रमाण जलभाग में जाकर, प्रथम वलय में, एक सौ चवालीस चन्द्र तथा सूर्य का जो पहले कथन किया है, उससे दुगुने (दो सौ अट्ठासी) चन्द्रमा व सूर्यों वाला पहला वलय है । उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक-एक लाख योजन जाने पर एक-एक वलय है । प्रत्येक वलय में चार चन्द्रमा और चार सूर्यों की वृद्धि होती है । इसी क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र की अन्त की वेदिका तक ज्योतिष्क देवों का अवस्थान जानना चाहिये । जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात ये ज्योतिष्कविमान अकृत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जिनचैत्यालयों से भूषित हैं, ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार संक्षेप से ज्योतिष्क लोक का वर्णन समाप्त हुआ ।

अब इसके अनन्तर ऊर्ध्व लोक का कथन करते हैं । सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार,

कापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतसंज्ञाः षोडश स्वर्गाः ततोऽपि नवग्रैवेयकसंज्ञास्ततश्च नवानुदिशसंज्ञं नवविमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पंचानुत्तरसंज्ञं पंचविमानसंख्यमेकपटलं चेत्युक्तक्रमेणोपर्युपरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्त्तिकं संग्रहवाक्यं समुदायकथनमिति यावत् । आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्या उपरि कुरुभूमिजमर्त्यबालाग्रान्तरितं पुनऋ र्जुविमानमस्ति । तदादिं कृत्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरूत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जूप्रमाणं यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं सानत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तं लांतवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शुक्रमहाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनन्तरमर्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतनाम स्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं यावदारणाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति । तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीय-

---

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक सोलह स्वर्ग हैं। वहां से आगे नव ग्रैवेयक विमान हैं। उनके ऊपर नवानुदिश नामक ९ विमानों का एक पटल है, इसके भी ऊपर पाँच विमानों की संख्या वाला पंचानुत्तर नामक एक पटल है, इस प्रकार उक्त क्रम से वैमानिक देव अवस्थित हैं। यह वार्त्तिक अर्थात् संग्रह वाक्य अथवा समुदाय से कथन है। आदि में बारह, मध्य में आठ और अन्त में चार योजन प्रमाण गोल व्यासवाली चालीस योजन ऊँची मेरु की चूलिका है; उसके ऊपर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य के बाल के अग्रभाग प्रमाण के अन्तर से ऋजु विमान है। चूलिका सहित एक लाख योजन प्रमाण मेरु की ऊँचाई का प्रमाण है, उस मान को आदि करके डेढ़ रज्जु प्रमाण जो आकाश क्षेत्र है वहां तक सौधर्म तथा ईशान नामक दो स्वर्ग हैं। इसके ऊपर डेढ़ रज्जुपर्यन्त सानत्कुमार और माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से अर्धरज्जु प्रमाण आकाश तक ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्गों का युगल है। वहां से भी आधे रज्जु तक लांतव और कापिष्ट नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से आधे रज्जुप्रमाण आकाश में शुक्र तथा महाशुक्र नामक स्वर्गों का युगल जानना चाहिए। उसके बाद आधे रज्जु तक शतार और सहस्रार नामक स्वर्गों का युगल है। उसके पश्चात् आधे रज्जु तक आनत व प्राणत दो स्वर्ग हैं। तदनन्तर आधे रज्जुपर्यन्त आकाश तक आरण और अच्युत नामक दो स्वर्ग जानने चाहिए। उनमें से पहले के दो युगलों (४ स्वर्गों) में तो अपने-अपने स्वर्ग के नाम वाले (सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र) चार इंद्र हैं, बीच के चार युगलों (८ स्वर्गों)

स्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेयाः, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान एकैक एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्ति; इति समुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः। षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिश-पञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति। ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयोजनबाहुल्या मनुष्यलोक-वत्पञ्चाधिकचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारा मोक्षशिला भवति। तस्या उपरि घनोदधिघनवाततनुवात-त्रयमस्ति। तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिताः सिद्धाः तिष्ठन्ति।

इदानीं स्वर्गपटलसंख्या कथ्यते—सौधर्मैशानयोरेकत्रिंशत्, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारि, लान्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटलमेकम्, शतारसहस्रारयोरेकम्, आनतप्राणतयोस्त्रयम्, आरणाच्युतयोस्त्रयमिति। नवसु ग्रैवेयकेषु नवकं, नवानुदिशेषु पुनरेकं, पञ्चा-नुत्तरेषु चैकमिति समुदायेनोपर्युपरि त्रिषष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि। तथा चोक्तम्—**इगतीससत्तचत्त**।-

---

में अपने-अपने प्रथम स्वर्ग के नाम का धारक एक-एक ही इन्द्र है। (अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का एक इन्द्र है और वह ब्रह्म इन्द्र कहलाता है। ऐसे ही बारहवें स्वर्ग तक आठ स्वर्गों में चार इंद्र जानने), इनके ऊपर दो युगलों (४ स्वर्गों) में भी अपने-अपने स्वर्ग के नाम के धारक चार इन्द्र होते हैं। इस प्रकार समुदाय से सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र जानने चाहिये। सोलह स्वर्गों से ऊपर एक राजू में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान—वासी देव हैं। उसके आगे बारह योजन जाने-पर आठ योजन मोटी और ढाई द्वीपके बराबर पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली मोक्षशिला है। उस मोक्षशिला के ऊपर घनोदधि, घनवात तथा तनुवात नामक तीन वायु हैं। इनमें से तनुवात के मध्य में तथा लोक के अन्त में केवलज्ञान आदि अनन्त-गुणों सहित सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं।

अब स्वर्ग के पटलों की संख्या बतलाते हैं। सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गों में इकत्तीस, सानत्कुमार तथा माहेन्द्र में सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में चार, लांतव तथा कापिष्ट में दो, शुक्र—महाशुक्र में एक, शतार—सहस्रार में एक, आनत-प्राणत में तीन और आरण-अच्युत में भी तीन पटल हैं। नव ग्रैवेयकों में नौ, नव अनुदिशों में एक व पंचानुत्तरों में एक पटल है। ऐसे समुदाय से ऊपर-ऊपर ६३ पटल जानने चाहिये। सो ही कहा है—**सौधर्म युगल में ३१, सानत्कुमार युगल में ७, ब्रह्म युगल में ४, लांतव युगल में २, शुक्र युगल में १, शतार युगल में १, आनत आदि चार स्वर्गों में**

रिवोण्णिएक्केक्कछक्कचदुकप्पे । तित्तियएक्केक्किंदयणामा उडु आदि तेसट्ठी ।

अत: परं प्रथमपटलव्याख्यानं क्रियते । ऋजु विमानं यदुक्तं पूर्वं मेरुचूलिकाया उपरि तस्य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारस्येन्द्रकसंज्ञा । तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्ताराणि पंक्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिशं यानि त्रिषष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां श्रेणीबद्धसंज्ञा । यानि च पंक्तिरहितपुष्पप्रकरवद्विदिकचतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनविस्ताराणां प्रकीर्णकसंज्ञा । इति समुदायेन प्रथमपटललक्षणं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वापरदक्षिणश्रेणित्रयविमानानि, तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसम्बन्धीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि तथोत्तरश्रेणिविमानानि च पुनरीशानसम्बन्धीनि । अस्मात्पटलादुपरि जिनदृष्टमानेन संख्येयान्यसंख्येयानि योजनानि गत्वा तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति । अयं च विशेष:—श्रेणीचतुष्टये पटले-पटले प्रतिदिशमेकैकविमानं हीयते यावत् पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिक्ष्वेकैकविमानं तिष्ठति । एते सौधर्मादिविमानाश्चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्र-

---

६, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयकों में तीन-तीन, नव अनुदिश में १, पंचानुत्तरों में एक, ऐसे समुदाय से ६३ इन्द्रक होते हैं ।[1]

इसके आगे प्रथम पटल का व्याख्यान करते हैं । मेरु की चूलिका के ऊपर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण विस्तार वाले पूर्वोक्त ऋजु विमान की इंद्रक संज्ञा है । उसकी चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में, सब द्वीप समुद्रों के ऊपर, असंख्यात योजन विस्तार वाले पंक्तिरूप ६३–६३ विमान हैं; उनकी श्रेणीबद्ध संज्ञा है । पंक्ति बिना पुष्पों के समान चारों विदिशाओं में संख्यात व असंख्यात योजन विस्तार वाले जो विमान हैं, उन विमानों की प्रकीर्णक संज्ञा है । इस प्रकार समुदाय से प्रथम पटल का लक्षण जानना चाहिए । उन विमानों में से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियों के विमान और इन तीनों दिशाओं के बीच में दो विदिशाओं के विमान, ये सब सौधर्म प्रथम स्वर्ग सम्बन्धी हैं । तथा शेष दो विदिशाओं के विमान और उत्तर श्रेणी के विमान, वे ईशान स्वर्ग सम्बन्धी हैं । भगवान् द्वारा देखे प्रमाण अनुसार, इस पटल के ऊपर संख्यात तथा असंख्यात योजन जाकर इसी क्रम से द्वितीय आदि पटल हैं । विशेष यह है कि प्रत्येक पटल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में एक-एक विमान घटता गया है, सो यहां तक घटता है कि पंचानुत्तर पटल में चारों दिशाओं में एक-एक ही विमान रह जाता है । सौधर्म स्वर्ग आदि सम्बन्धी ये सब विमान चौरासी

---

१. ति० प० ८।१५६ ।

त्रयोविंशतिप्रमिता अकृत्रिमसुवर्णमयजिनगृहमण्डिता ज्ञातव्या इति ।

अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते । भवनवासिषु जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पुनरसुरकुमारेषु सागरोपमं, नागकुमारेषु पल्यत्रयं, सुपर्णे सार्धद्वयं, द्वीपकुमारे द्वयं, शेषकुलषट्के सार्धपल्यमिति । व्यन्तरे जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पल्यमधिकमिति । ज्योतिष्कदेवे जघन्येन पल्याष्टमविभागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिकं पल्यम्, सूर्ये सहस्राधिकं पल्यं, शेषज्योतिष्कदेवानामागमानुसारेणेति । अथ सौधर्मैशानयोर्जघन्येन साधिकपल्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः साधिकसागरोपमसप्तकं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, लान्तवकापिष्टयोः साधिकानि चतुर्दशसागरोपमानि, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसाधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादशसाधिकानि, आनतप्राणतयोर्विंशतिरेव, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरिति । अतः परमच्युतादूर्ध्वं कल्पातीतनवग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्येकत्रिंशत्सागरोपमान्यवसानग्रैवेयके भवन्ति । नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टायुः प्रमाणं ज्ञातव्यम् ।

लाख सत्तानवे हजार तेईस अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयों से मंडित हैं, ऐसा जानना चाहिए।

अब देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं—भवन वासियों में दस हजार वर्ष की जघन्य आयु है। असुरकुमारों में एक सागर, नागकुमारों में तीन पल्य, सुपर्णकुमारों में ढाई पल्य, द्वीपकुमारों में दो पल्य और शेष ६ प्रकार के भवनवासियों में डेढ़ पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। व्यन्तरों में दस हजार वर्ष की जघन्य और कुछ अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य और सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। शेष ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु आगम के अनुसार जाननी चाहिये। सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर है। सानत्कुमार तथा माहेन्द्र देवों में कुछ अधिक सात सागर, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दस सागर, लांतव कापिष्ट में कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर, शतार और सहस्रार में किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा प्राणत में पूरे बीस ही सागर और आरण अच्युत में बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर अच्युत स्वर्ग से ऊपर कल्पातीत नव ग्रैवेयकों तक प्रत्येक ग्रैवेयक में क्रमशः बाईस सागर से एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट आयु है, तदनुसार अन्त के ग्रैवेयक में इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिश पटल

तदायुः सौधर्मादिषु स्वर्गेषु यदुत्कृष्टं तत्परस्मिन् परस्मिन् स्वर्गे सर्वार्थसिद्धिं विहाय [1]जघन्यं चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं त्रिलोकसारादौ बोद्धव्यम् ।

किञ्च—आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते । यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः। **सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि । णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदो होदि । १ ।** इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्पत्यागेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैक-

---

में बत्तीस सागर और पंचानुत्तर पटल में तेंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिए। तथा सौधर्म आदि स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है, सर्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त, वह उत्कृष्ट आयु अपने स्वर्ग से ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में जघन्य आयु है। (अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्ग में कुछ अधिक दो सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है, वह सानत्-कुमार माहेन्द्र में जघन्य है। इस क्रम से सर्वार्थसिद्धि के पहले-पहले जघन्य आयु है।) शेष विशेष व्याख्यान त्रिलोकसार आदि से जानना चाहिए।

विशेष—आदि, मध्य तथा अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव परमात्मदेव में पूर्ण विमल केवलज्ञानमयी नेत्र है, उसके द्वारा जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बों का भान होता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं। इस कारण वह निज शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है, अथवा उस निश्चय लोक वाले निज शुद्ध परमात्मा में जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है। **संज्ञा, तीन लेश्या, इंद्रियों के वश होना, आर्त्त-रौद्र-ध्यान तथा दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पाप को देने वाले हैं।** इस गाथा में कहे हुए विभाव परिणाम आदि सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प विकल्पों के त्याग से और निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न परम

---

१. यद्यपि त. सू. ४।३२; स. सि. ४।३२।१९२, रा. वा. ४।३२।१।२४७, राज वा. ४।३४।१-२।२४८, रा. वा. भाग ६ पृ० ६५२ आदि लगभग सभी ग्रन्थों में सर्वार्थसिद्धि की जघन्य व उत्कृष्ट आयु ३३ सागर ही बताई है परन्तु कितने ही आचार्य सर्वार्थसिद्धि की जघन्य आयु पल्य के असंख्यातवें भाग कम ३३ सागर मानते हैं। यथा—'सर्वार्थायुर्यदुत्कृष्टं तदेवास्मिंस्ततः पुनः। पल्यासंख्येयभागोनमिच्छन्त्येकेऽल्पजीवितम् ।' (लोकविभाग १०।२३४ पृ. २०२ आ. सिंहसूरर्षि. सं. बालचन्द सिद्धान्तशास्त्री) अर्थ—सर्वार्थसिद्धि में जो उत्कृष्ट आयु है पल्य के असंख्यातवें भाग से हीन वही वहां जघन्य आयु है; ऐसा कितने ही आचार्य स्वीकार करते हैं।

सुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुप्रेक्षाव्याख्यानं समाप्तम् ॥१०॥

अथ **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां** कथयति। तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्त्तनक्रोधादिकषायनिवर्त्तनेषु परं परं दुर्लभेषु कथंचित् काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधेः फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्त्यात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपः परमसमाधिर्दुर्लभः। कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति। तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः। तद्भावनारहितानां पुनरपि संसारे पतनमिति। तथा चोक्तम्—**इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्। संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम्।** १। पुनश्चोक्तं मनुष्यभवदुर्लभत्वम्—**अशुभपरिणामबहुलता लोकस्य विपुलता, महामहती। योनिविपुलता च कुरुते सु-**

आह्लाद सुख रूपी अमृत के आस्वाद के अनुभव से जो भावना होती है, वही निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है। इस प्रकार संक्षेप से लोकानुप्रेक्षा का वर्णन समाप्त हुआ ॥१०॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, कार्य कुशलता, नीरोग, दीर्घ आयु. श्रेष्ठ बुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना–ग्रहण करना–धारण करना–श्रद्धान करना, संयम, विषय सुखों से पराङ् मुखता, क्रोध आदि कषायों से निवृत्ति, ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। कदाचित् काकतालीय न्याय से इन सबके प्राप्त हो जाने पर भी, इनकी प्राप्ति रूप बोधि के फलभूत जो निज शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूप परम समाधि है, वह दुर्लभ है। **शंका**—परम समाधि दुर्लभ क्यों है? **समाधान**—परम समाधि को रोकने वाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबंध आदि जो विभाव परिणाम हैं, उनकी जीवों में प्रबलता है, इसलिये परमसमाधि का होना दुर्लभ है। इस कारण उस परमसमाधि की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये। क्योंकि, उस भावना से रहित जीवों का फिर भी संसार में पतन होता है। सो ही कहा है—**जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभरूप बोधि को प्राप्त होकर, प्रमादी होता है वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है**[1]। १। मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में भी कहा है—**अशुभ परिणामों की**

---

१. परमात्मप्रकाश गा० ९ टीका।

दुर्लभां मानुषीं योनिम् । १ । बोधिसमाधिलक्षणं कथ्यते—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति** । एवं संक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता ॥११॥

अथ धर्मानुप्रेक्षां कथयति । तद्यथा—संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानंतसुखाद्यनंतगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्मः । तस्य च भेदाः कथ्यन्ते—अहिंसालक्षणः सागारानगारलक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसंवित्त्यात्मकमोहक्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्मः । अस्य धर्मस्यालाभेऽतीतानन्तकाले **णिच्चिदरधाउसत्त य तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव । सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा** । १ । इति गाथाकथितचतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये परमस्वास्थ्यभावनोत्पन्ननिर्व्याकुलपारमार्थिकसुखविलक्षणानि पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषजनितव्याकुलत्वोत्पादकानिदुःखानि सहमानः सन् भ्रमितोऽयं जीवः । यदा पुनरेवं-

---

अधिकता, संसार की विशालता और बड़ी-बड़ी योनियों की अधिकता, ये सब बातें मनुष्य योनि को दुर्लभ बनाती है । बोधि व समाधि का लक्षण कहते हैं—पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है, और उन्हीं सम्यग्दर्शन आदिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना सो समाधि है । इस प्रकार संक्षेप से दुर्लभ-अनुप्रेक्षा का कथन समाप्त हुआ ॥११॥

अब धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं । संसार में गिरते हुए जीव को उठाकर, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र आदि द्वारा पूज्य अथवा बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त-गुण-रूप मोक्ष पद में जो धरता है वह धर्म है । उस धर्म के भेद कहे जाते हैं—अहिंसा लक्षणवाला, गृहस्थ और मुनि इन लक्षण वाला, उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाला, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय-स्वरूप अथवा शुद्ध आत्मानुभवरूप मोह-क्षोभरहित आत्म परिणाम वाला धर्म है । परम-स्वास्थ्य-भावना से उत्पन्न व व्याकुलतारहित पारमार्थिक सुख से विलक्षण तथा पांचों इन्द्रियों के सुखों की वांछा से उत्पन्न और व्याकुलता करने वाले दुःखों को सहते हुए, इस जीव ने ऐसे धर्म की प्राप्ति न होने से नित्यनिगोद वनस्पति में सात लाख, इतर निगोद वनस्पति में सात लाख, पृथ्वीकाय में सात लाख, जलकाय में सात लाख, तेजकाय में सात लाख, वायुकाय में सात लाख, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख, बे इन्द्रिय तेइन्द्रिय व चौइन्द्रिय में दो-दो लाख, देव, नारकी व तिर्यञ्च में चार-चार लाख तथा मनुष्यों में चौदह लाख योनि[1] इस

---

१. गो० जी० गा० ८९ ।

गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा राजाधिराजार्द्धमाण्डलिकमहामण्डलिकबलदेववासुदेवकामदेवसकलचक्रवर्तिदेवेन्द्रगणधरदेवतीर्थंकरपरमदेवप्रथमकल्याणत्रयपर्यन्तं विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते । तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति । किं बहुना, ये जिनेश्वरप्रणीतं धर्मं प्राप्य दृढमतयो जातास्त एव धन्याः । तथा चोक्तम् **धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे । ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीषाः । १ ।** इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता ॥१२॥

इत्युक्तलक्षणा अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मतत्त्वानुचिन्तनसंज्ञा निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षाः समाप्ताः ।

अथ परीषहजयः कथ्यते—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोश-

---

गाथा में कही हुई चौरासी लाख योनियों में, अतीत अनन्त काल तक परिभ्रमण किया है। जब इस जीव को पूर्वोक्त प्रकार के धर्म की प्राप्ति होती है तब राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव, तीर्थंकर परमदेव के पदों तथा तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक तक अनेक प्रकार के वैभव सुखों को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्त गुणों के स्थानभूत अरहंत पद को और सिद्ध पद को प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रस के लिये रसायन, निधियों की प्राप्ति के लिये निधान, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और चिन्तामणि रत्न है। विशेष क्या कहें, जो जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म को पाकर दृढ़ बुद्धिधारी (सम्यग्दृष्टि) हुए हैं वे ही धन्य हैं। सो ही कहा है—**जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म से जो प्रतिबोध को प्राप्त हुए वे धन्य हैं तथा जिन आत्मानुभव में संलग्न बुद्धि वालों ने धर्म को ग्रहण किया वे सब धन्य हैं। १।** इस प्रकार संक्षेप से धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥१२॥

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाली, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के अनुचिंतन संज्ञा (नाम) वाली और आस्रवरहित–शुद्ध–आत्मतत्त्व में परिणतिरूप संवर की कारणभूत बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन समाप्त हुआ।

अब परीषह–जय का कथन करते हैं—क्षुधा १, प्यास २, शीत ३, उष्ण ४, दंशमशक (डांस–मच्छर) ५, नग्नता ६, अरति ७, स्त्री ८, चर्या ९, निषद्या (बैठना)

वधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानीति द्वाविंशतिपरीषहा विज्ञेयाः । तेषां क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभनिंदाप्रशंसादिसमतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसंवरणचिरंतनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थेनायं निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकार-नित्यानंदलक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परीषहजय इति ।

अथ चारित्रं कथयति । शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमव-स्थानं चारित्रम् । तच्च तारतम्यभेदेन पञ्चविधम् । तथाहि—**सर्वे जीवाः केवलज्ञानमया इति भाव-नारूपेण समतालक्षणं सामायिकम्,** अथवा **परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्पत्याग-रूपसमाधिलक्षणं वा,** निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन रागद्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्तरौद्र-परित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति । **अथ छेदोपस्थापनं कथयति**—यदा युगपत्सम-स्तविकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो

१०, शय्या ११, आक्रोश १२, वध १३, याचना १४, अलाभ १५, रोग १६, तृणस्पर्श १७, मल १८, सत्कारपुरस्कार १९, प्रज्ञा (ज्ञान का मद) २०, अज्ञान २१ और अदर्शन २२ । ये बाईस परीषह जानने चाहिए । इन क्षुधा आदि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा आदि में समता रूप परम सामायिक के द्वारा तथा नवीन शुभ-अशुभ कर्मों के रुकने और पुराने शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा के सामर्थ्य से इस जीव का, निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न, विकार रहित, नित्यानन्दरूप सुखामृत अनुभव से, विचलित नहीं होना, सो परीषहजय है ।

अब चारित्र का कथन करते हैं—शुद्ध उपयोग लक्षणात्मक निश्चय रत्नत्रय-मयी परिणतिरूप आत्मस्वरूप में जो आचरण या स्थिति, सो चारित्र है । यह तारतम्य भेद से पाँच प्रकार का है । तथा—सब जीव केवलज्ञानमय हैं, ऐसी भावना से जो समता परिणाम का होना सो सामायिक है । अथवा परम स्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभ, अशुभ संकल्प-विकल्पों के त्यागरूप जो समाधि (ध्यान), वह सामायिक है । अथवा निर्विकार आत्म-अनुभव के बल से राग द्वेष परिहार (त्याग) रूप सामायिक है । अथवा शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से आर्त्त-रौद्र-ध्यान के त्याग स्वरूप सामायिक है । अथवा समस्त सुख-दुःखों में मध्यस्थ भावरूप सामायिक है । अब छेदोपस्थापन का कथन करते हैं—जब एक ही साथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है, तब 'समस्त हिंसा, असत्य,

विरतिव्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारस्वसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति। अथ परिहारविशुद्धिं कथयति—तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउ य विहारो। १। इति गाथाकथितक्रमेण मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति। अथ सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं कथयति। सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमिति। अथ यथाख्यातचारित्रं कथयति—यथा सहज-

---

चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति सो व्रत है' इन पाँच प्रकार भेद विकल्प रूप व्रतों का छेद होने से राग आदि विकल्परूप सावद्यों से अपने आपको छुड़ा कर निज शुद्ध आत्मा में अपने को उपस्थापन करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेद अर्थात् व्रत का भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से और उसके साधकरूप बहिरङ्ग व्यवहार प्रायश्चित्त से निज आत्मा में स्थित होना, छेदोपस्थापन है। परिहार विशुद्धि का कथन करते हैं—जो जन्म से ३० वर्ष सुख से व्यतीत करके वर्षपृथक्त्व (८ वर्ष) तक तीर्थंकर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व को पढ़कर तीनों संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है। १।[१] इस गाथा में कहे क्रम अनुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूप से जो आत्म-शुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहारविशुद्धि चारित्र है। अब सूक्ष्म-सांपराय चारित्र कहते हैं—सूक्ष्म अतीन्द्रिय निज शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से सूक्ष्म-लोभ नामक सांपराय—कषाय का पूर्णरूप से उपशमन अथवा क्षपण (क्षय) जहां होता है सो सूक्ष्म-सांपराय चारित्र है। अब यथाख्यात चारित्र कहते हैं—

---

१. गो० जी० गा० ४७३ इस प्रकार ऐसा मुनि अड़तीस वर्ष का होने पर परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त होता है। परन्तु किन्हीं आचार्यों के मत से २२ वर्ष की आयु होने पर परिहारविशुद्धि संयम हो जाता है। तथा किन्हीं आचार्यों के मत से मात्र १६ वर्ष की आयु हो जाने पर परिहार विशुद्धि संयम हो जाता है। कहा भी है—कुछ आचार्यों के मत से २२ या १६ वर्ष में परिहारविशुद्धि संयम प्राप्त हो जाता है। [जयधवल २।११९] धवला में भी कहा है—एवमट्ठतीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी परिहारसुद्धिसंजमस्स कालो वुत्तो। के वि आइरिया सोलसवस्सेहि, के वि बावीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडि त्ति भणंति। [धवल ७।१६७] अर्थ—३८ वर्षों से कम पूर्वकोटिप्रमाण परिहारशुद्धिसंयम का काल कहा है। कोई आचार्य १६ वर्षों से और कोई २२ वर्षों से कम पूर्वकोटि प्रमाण कहते हैं।

शुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति ।

इदानीं सामायिकादिचारित्रपञ्चकस्य गुणस्थानस्वामित्वं कथयति । प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये सामायिकचारित्रं भवति छेदोपस्थापनं च, परिहारविशुद्धिस्तुप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये, सूक्ष्मसांपरायचारित्रं पुनरेकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने, यथाख्यातचारित्रमुपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिजिनायोगिजिनाभिधानगुणस्थानचतुष्टये भवतीति । अथ संयमप्रतिपक्षं कथयति—संयमासंयमसंज्ञं दार्शनिकाद्येकादशभेदभिन्नं देशचारित्रमेकस्मिन्नेव पञ्चमगुणस्थाने ज्ञातव्यम् । असंयमस्तु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये भवति । इति चारित्रव्याख्यानं समाप्तम् ।

एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि । यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षण-

---

जैसा निष्कंप सहज शुद्ध-स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया, सो यथाख्यात चारित्र है ।

अब गुणस्थानों में सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का कथन करते हैं—प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिक–छेदोपस्थापन ये दो चारित्र होते हैं । परिहार विशुद्धि चारित्र—प्रमत्त, अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होता है । सूक्ष्म-सांपराय चारित्र—एक सूक्ष्म-सांपराय दसवें गुणस्थान में ही होता है । यथाख्यात चारित्र—उपशांत कषाय, क्षीण कषाय, सयोगिजिन और अयोगिजिन इन चार गुणस्थानों में होता है । अब संयम के प्रतिपक्षी (संयमासंयम और असंयम) का कथन करते हैं—दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमारूप संयमासंयम नाम वाला देश चारित्र, एक पंचम गुणस्थान में ही जानना चाहिए । असंयम—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत–सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में होता है । इस प्रकार चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

इस प्रकार भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग के निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं, वे पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिये । जो व्यवहार रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग

निश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानिभवन्तीति ज्ञातव्यम् । अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी—भगवन्नेतेषु व्रतादिसंवरकारणेषु मध्ये संवरानुप्रेक्षैव सारभूता, सा चैव संवरं करिष्यति किं विशेषप्रपञ्चेनेति । भगवानाह—त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थानां यतीनां तयैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते, तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्याः असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तु होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणीणं वेणइयाणं हुंति बत्तीसं । १ । जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति । अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधो ठिदिकारणं णत्थि । २ । ।।३५।। एवं संवरतत्त्वव्याख्याने सूत्रद्वयेन तृतीयं स्थलं गतम् ।

अथ सम्यग्दृष्टि जीवस्य संवरपूर्वकं निर्जरातत्त्व कथयति—

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ।।३६।।

यथाकालेन तपसा च भुक्तरसं कर्म्मपुद्गलं येन ।
भावेन सडति ज्ञेया तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ।।३६।।

रूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं, वे पुण्य–पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

यहाँ सोम नामक राजसेठ कहता है कि हे भगवन् ! इन व्रत, समिति आदिक संवर के कारणों में संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर कर देगी फिर विशेष प्रपंच से क्या प्रयोजन ? भगवान् नेमिचन्द्र आचार्य उत्तर देते हैं—मन, वचन, काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनि के तो उस संवर अनुप्रेक्षा से ही संवर हो जाता है; किन्तु उसमें असमर्थ जीवों के अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं ।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२, ऐसे कुल मिलाकर तीन सौ तिरेसठ भेद पाखंडियों के हैं ।।१।।[1] योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है और जिसके कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हो गया है, ऐसे उपशांत कषाय व क्षीण कषाय और सयोगकेवली हैं उनमें तत्काल (एक समय वाला) बंध स्थिति का

---

१ गो० क० गा० ८७६ ।

व्याख्या—**णेया** इत्यादिव्याख्यानं क्रियते—**णेया** ज्ञातव्या । का ? **णिज्जरा** भाव निर्जरा । सा का ? निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इत्यध्याहारः । **जेण भावेण** येन भावेन जीवपरिणामेन । किं भवति **सडदि** विशीर्यते पतति गलति विनश्यति । किं कर्तृ ? **कम्मपुग्गलं** कर्मारिविध्वंसकस्वकीयशुद्धात्मनो विलक्षणं कर्मपुद्गल-द्रव्यं । कथंभूतं ? **भुत्तरसं** स्वोदयकालं प्राप्य सांसारिकसुखदुःखरूपेण भुत्तरसं दत्तफलं । केन कारण-भूतेन गलति ? **जहकालेण** स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्म-संवित्तिपरिणामस्य बहिरंगसहकारिकारणभूतेन काललब्धिसंज्ञेन यथाकालेन, न केवलं यथाकालेन

कारण नहीं है ॥२॥[1] ॥३५॥ इस प्रकार संवर तत्त्व के व्याख्यान में दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ ।

अब सम्यग्दृष्टि जीव के संवर-पूर्वक निर्जरा तत्त्व को कहते हैं—

गाथार्थ—आत्मा के जिस भाव से यथा समय (उदय काल में) अथवा तप द्वारा फल देकर कर्म नष्ट होता है, वह भाव (परिणाम) भावनिर्जरा है और कर्म पुद्गलों का झड़ना, गलना द्रव्य निर्जरा है । भावनिर्जरा व द्रव्यनिर्जरा की अपेक्षा निर्जरा दो प्रकार की है ॥३६॥

वृत्त्यर्थ—णेया इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते हैं । **णेया** जानना चाहिये । किसको ? **णिज्जरा** भाव निर्जरा को । वह क्या है ? निर्विकार परम चैतन्य चित्-चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहज–आनन्द–स्वभाव सुखामृत के आस्वाद रूप, वह भाव निर्जरा है । यहाँ 'भाव' शब्द का अध्याहार (विवक्षा से ग्रहण) किया गया है । **जेण भावेण** जीव के जिस परिणाम से क्या होता है ? **सडदि** जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नष्ट होता है । कौन ? **कम्मपुग्गलं** कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले निज शुद्ध-आत्मा से विलक्षण कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य । कैसा होकर ? **भुत्तरसं** अपने उदयकाल में जीव को सांसारिक सुख तथा दुःख रूप रस देकर । किस कारण गलता है ? **जहकालेण** अपने समय पर पकने वाले आम के फल के समान सविपाक निर्जरा की अपेक्षा, अन्तरंग में निज-शुद्ध-आत्म-अनुभव रूप परिणाम के बहिरंग सहकारी कारणभूत काललब्धि रूप यथा समय गलते हैं, मात्र यथा काल से

---

१. गो० क० गा० २५७ ।

तवेण य अकालपच्यमानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरेण समस्तपरद्रव्येच्छानिरोध-लक्षणेन बहिरंगेणान्तस्तत्त्वसंवित्तिसाधकसंभूतेनानशनादिद्वादशविधेन तपसा चेति । **तस्सडणं** कर्म्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा । ननु पूर्वं यदुक्तं **सडदि** तेनैव द्रव्यनिर्जरा लब्धा, पुनरपि **सडणं** किमर्थं भणितम् ? तत्रोत्तरम्—तेन सडदिशब्देन निर्मलात्मानुभूतिग्रहणभावनिर्जराभिधानपरिणामस्य साम-र्थ्यमुक्तं, न च द्रव्यनिर्जरेति । **इदि दुविहा** इति द्रव्यभावरूपेण निर्जरा द्विविधा भवति ।

अत्राह शिष्यः—सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति । तत्रोत्तरम्—अत्रैवमोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या । या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला । यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति, तेन कारणेन सा न ग्राह्या । या तु सरागसद्दृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसारस्थितिं स्तोकां कुरुते ।

ही नहीं गलते किन्तु **तवेण य** बिना समय पके हुए आम आदि फलों के सदृश, अविपाक निर्जरा की अपेक्षा, समस्त परद्रव्यों में इच्छा के रोकने रूप अभ्यन्तर तप से और आत्म-तत्त्व के अनुभव को साधने वाले उपवास आदि बारह प्रकार के बहिरंग तप से भी गलते हैं । **तस्सडणं** उस कर्म का गलना द्रव्य निर्जरा है । शंका—आपने जो पहले **सडदि** ऐसा कहा है उसी से द्रव्यनिर्जरा प्राप्त हो गई, फिर **सडणं** इस शब्द का दुबारा कथन क्यों किया ? समाधान—पहले जो 'सडदि' शब्द कहा गया है, उससे निर्मल आत्मा के अनुभव को ग्रहण करने रूप भाव निर्जरा नामक परिणाम का सामर्थ्य कहा गया है, द्रव्य निर्जरा का कथन नहीं किया गया । **इदि दुविहा** इस प्रकार द्रव्य और भाव स्वरूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये ।

यहां शिष्य पूछता है कि जो सविपाक निर्जरा है, वह तो नरक आदि गतियों में अज्ञानियों के भी होती हुई देखी जाती है । इसलिये सम्यग्ज्ञानियों के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नहीं है । इसका उत्तर यह है—यहां (मोक्ष प्रकरण में) जो संवर-पूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है और जो अज्ञानियों के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है । क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बांधता है । इस कारण अज्ञानियों की निर्जरा का यहां ग्रहण नहीं है । सराग सम्यग्दृष्टियों के जो निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है, (शुभ कर्मों का नाश नहीं करती) फिर भी संसार की स्थिति को थोड़ा करती है अर्थात् जीव के संसार-भ्रमण को घटाती है । उसी भव में तीर्थङ्कर प्रकृति आदि

तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति । वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्यपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति । उक्तं च श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः।
जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं । तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । १ ।
कश्चिदाह—सद्दृष्टीनां वीतरागविशेषणं किमर्थं, **रागादयो हेयो, मदीया न भवन्ति** इति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति । तत्र परिहारः । अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति । स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति, तस्य विनाशे दोषो नास्ति । यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफलं नास्ति । यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति । तथा कोऽपि **रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति** भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति । यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तं—**चक्खुस्स**

विशिष्ट पुण्य बंध का कारण हो जाती है और परम्परा से मोक्ष का कारण है । वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में वह निर्जरा मोक्ष का कारण होती है । सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने कहा है—**अज्ञानी जिन कर्मों का एक लाख करोड़ वर्षों में नाश करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मन-वचन-काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है ।।१।।**

यहां कोई शंका करता है कि सम्यग्दृष्टियों के 'वीतराग' विशेषण किस लिये लगाया है, क्योंकि राग आदि भाव हेय हैं, ये मेरे नहीं हैं ऐसा भेद-विज्ञान होने पर, उसके राग का अनुभव होते हुए भी ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो जाती है ? **समाधान**—अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है । उस दीपक रहित पुरुष को, कुए तथा सर्प आदि का ज्ञान नहीं होता, इसलिए कुए आदि में गिरकर नाश होने में उसका दोष नहीं । हाथ में दीपक वाले मनुष्य का कुए में गिरने आदि से नाश होने पर, दीपक का कोई फल नहीं हुआ । जो कूपपतन आदि से बचता है उसके दीपक का फल है । इसी प्रकार जो कोई मनुष्य **राग आदि हेय हैं, मेरे नहीं हैं** इस भेद-विज्ञान को नहीं जानता, वह तो कर्मों से बंधता ही है । दूसरा कोई मनुष्य भेद-विज्ञान के होने पर भी जितने अंशों में रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशों से वह भेद-विज्ञानी भी बंधता ही है; उसके रागादि के भेद-विज्ञान का भी फल नहीं है । जो भेद-विज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेद-विज्ञान का फल है, ऐसा जानना चाहिए । सो ही कहा है—**मार्ग में सर्प आदि से**

वंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहारो । चक्खू होइ णिरत्थं दठ्ठूण बिले पडंतस्स[1] ।।३६।। एवं निर्जराव्याख्याने सूत्रेणैकेन चतुर्थस्थलं गतम् ।

अथ मोक्षतत्त्वमावेदयति—

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ।।३७।।

सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः ।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्म्मपृथग्भावः ।।३७।।

व्याख्या—यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवतीति वार्तिकम् । तद्यथा—**णेयो स भावमुक्खो** णेयो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः । स कः ? **अप्पणो हु परिणामो** निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो हु स्फुटमात्मनः परिणामः । कथंभूतः ? **सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू** सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघाति-

---

बचना, नेत्रों से देखने का यह फल है; देखकर भी सर्प के बिल में पड़ने वाले के नेत्र निरर्थक हैं ।।३६।। इस प्रकार निर्जरा तत्त्व के व्याख्यान में एक सूत्र द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ ।

अब मोक्षतत्त्व का कथन करते हैं—

गाथार्थ—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भाव मोक्ष जानना चाहिए । कर्मोंका आत्मासे सर्वथा पृथक् होना, द्रव्यमोक्ष है ।।३७।।

वृत्त्यर्थ—यद्यपि सामान्य रूप से सम्पूर्णतया कर्ममल–कलंक–रहित, शरीर रहित आत्मा के आत्यन्तिक–स्वाभाविक–अचिन्त्य–अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों का स्थान रूप जो अवस्थान्तर है, वही मोक्ष कहा जाता है; फिर भी भाव और द्रव्य के भेद से, वह मोक्ष दो प्रकार का होता है, यह वार्त्तिक पाठ है । सो इस प्रकार हैं—**णेयो स भावमुक्खो** वह भावमोक्ष जानना चाहिए । वह कौन ? **अप्पणो हु परिणामो** निश्चय रत्नत्रय रूप कारण समयसाररूप आत्म-परिणाम । वह आत्मा का परिणाम कैसा है ? **सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू** सब द्रव्य–

---

1. भगवती आराधना गा० १२ ।

चतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति । द्रव्यमोक्षं कथयति । **दव्वविमुक्खो** अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति । कोऽसौ ? **कम्मपुहभावो** टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथग्भावो विश्लेषो विघटनमिति ।

तस्य मुक्तात्मनः सुखं कथ्यते । **आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातं ।** १ । कश्चिदाह—इन्द्रियसुखमेव सुखं, मुक्तात्मनामिन्द्रिय-

---

भावरूप मोहनीय आदि चार घातियाकर्मों के नाश का जो कारण है । [1]द्रव्यमोक्ष को कहते हैं—**दव्वविमुक्खो** अयोगी गुणस्थान के अन्त समय में द्रव्यमोक्ष होता है । वह द्रव्यमोक्ष कैसा है ? **कम्मपुहभावो** टङ्कोत्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव स्वरूप परमात्मा से, आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मों का भी सर्वथा पृथक् होना, भिन्न होना या विघटना, सो द्रव्यमोक्ष है ।

उस मुक्तात्मा के सुख का वर्णन करते हैं—**आत्मा—उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-ह्रास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द्व (प्रतिपक्षता) से रहित, अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष, उपमा रहित, अपार, नित्य, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त सारभूत परमसुख उन सिद्धों के होता है** ।।१।।

शंका—जो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, वही सुख है; सिद्ध जीवों के

---

१. परमात्मप्रकाश २।१९४–९५ में लिखा है कि—

अर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरिति एकोऽर्थः। [पृ० २९९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला]

पण्डित दौलतरामजी कृत अनुवाद—अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो, इन चारों शब्दों का अर्थ एक ही है ।

पंचास्तिकाय गा० १५१-५२ पृ० २१८ [श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला] में लिखा है—"केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपं भावमोक्षं प्राप्नोति ।"

अर्थ—..........केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयस्वरूप भावमोक्ष प्राप्त करता है ।

इन सब प्रकरणों से स्पष्ट है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही [पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा] भावमोक्ष की उपलब्धि है । द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इसके पूर्व के समय में [यानी क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ के चरम समय में] भाव मोक्ष जानना चाहिए ।

शरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखं कथं घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—सांसारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवादि-पञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखमत्रैव दृश्यते । पञ्चेन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम् । यच्च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितानां सर्वप्रदेशाह्लादकपारमार्थिकपरमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावना-प्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति ? तत्र प्रत्युत्तरं—यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति । तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति, हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया **खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करणलद्धी य । चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ।१।**

इन्द्रियों तथा शरीर का अभाव है, इसलिये पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धों के कैसे हो सकता है ? इसका **समाधान** देते हैं—सांसारिक सुख तो स्त्री-सेवन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है, किन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों के व्यापार से रहित तथा निर्व्याकुल चित्त वाले पुरुषों को जो सुख है, वह अतीन्द्रिय सुख है, वह इस लोक में भी देखा जाता है । पाँचों इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों से रहित तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थित परम योगियों के राग आदि के अभाव से जो स्वसंवेद्य (अपने अनुभव में आने वाला) आत्मिक सुख है वह विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख है । भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित आत्मा के समस्त प्रदेशों में आह्लाद रूप पारमार्थिक परम सुख में परिणत मुक्त जीवोंके जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेष रूप से अतीन्द्रिय है ।

यहाँ शिष्य कहता है—संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों का बंध होता है, इसी प्रकार कर्मों का उदय भी सदा होता रहता है, शुद्ध आत्म-ध्यान का प्रसंग ही नहीं । तब मोक्ष कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हैं—जैसे कोई बुद्धिमान् शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि 'यह मेरे मारने का अवसर है', इसलिये पुरुषार्थ करके शत्रु को मारता है । इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एक रूप अवस्था नहीं रहती, स्थिति और अनुभाग की न्यूनता होने पर जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं, तब बुद्धिमान् भव्य जीव, आगम भाषा से **क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ हैं, इनमें चार तो सामान्य हैं (सभी जीवों को हो सकती हैं), करण लब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है । १ ।** इस गाथा में कही हुई पाँच

इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावना-विशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति । यत्पुनरन्तः कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जाते अपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तकरणापूर्व-करणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्महननबुद्धि क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति । अन्यदपि दृष्टान्तनवकं मोक्षविषये ज्ञातव्यम्—

रयण दीव दिणयर दहिउ दुद्धउ घीव पहाणु । सुण्णुरुप्पफलिहउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि । १ ।

लब्धियों से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेष रूप खड्ग से पौरुष करके, कर्म शत्रु को नष्ट करता है । अन्तः-कोटा-कोटि-प्रमाण कर्मस्थिति रूप तथा लता व काष्ठ के स्थानापन्न अनुभाग रूप से कर्मभार हल्का हो जाने पर भी यदि यह जोव आगम भाषा से अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक और अध्यात्म भाषा से स्वशुद्ध-आत्मसन्मुख परिणाम रूप ऐसी कर्मनाशक बुद्धि को किसो भी समय नहीं करेगा, तो यह अभव्यत्व गुण का ही लक्षण जानना चाहिये ।[1] अन्य भो नौ दृष्टान्त मोक्ष के विषय में जानने योग्य हैं ।

रत्न, दीपक, सूर्य, दूध, दही, घी, पाषाण, सोना, चांदी, स्फटिकमणि और अग्नि इन नौ दृष्टांतों से जानना चाहिये । १ । (१. रत्न—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रयमयो होने से आत्मा रत्न के समान है । २. दीपक—स्व-पर-प्रकाशक होने से आत्मा दोपक के समान है । ३. सूर्य—केवल-ज्ञानमयी तेज से प्रकाशमान होने से आत्मा सूर्य के समान है । ४. दूध-दही-घी—सार वस्तु होने से परमात्मा रूपी आत्मा घी के समान है । संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है, जैसे दूध व दही में घो रहता है । अतः संसारी आत्मा की अपेक्षा आत्मा दूध या दही के समान है । ५. पाषाण—टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव होनेसे आत्मा पाषाणके समान है । ६. सुवर्ण—कर्म रूपी कालिमा से रहित होने से आत्मा सुवर्ण के समान है । ७. चांदी—स्वच्छ होने से आत्मा चांदी के समान है । ८. स्फटिक—स्फटिक स्वभाव से निर्मल होने पर भो, हरी पीली काली डांक के निमित्त से हरी पोली काली रूप परिणम जाती है और डांक के अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है । इसी प्रकार आत्मा, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, कर्मोदय के निमित्त से राग-द्वेष-मोह रूप परिणमती है और कर्म के

---

१. तथा अभव्य समान भव्यत्व गुण का भी यही लक्षण जानना चाहिये ।

नन्वनादिकाले मोक्षं गच्छतां जीवानां जगच्छून्यं भविष्यतीति ? तत्र परिहारः—यथा भाविकाल-समयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । तथा मुक्तिं गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । इति चेत्तर्हि पूर्वकाले बहवोऽपि जीवा मोक्षं गता इदानीं जगतः शून्यत्वं किं न दृश्यते । किञ्चाभव्यानामभव्यसमानभव्यानां च मोक्षो नास्ति कथं शून्यत्वं भविष्यतीति ।।३७।। एवं संक्षेपेण मोक्षतत्त्वव्याख्यानेनैकसूत्रेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अतः ऊर्ध्वं षष्ठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापप्रकृतिसंख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदम् प्रतिपादयति—

अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है, अतः आत्मा स्फटिक के समान है । ६. अग्नि—जैसे अग्नि ईंधन को जलाती है, इसी प्रकार आत्मा कर्म रूपी ईंधन को जलाती है, अतः आत्मा अग्नि के समान है ।)

शंका—अनादि काल से जीव मोक्ष जा रहे हैं, अतः यह जगत् कभी जीवों से बिलकुल शून्य हो जायेगा ? इसका परिहार—जैसे भविष्यत् काल सम्बन्धी समयों के क्रम से जाने पर यद्यपि भविष्यत्काल के समयों की राशि में कमी होती है फिर भी उसका अन्त नहीं होगा । इसीप्रकार जीवों के मुक्ति में जाने से यद्यपि जगत् में जीव-राशि की न्यूनता होती है, तो भी उस जीवराशि का अन्त नहीं होगा । यदि जीवों के मोक्ष जाने से शून्यता मानते हो तो पूर्वकाल में बहुत जीव मोक्ष गये हैं, तब भी इस समय जगत् में जीवों की शून्यता क्यों नहीं दिखाई पड़ती ? अर्थात् शून्यता नहीं हुई । और भी—अभव्य जीवों तथा अभव्यों के समान दूरानदूर भव्य जीवों का मोक्ष नहीं है । फिर जगत् की शून्यता कैसे होगी[1] ।।३७।। इस प्रकार संक्षेप से मोक्षतत्त्व के व्याख्यान रूप एक सूत्र से पंचम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे छठे स्थल में "गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य पाप रूप दो पदार्थों को और उत्तरार्ध से पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियों की संख्या कहता हूं" इस अभि-प्राय को मन में रखकर, भगवान् इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

---

१. जगत् कभी शून्य नहीं हो सकता इसके लिये विस्तृत कारणप्ररूपणा बहुज्जिनोपदेश पृ० ८४ से ८७ पर लिखी है, अतः वहां देखनी चाहिए ।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥३८॥

शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्यं पापं भवन्ति खलु जीवाः ।
सातं शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च ॥३८॥

व्याख्या—**पुण्णं पाव हवंति खलु जीवा** चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपापबन्धमोक्षादि-पर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मबन्धपर्यायेण पुण्यं पापं च भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः। कथंभूताः सन्तः ? सुहअसुहभावजुत्ता, **उद्वमिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि । १ । पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् । दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम् । २ ।** इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः । इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति **सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं** सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति **पराणि पावं च** तस्मादपराणि कर्माणि पापं

गाथार्थ—शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव, पुण्य-पाप रूप होते हैं । सातावेदनीय, शुभ-आयु, शुभ-नाम तथा उच्च-गोत्र, ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं । शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं ॥३८॥

वृत्त्यर्थ—**पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा** चिदानन्द एक-सहज-शुद्ध-स्वभाव से यह जीव, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि पर्यायरूप विकल्पोंसे रहित है, तो भी परम्परा—अनादि कर्मबन्ध पर्याय से पुण्य-पाप रूप होते हैं । कैसे होते हुए जीव पुण्य-पाप को धारण करते हैं ? **सुहअसुहभावजुत्ता, मिथ्यात्व रूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो ॥१॥ पाँच महाव्रतों का पालन करो, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्णरूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियों को विजय करो तथा बाह्य--अभ्यन्तर तप को सिद्ध करने में उद्योग करो ॥२॥** इस प्रकार दोनों आर्याछन्दों में कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त जीव, पुण्य-पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य-पाप रूप हो जाते हैं । अब पुण्य तथा पाप के भेद कहते हैं । **सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं** साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च-गोत्र ये कर्म तो पुण्य रूप हैं । **पराणि पावं च** इनसे भिन्न शेष पाप कर्म हैं । इस प्रकार--साता वेदनीय एक, तिर्यञ्च-मनुष्य-देव ये तीन आयु,

चेति । तद्यथा—सद्वेद्यमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयशःकीर्तितीर्थकरत्वादिनामप्रकृतीनां सप्तत्रिंशत् तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विज्ञेयाः । शेषा द्व्यशीतिपापमिति । तत्र 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य' इत्युक्तलक्षणषोडशभावनोत्पन्नतीर्थंकरनामकर्मैव विशिष्टं पुण्यम् । षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया **मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्काद्यश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः । १ ।** इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम् । 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्', कथं पुण्यं करोतीति ? तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं

सुभग-यशःकीर्ति-तीर्थंकर आदि नाम कर्म की सैंतीस[1] और उच्च गोत्र ऐसे समुदाय से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ जाननी चाहिये । शेष ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं ।

'दर्शनविशुद्धि १, विनयसंपन्नता २, शील और व्रतों का अतिचार रहित आचरण ३, निरन्तर ज्ञान उपयोग ४, संवेग ५, शक्ति अनुसार त्याग ६, शक्ति अनुसार तप ७, साधु-समाधि ८, वैयावृत्य करना ९, अर्हन्त-भक्ति १०, आचार्य-भक्ति ११, बहुश्रुत-भक्ति १२, प्रवचन-भक्ति १३, आवश्यकों में हानि न करना १४, मार्ग-प्रभावना १५ और प्रवचन-वात्सल्य १६ ये तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के कारण हैं' इन सोलह भावनाओं से उत्पन्न तीर्थङ्कर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है । इन सोलह भावनाओं में, परमागम भाषा से **तीन मूढता, आठ मद, ६ अनायतन और आठ शंका आदि दोष ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं ।।१।।** इस श्लोक में कहे हुए पच्चीस दोषों से रहित तथा अध्यात्म भाषा से निज शुद्ध-आत्मा में उपादेयरूप रुचि, ऐसी सम्यक्त्व की भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिये ।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है ? युक्ति सहित **समाधान**—जैसे कोई मनुष्य अन्य देश में विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों का, उस स्त्री की प्राप्ति के लिये दान-

---

१. वे ३७ ये हैं—मनुष्य गतिद्विक, देवगतिद्विक, पांच शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, समचतुरस्रसंस्थान, ३ अंगोपांग, शुभ विहायोगति, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत, त्रसचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर ।

(गो० ४२-४४; स० सि० ८।२५-२६)

दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिः अप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च, परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां (कृषकानां) पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरिवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति । किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनो भावनामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति । मिथ्यादृष्टिस्तु तीव्रनिदानबन्धपुण्येन भोगं प्राप्य पश्चादर्द्धचक्रवर्तिरावणादिवन्नरकं गच्छतीति । एवमुक्तलक्षणपुण्य-

---

सम्मान आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध-आत्मा को ही भाता है; परन्तु जब चारित्र मोह के उदय से उस निज-शुद्धात्म-भावना भाने में असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्म स्वरूप अर्हन्त-सिद्धों की तथा उनके आराधक आचार्य-उपाध्याय-साधु की परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय कषायों से बचने के लिए, पूजा दान आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है। उनसे और भोगों की वांछा आदि रूप निदान रहित परिणामों से तथा निःस्पृह वृत्ति से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है, जैसे किसान चावलों के लिये खेती करता है, तो भी बिना इच्छा बहुत सा पलाल मिल ही जाता है। उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लोकान्तिक देव आदि की विभूति प्राप्त करके विमान तथा परिवार आदि संपदा को जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च महाविदेहों में जाकर देखता है। प्रश्न—क्या देखता है ? उत्तर—वह यह समवसरण है, वे ये वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे ये भेद-अभेद रत्नत्रय के आराधक गणधर देव आदि हैं; जो पहले सुने थे, वे आज प्रत्यक्ष देखे, ऐसा मानकर धर्म-बुद्धि को विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थानके योग्य आत्मभावना को न छोड़ता हुआ, भोग भोगता हुआ भी धर्मध्यान से काल को पूर्ण कर, स्वर्ग से आकर, तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है, तो भी पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट–भेदज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता, अतः जिन–दीक्षा धारणकर पुण्य-पाप से रहित निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष जाता है। मिथ्यादृष्टि तो, तीव्र निदानबंध वाले पुण्य से भोग प्राप्त करने के पश्चात् अर्ध-चक्रवर्ती रावण आदि के समान नरक

पापपदार्थद्वयेन सह पूर्वोक्तानि सप्ततत्त्वान्येव नव पदार्था भवन्तीति ज्ञातव्यम् ।

इति श्री नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे "आसवबंधरण" इत्यादि एका सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलषट्कं चेति समुदायेनैकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थ-प्रतिपादकनामा द्वितीयोमहाधिकारः समाप्तः ॥२॥

को जाता है। एवं उक्त लक्षण वाले पुण्य-पाप रूप दो पदार्थ सहित पूर्वोक्त सात तत्त्व ही ९ पदार्थ हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिये ॥३८॥

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव—विरचित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में 'आसव-बंधण' आदि एक सूत्रगाथा, तदनन्तर १० गाथाओं द्वारा ६ स्थल, इस तरह समुदाय रूप से ११ गाथाओं द्वारा सात तत्त्व, नौ पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाला दूसरा महाअधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

तृतीयः अधिकारः ।

अतः ऊर्ध्वं विंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति । तत्रादौ सम्मद्दंसण इत्याद्यष्टगाथाभिर्निश्चयमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुख्यत्वेन प्रथमः अन्तराधिकारस्ततः परम् दुविहं पि मुक्खहेउं इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन द्वितीयोऽन्तराधिकारः । इति तृतीयाधिकारे समुदायेन पातनिका ।

अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि ।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रिकमयः निजः आत्मा ॥३९॥

तीसरा अधिकार

अब आगे बीस गाथाओं तक मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं। उसके प्रारम्भ में सम्मद्दंसणणाणं इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा प्रधानता से निश्चय मोक्ष-मार्ग और व्यवहार मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है। उसके अनन्तर दुविहं पि मुक्खहेउं आदि बारह गाथाओं से ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यान के फल को मुख्यता से कहने वाला द्वितीय अन्तराधिकार है। इसप्रकार इस तृतीय अधिकार की समुदाय से भूमिका है।

अब प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहार मोक्ष-मार्ग का और उत्तरार्ध से निश्चय मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं—

गाथार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनोंके समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जानो ॥३९॥

व्याख्या—सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणं, हे शिष्य ! जानीहि व्यवहारनयात् । **णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा** निश्चयतस्तत्त्रितयमयो निजात्मेति । तथाहि—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः । निजनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । अथवा स्वशुद्धात्मभावनासाधकवहिर्द्रव्याश्रितो व्यवहारमोक्षमार्गः । केवलस्वसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितसुखानुभूतिरूपोनिश्चय मोक्षमार्गः । अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः । एवं संक्षेपेण व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलक्षणं ज्ञातव्यमिति ।।३९।।

अथाभेदेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वशुद्धात्मैव तेन कारणेन निश्चयेनात्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इत्याख्याति । अथवा पूर्वोक्तमेव निश्चयमोक्षमार्गं प्रकारान्तरेण दृढयति—

वृत्त्यर्थः—सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा हे शिष्य ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो । **णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनमयी निज आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है । तथा—श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और व्रत आदि रूप आचरण, इन विकल्पमयी **व्यवहार मोक्ष-मार्ग है** । निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्रपरिणति रूप **निश्चय मोक्ष-मार्ग है** । अथवा स्वशुद्धात्म-भावना का साधक व बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहार मोक्ष-मार्ग है । मात्र स्वानुभव से उत्पन्न व रागादि विकल्पों से रहित सुख अनुभवन रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है । अथवा धातु-पाषाण से सुवर्ण प्राप्ति में अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहार मोक्ष-मार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति रूप साध्य, वह निश्चय मोक्ष-मार्ग है । इस प्रकार संक्षेप से व्यवहार तथा निश्चय मोक्ष-मार्ग का लक्षण जानना चाहिये ।।३९।।

अब अभेद से सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप, निज शुद्ध-आत्मा ही है, इस कारण निश्चय से आत्मा ही निश्चय मोक्ष-मार्ग है, इस प्रकार कथन करते हैं । अथवा पूर्वोक्त निश्चय मोक्ष-मार्ग को ही अन्य प्रकार से दृढ़ करते हैं—

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि ।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात् तत्त्रिकमयः भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥४०॥

व्याख्या:—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकीयशुद्धात्मानं मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये । **तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा** तस्मात्तत्त्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि । अथ विस्तरः—रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखीऽहमिति निश्चयरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसकल्प–विकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् । इत्युक्तलक्षणं निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मानं विहायान्यत्र घटपटादिबहिर्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्ततः कारणादभेदनयेनानेकद्रव्यात्म-

---

गाथार्थः—आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥४०॥

वृत्त्यर्थः—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि निज शुद्ध-आत्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है । **तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा** इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो । इसका विस्तृत वर्णन—'राग आदि विकल्प रहित, चित्चमत्कार भावना से उत्पन्न, मधुर रस के आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हूं' इसप्रकार निश्चय रुचि सम्यग्दर्शन है और स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा उसी सुख का राग आदि समस्त विभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है । इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए जो भोग आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न हुए संकल्प–विकल्प जाल के त्याग द्वारा, उसी सुख में रत-सन्तुष्ट-तृप्त तथा एकाकार रूप परम समता भाव से द्रवीभूत (भीगे) चित्त का पुनः पुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है । इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले जो रत्नत्रय हैं वे शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य घट, पट आदि बाह्य द्रव्यों में नहीं रहते, इस कारण अभेद से अनेक द्रव्यमयी एक पेय (बादाम, सौंफ, मिश्री, मिर्च आदि रूप ठंडाई) के समान, वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग-

कैकपानकवत्तदेव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव सम्यक्चारित्रं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशुद्धात्मानमेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥४०॥

एवं प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं संक्षेपेण व्याख्याय तदनन्तरं द्वितीयस्थले गाथाषट्कपर्यन्तं सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति । तत्रादौ सम्यक्त्वमाह—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥४१॥

व्याख्या—**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चलमलिनागाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम् । **रूवमप्पणो तं तु** तच्चाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तु; पुनः कस्य ? आत्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थः । तस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं

ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है । इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले निज शुद्ध-आत्मा को ही मुक्ति का कारण जानो ॥४०॥

इस प्रकार प्रथम स्थल में दो गाथाओं द्वारा संक्षेपसे निश्चय मोक्ष-मार्ग और व्यवहार मोक्ष-मार्गका स्वरूप व्याख्यान करके अब आचार्य दूसरे स्थल में छह गाथाओं तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का क्रम से वर्णन करते हैं । उनमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—

गाथार्थः—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है । वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर (संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यग्ज्ञान होता है ॥४१॥

वृत्त्यर्थः—**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं** वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्त्वों में, चल-मलिन-अगाढ रहित श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा 'जो जिनेन्द्र ने कहा वही है, जिस प्रकार से जिनेन्द्र ने कहा है उसी प्रकार है' ऐसी निश्चय रूप बुद्धि सम्यग्दर्शन है; **रूवमप्पणो तं तु** वह सम्यग्दर्शन अभेद नय से स्वरूप है; किसका स्वरूप है ? आत्मा का, आत्मा का परिणाम है । उस सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य अथवा

वर्णयति । **दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि** यस्मिन् सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग् भवति स्फुटं । कथंभूतं सम्यग्भवति ? **दुरभिणिवेसविमुक्कं** चलितप्रतिपत्तिगच्छत्तृणस्पर्शशुक्तिकाशकलरजतविज्ञानसदृशैः संशयविभ्रमविमोहैर्मुक्तं रहितमित्यर्थः ।

इतो विस्तरः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं क्रियते । तथाहि— गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्राः पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, ज्योतिष्कव्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि मीमांसान्यायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव । यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम् । ततश्च **जयति**

माहात्म्य को दिखाते हैं—**दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि** जिस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान सम्यक् हो जाता है । 'सम्यक्' किस प्रकार होता है ? **दुरभिणिवेसविमुक्कं** (यह पुरुष है या काठ का ठूंठ है, ऐसे दो कोटि रूप) चलायमान संशयज्ञान, गमन करते हुए तृण आदिक के स्पर्श होने पर, यह निश्चय न होना कि किसका स्पर्श हुआ है—ऐसा विभ्रम (अनध्यवसाय) ज्ञान तथा सीप के टुकड़े में चांदी का ज्ञान—ऐसा विमोह (विपर्यय) ज्ञान, इन तीनों दोषों से (दूषित ज्ञानों से) रहित हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हो जाता है ।

विस्तार से वर्णन—'सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है' यह जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—पाँचसौ–पाँचसौ ब्राह्मणों के पढ़ाने वाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान् चारों वेद–ज्योतिष्क–व्याकरण आदि छहों अङ्ग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रन्थ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा न्यायविस्तर आदि समस्त लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था । परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्री महावीर स्वामी तीर्थङ्कर परमदेव के समवसरण में मानस्तम्भ के देखने मात्र से ही आगम-भाषा में दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, तब उनका वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया । सम्यग्ज्ञान होते ही **जयति भगवान्** इत्यादि रूप से भगवान् को

भगवान् इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोऽपि गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचनां कृतवान्; पश्चान्निश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्षं गताः। शेषः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणा जिनदीक्षां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः। अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति। एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।

तच्च सम्यक्त्वं पंचविंशतिमलरहितं भवति तद्यथा—देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति। तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। कथमिति चेत्? रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता,

---

नमस्कार करके, श्री जिनदीक्षा धारण करके केशलोंच के अनन्तर ही मति–श्रुत–अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान तथा सात ऋद्धि के धारक होकर तीनों ही गणधर हो गये। गौतमस्वामी ने भव्यजीवों के उपकार के लिये द्वादशाङ्गश्रुत की रचना की, फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए। वे पन्द्रह सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि-दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग या मोक्षमें गये। ग्यारह अङ्गों का पाठी भी अभव्यसेन मुनि सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी हो रहा। इसप्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, (समता, कषायों की मन्दता) ध्यान आदि वे सब सम्यक् हो जाते हैं। विष मिले हुए दुग्ध के समान, सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिये।

वह सम्यक्त्व पच्चीस दोषों से रहित होता है। उन पच्चीस दोषों में देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता तथा समयमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषरहित, अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुण सहित वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति-पूजा-लाभ-रूप-लावण्य-सौभाग्य-पुत्र-स्त्री-राज्य आदि सम्पदा की प्राप्तिके लिये, रागद्वेष युक्त तथा आर्त्त रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल चंडिका आदि मिथ्यादृष्टि देवों की, आराधना करता है; उस आराधना को देवमूढ़ता कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते? उत्तर—रामचन्द्र और लक्ष्मण के विनाश के लिये रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की; कौरवों ने

कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्वयोऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम् । तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता [1]नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति । अथ **लोकमूढत्वं** कथयति । गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति **तल्लोकमूढत्वं** विज्ञेयम् । अन्यदपि लौकिकपारमार्थिकहेयोपादेयस्वपरज्ञानरहितानामज्ञानिजनानां प्रवाहेन यद्धर्मानुष्ठानं तदपि लोकमूढत्वं विज्ञेयमिति । अथ **समयमूढत्वमाह** । अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं **समयमूढत्वमिति** । एवमुक्तलक्षण मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्टयवस्थायां परिहरणीयमिति । त्रिगुप्तावस्थालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्दे-

---

पांडवों का सत्तानाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की; तथा कंस ने कृष्ण नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं की आराधना की; परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पांडव और कृष्णनारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ । रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्व भव के पुण्य द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये । अब **लोकमूढ़ता** कहते हैं—'गंगा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रातःकाल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में जलकर मरना, गाय की पूँछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथिवी-अग्नि और बड़ वृक्ष आदि की पूजा करना, ये सब पुण्य के कारण हैं' इस प्रकार जो कहते हैं उसको **लोकमूढ़ता** जानना चाहिये । लौकिक–पारमार्थिक, हेय-उपादेय व स्व-पर ज्ञानरहित अज्ञानी जनों की कुल परिपाटी से आया हुआ और अन्य भी जो धर्म आचरण है उसको भी लोकमूढ़ता जानना चाहिये । अब **समयमूढ़ता** (शास्त्रमूढ़ता या धर्ममूढ़ता) कहते हैं—अज्ञानी लोगों को चित्त-चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने-वाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि को देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़-कर, मिथ्यादेवों को, मिथ्या-आगम को और खोटा तप करने वाले कुलिंगियों को भय-वांछा-स्नेह और लोभ से धर्म के लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना, सो **समयमूढ़ता** है । इन उक्त तीन मूढ़ताओं को सरागसम्यग्दृष्टि अवस्था में त्यागना चाहिये । मन-वचन-काय-गुप्ति रूप अवस्था वाले वीतराग सम्यक्त्व के प्रकरण में,

---

१. 'आराधना न कृता' इति पाठान्तरम् ।

वतामूढरहितत्वं विज्ञेयम् । तथैव च मिथ्यात्वरागादिमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थानं लोकमूढरहितत्वं विज्ञेयम् । तथैव च समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परूपपरभावत्यागेन निर्विकारतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणपरमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायनं गमनं परिणमनं समयमूढरहितत्वं बोद्धव्यम् । इति मूढत्रयं व्याख्यातम् ।

अथ मदाष्टस्वरूपं कथ्यते । विज्ञानैश्वर्यज्ञानतपःकुलबलजातिरूपसंज्ञं मदाष्टकं सरागसम्यग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति । वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्पजालपरिहारेण ममकाराहङ्काररहिते स्वशुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टकत्याग इति । ममकाराहङ्कारलक्षणं कथयति । **कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहङ्कारलक्षणमिति ।**

अथानायतनषट्कं कथयति । मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधका, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी,

---

अपना निरंजन तथा निर्दोष परमात्मा ही देव है ऐसी निश्चय बुद्धि ही देवमूढ़ता का अभाव जानना चाहिये । तथा मिथ्यात्व राग आदि रूप मूढ़भावों का त्याग करने से जो निज शुद्ध-आत्मा में स्थिति है, वही लोकमूढ़ता से रहितता है । इसीप्रकार सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प रूप परभावों के त्याग से तथा निर्विकार–वास्तविक–परमानन्दमय परम–समता–भावसे निज शुद्ध-आत्मा में ही जो सम्यक् प्रकार से अयन, गमन अथवा परिणमन है, उसको समयमूढ़ता का त्याग समझना चाहिये । इसप्रकार तीन मूढ़ता का व्याख्यान हुआ ।

अब आठ मदों का स्वरूप कहते हैं—विज्ञान (कला) १, ऐश्वर्य (धन सम्पत्ति) २, ज्ञान ३, तप ४, कुल ५, बल ६, जाति ७ और रूप ८; इन आठों संबंधी मदों का त्याग सरागसम्यग्दृष्टियों को करना चाहिए । मान कषाय से उत्पन्न होने वाले मद मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्प-समूह, उनके त्याग द्वारा, ममकार–अहंकार से रहित निज शुद्ध-आत्मा में भावना ही वीतराग सम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है । ममकार तथा अहंकार का लक्षण कहते हैं—कर्मजनित देह, पुत्र–स्त्री आदि में 'यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है' इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो 'मैं गोरा हूं, मोटा हूं, राजा हूं' इस प्रकार मानना सो अहंकार का लक्षण है ।

अब छह अनायतनों का कथन करते हैं—मिथ्यादेव १, मिथ्यादेवों के सेवक

मिथ्यागमो, मिथ्यागमधराः पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं सरागसम्यग्दृष्टीनां त्याज्यं भवतीति। वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनः समस्तदोषायतनभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायरूपायतनानां परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति। **अनायतनशब्दस्यार्थः** कथ्यते। सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति।

अतः परं **शङ्काद्यष्टमलत्यागं** कथयति। निःशङ्काद्यष्टगुणप्रतिपालनमेव शङ्काद्यष्टमलत्यागो भण्यते। तद्यथा—रागादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति, ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यैः शङ्का संशयः सन्देहो न कर्त्तव्यः। तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनर**ञ्जनचौरकथा प्रसिद्धा**। **तत्रैव विभीषणकथा**। तथाहि—सीताहरणप्रघट्टके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह संग्रामप्रस्तावे विभीषणेन विचारितं रामस्तावदष्टमबलदेवो

२, मिथ्यातप ३, मिथ्यातपस्वी ४, मिथ्याशास्त्र ५ और मिथ्याशास्त्रों के धारक ६; इस प्रकार के छह अनायतन सरागसम्यग्दृष्टियों को त्याग करने चाहिये। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के तो, सम्पूर्ण दोषोंके स्थानभूत मिथ्यात्व–विषय–कषायरूप आयतनों के त्यागपूर्वक, केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के स्थानभूत निज शुद्ध-आत्मा में निवास ही, अनायतनों को सेवा का त्याग है। अनायतन शब्द के अर्थ को कहते हैं—सम्यक्त्व आदि गुणों का आयतन घर–आवास–आश्रय (आधार) करने का निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत 'अनायतन' है।

अब इसके अनन्तर शंका आदि आठ दोषों के त्याग का कथन करते हैं—निःशंक आदि आठ गुणों का जो पालन करना है, वही शंकादि आठ दोषों का त्याग कहलाता है। वह इस प्रकार है—राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलने में कारण हैं और ये दोनों ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव में नहीं हैं; इस कारण श्री जिनेन्द्र देव से निरूपित हेयोपादेयतत्त्व में (यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, इस प्रकार के तत्त्व में), मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्यजीवोंको शंका, संशय या संदेह नहीं करना चाहिये। यहाँ शङ्का दोष के त्याग के विषय में **अंजन चोर की कथा** शास्त्रों में प्रसिद्ध है। **विभीषण की कथा** भी इस प्रकरण में प्रसिद्ध है। तथा—सीता हरण के प्रसंग में जब रावण का राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध करने का अवसर आया, तब विभीषण ने विचार किया कि रामचन्द्र तो आठवें बलदेव हैं और लक्ष्मण आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवां प्रतिनारायण है। प्रतिनारायण का मरण नारायण के हाथ से होता है,

लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणश्चाष्टमः प्रतिवासुदेव इति । तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्
मरणमिति जैनागमे कथितमास्ते, तन्मिथ्या न भवतीति निःशङ्को भूत्वा, त्रैलोक्यकण्टकं रावणं
कीयज्येष्ठभ्रातरं त्यक्त्वा, त्रिंशदक्षौहिणीप्रमितचतुरंगबलेन सह स रामस्वामिपार्श्वे गत इति । त
देवकीवसुदेवद्वयं निःशङ्कं ज्ञातव्यम् । तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मारणनिमित्तं कंसेन प्रार्थ
कृता तदा ताभ्यां पर्यालोचितं मदीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जरासिन्धुना
नवमप्रतिवासुदेवस्य कंसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भणितं तिष्ठतीति, तथैवातिमुक्तभट्टारकै
कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम् । तथा शेषभव्यैरपि जिनागमे शंका न कर्तव्येति
इदं व्यवहारेण निःशंकितत्वं व्याख्यानम् । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिःशंकागुणस्य सहकारि
नेहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदनाकस्मिक अभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीष
प्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनैव **निशंकगुणो** ज्ञातव्य इति ।।१।।

अथ **निष्कांक्षितागुण** कथयति । इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकांक्षानिदानत्यागेन केवलज्ञा

ऐसा जैन शास्त्रों में कहा गया है, वह मिथ्या नहीं हो सकता, इस प्रकार निःश
होकर अपने बड़े भाई तीनलोक के कंटक 'रावण' को छोड़कर, अपनी तीस अक्षौहिण
चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे) सेना सहित रामचन्द्र के समीप चला गया
इसी प्रकार **देवकी** तथा **वसुदेव** भी निःशंक जानने चाहिये । जब कंस ने देवकी
बालक को मारने के लिये प्रार्थना की, तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया
हमारा पुत्र नवमा नारायण होगा और उसके हाथ से जरासिंधु नामक नवमे प्रतिनार
यण का और कंस का भी मरण होगा; यह जैनागम में कहा है और श्री भट्टार
अतिमुक्त स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है, इसप्रकार निश्चय करके कंस को अपन
बालक देना स्वीकार किया । इसी प्रकार अन्य भव्य जीवों को भी जैन-आगम में शंक
नहीं करनी चाहिये । यह व्यवहारनय से निःशङ्कित अंग का व्याख्यान किया । निश्च
नय से उस व्यवहार निःशंक गुण की सहायता से, इस लोक का भय १, परलोक
भय २, अरक्षा का भय ३, अगुप्ति (रक्षा स्थान के अभाव का) भय ४, मरण भय
व्याधि-वेदना भय ६, आकस्मिक भय ७ । इन सात भयों को छोड़कर घोर उपस
तथा परीषहों के आजाने पर भी, शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय को भावना को
निःशंकित गुण जानना चाहिये ।।१।।

अब निष्कांक्षित गुण का कथन करते हैं—इस लोक तथा परलोक सम्बन्
आशारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग द्वारा केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों की प्रकटता

अनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं दानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं **निष्कांक्षागुणो** भण्यते । तथा**नन्तमती-कन्याकथा प्रसिद्धा** । द्वितीया च **सीता महादेवी कथा** । सा कथ्यते । सीता यदा लोकापवादपरिहारार्थं दिव्ये शुद्धा जाता तदा रामस्वामिना दत्तं पट्टमहादेवीविभूतिपदं त्यक्त्वा सकलभूषणानगारकेवलिपादमूले कृतान्तवक्रादिराजभिस्तथा बहुराज्ञीभिश्च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा शशिप्रभाधार्मिकासमुदायेन सह ग्रामपुरखेटकादिविहारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनया द्विषष्टिवर्षाणि जिनसमयप्रभावनां कृत्वा पश्चादवसाने त्रयस्त्रिंशद्दिवसपर्यन्तं निर्विकारपरमात्मभावनासहितं संन्यासं कृत्वाऽच्युताभिधानषोडशस्वर्गे प्रतीन्द्रतां याता । ततश्च निर्मलसम्यक्त्वफलं दृष्ट्वा धर्मानुरागेण नरके रावणलक्ष्मणयोः संबोधनं कृत्वेदानीं स्वर्गे तिष्ठति । अग्रे स्वर्गादागत्य सकलचक्रवर्ती भविष्यति । तौ च रावणलक्ष्मीधरौ तस्य पुत्रौ भविष्यतः । ततश्च तीर्थंकरपादमूले पूर्वभवान्तरं दृष्ट्वा पुत्रद्वयेन सह परिवारेण च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा भेदाभेदरत्नत्रयभावनया पञ्चानुत्तरविमाने त्रयोऽप्यहमिन्द्रा भविष्यन्ति । तस्मादागत्य रावणस्तीर्थंकरो भविष्यति, सीता च गणधर इति, लक्ष्मीधरो धातकीखण्डद्वीपे तीर्थंकरो भविष्यति । इति व्यवहारनिष्कांक्षितागुणो विज्ञातव्यः । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य

मोक्ष के लिये दान-पूजा-तपश्चरण आदि करना, **निष्कांक्षित गुण** कहलाता है । इस गुण में **अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध है** । दूसरी **सीता देवी की कथा है** । उसे कहते हैं—लोक की निन्दाको दूर करने के लिये सीता अग्नि-कुण्डमें प्रवेश होकर जब निर्दोष सिद्ध हुई, तब श्री रामचन्द्र द्वारा दिये गए पट्ट महारानी पद को छोड़कर, केवलज्ञानी श्री सकलभूषण मुनि के पादमूल में, कृतान्तवक्र आदि राजाओं तथा बहुत सी रानियों के साथ, जिनदीक्षा ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह सहित ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार द्वारा भेदाभेदरूप रत्नत्रय की भावना से बासठ वर्ष तक जिनमत की भावना करके, अन्त समय में तेंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा के ध्यानपूर्वक समाधि-मरण करके अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई । वहां निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्मके अनुराग से नरक में जाकर सीताने रावण और लक्ष्मण को सम्बोधा । सीता अब स्वर्ग में है । आगे सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मण के जीव उसके पुत्र होंगे । पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में अपने पूर्वभवों को देखकर, परिवार सहित दोनों पुत्र तथा सीता के जीव जिनदीक्षा ग्रहण करके, भेदाभेदरत्नत्रयको भावना से वे तीनों पंच-अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होंगे । वहाँ से आकर रावण तीर्थङ्कर होगा और सीता का जीव गणधर होगा । लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थङ्कर होंगे । इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षितगुण का स्वरूप जानना चाहिये । उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुण की सहायता

सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोषः स एव **निष्कांक्षा गुण** इति ॥२॥

अथ **निर्विचिकित्सागुणं** कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते । यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु [1]वस्त्राप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा भाव निर्विचिकित्सा भण्यते । अस्य व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य विषय **उद्दायनमहाराजकथा रुक्मिणीमहादेवीकथा** चागमप्रसिद्धा ज्ञातव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं **निर्विचिकित्सागुण** इति ॥३॥

इतः परं **अमूढदृष्टिगुणं** कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं

से देखे-सुने-अनुभव किये हुए पाँचों इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंके त्याग से तथा निश्चय-रत्नत्रय को भावना से उत्पन्न हुए पारमार्थिक व निज–आत्मिक सुखरूपी अमृत रस में चित्त का संतोष होना, वही निश्चय से **निष्कांक्षागुण** है ॥२॥

अब **निर्विचिकित्सा गुण** कहते हैं। भेद–अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों की दुर्गन्ध तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभावसे यथा योग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। जैन मत में सब अच्छी-अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदि का न करना यही दूषण है, इत्यादि बुरे भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना वह भाव–निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण को पालने के विषय में **उद्दायन राजा** तथा **रुक्मिणी** (कृष्ण की पटरानी) की कथा शास्त्र में प्रसिद्ध जाननी चाहिये। इसी व्यवहारनिर्विचिकित्सा गुण के बल से समस्त राग-द्वेष आदि विकल्परूप तरङ्गों का त्याग करके, निर्मल आत्मानुभव रूप निजशुद्ध-आत्मा में जो स्थिति वही निश्चय **निर्विचिकित्सा गुण** है ॥३॥

अब **अमूढदृष्टि गुण** कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव–कथित शास्त्र से बहिर्भूत कुदृष्टियों के द्वारा बनाये हुए तथा अज्ञानियों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करने वाले

---

१. वस्त्रप्रावरणं इत्यपि पाठः ।

धातुवादखन्यवादहरमेखलक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्धया तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते। तत्र चोत्तर-मथुरायां **उवुरुलिभट्टारकरेवतीश्राविकाचन्द्रप्रभनामविद्याधरब्रह्मचारिसम्बन्धिनी कथा** प्रसिद्धेति। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारामूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्त-मिथ्यात्वरागादिशुभाशुभसंकल्पविकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्ति-रूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति। **सङ्कल्पविकल्प-लक्षणं कथ्यते। पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति।** अथवा वस्तुवृत्त्या सङ्कल्प इतिकोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः ॥४॥

अथोपगूहनगुणं कथयति। भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्, तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशुन्यं दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थी दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहार-

---

रसायन शास्त्र, खन्यवाद (खानिविद्या), हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्रों को देखकर तथा सुनकर, जो कोई मूढभाव द्वारा धर्म–बुद्धि से उनमें प्रतीति तथा भक्ति नहीं करता, उसी को व्यवहार से 'अमूढ़दृष्टि' कहते हैं। इस विषय में, उत्तर मथुरा में **उवुरुलि भट्टारक** तथा **रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी सम्बन्धी कथायें** शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इसी व्यवहार अमूढ़दृष्टि गुण के प्रसाद से आत्म-तत्त्व और शरीरादिक बहिर्तत्त्व का निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण मिथ्यात्व–राग आदि तथा शुभ-अशुभ संकल्प–विकल्पोंसे इष्टबुद्धि–आत्मबुद्धि–उपादेय-बुद्धि–हितबुद्धि और ममत्वभाव को छोड़कर, मन-वचन-काय-गुप्ति के द्वारा विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावमयी निज आत्मामें निश्चल ठहरना, निश्चय अमूढदृष्टि गुण है। संकल्प-विकल्प के लक्षण कहते हैं—**पुत्र, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों में 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना, संकल्प है। अन्तरङ्ग में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार हर्ष–विषाद करना, विकल्प है।** अथवा संकल्प का वास्तव में क्या अर्थ है ? वह विकल्प ही है अर्थात् संकल्प, विकल्प की ही पर्याय है ॥४॥

अब उपगूहन गुण का कथन करते हैं। भेद–अभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्म-पालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त से जो धर्म की चुगली, निन्दा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल, शक्ति के अनुसार, धन से अथवा धर्मोपदेश

नयेनोपगूहनं भण्यते । तत्र मायाब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारकप्रतिमालग्नरत्नहरणे कृते सत्युपगूहनविषये **जिनदत्तश्रेष्ठिकथा** प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रजनन्या ज्येष्ठासंज्ञाया लोकापवादे जाते सति यद्दोषझम्पनं कृतं तत्र **चेलिनीमहादेवी**कथेति । तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदे**वोपगूहनमिति** ।।५।।

अथ **स्थितीकरणं** कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्यक्तुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थितीकरणमिति । तत्र च **पुष्पडालतपोधनस्य स्थिरीकरणप्रस्तावे वारिषेणकुमारकथागमप्रसिद्धेति** । निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्रमोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन

से, धर्म के लिये जो उसके दोषों का ढकना तथा दूर करना है, उसको व्यवहारनय से उपगूहन गुण कहते हैं। इस विषय में कथा—एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया। तब **जिनदत्त सेठ** ने जो उपगूहन किया, वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अथवा रुद्र की ज्येष्ठा नामक माता की लोकनिन्दा होने पर, उसके दोष ढकने में **चेलिनी महारानी** की कथा शास्त्रप्रसिद्ध है। इसप्रकार व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को आच्छादन करने वाले मिथ्यात्व–राग आदि दोषों को, उसी परमात्मा में सम्यक् श्रद्धान–ज्ञान–आचरणरूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झम्पना वही निश्चय से **उपगूहन** है ।।५।।

अब **स्थितीकरण गुण** कहते हैं। भेद-अभेद रत्नत्रयके धारक (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) चार प्रकारके संघ में से यदि कोई दर्शनमोहनीय के उदय से दर्शन-ज्ञान को या चारित्रमोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़नेकी इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेश से, धन से या सामर्थ्य से या अन्य किसी उपाय से उसको धर्म में स्थिर कर देना, वह व्यवहार से स्थितीकरण है। **पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसङ्ग में वारिषेण की कथा आगम-प्रसिद्ध है।** उसी व्यवहार स्थितीकरण गुण से धर्म में दृढ़ता होने पर दर्शन–चारित्र–मोहनीय–उदय जनित समस्त मिथ्यात्व-राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज–परमात्म–स्वभाव भाव की भावना से उत्पन्न

तल्लयतन्मयपरमसमरसीभावेन चित्तस्थितीकरणमेव **स्थितीकरणमिति** ।।६।।

अथ **वात्सल्याभिधानं** सप्तमाङ्गं प्रतिपादयति । बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसंघे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते । तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसंबन्धिना बलिनामदुष्टमन्त्रिणा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तशतयतीनामुपसर्गे क्रियमाणे सति **विष्णुकुमारनाम्ना** निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाराधकपरमयतिना विकुर्वणर्द्धिप्रभावेण वामनरूपं कृत्वा बलिमन्त्रिपार्श्वे पादत्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा पश्चादेकः पादो मेरुमस्तके दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरपर्वते तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वचनछलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं बलिमन्त्री बद्ध इत्येका तावदागमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया च **दशपुरनगराधिपतेर्वज्रकर्णनाम्नः** उज्जयिनीनगराधिपतिना सिंहोदरमहाराजेन जैनोऽयं, मम नमस्कारं न करोतीति मत्वा दशपुरनगरं परिवेष्टय घोरोपसर्गे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियेण राम-

---

परम-आनन्द सुखामृत के आस्वादरूप परमात्मा में लीन अथवा परमात्मस्वरूप में समरसी भाव से चित्त का स्थिर करना, निश्चय से **स्थितीकरण** है ।।६।।

अब **वात्सल्य** नामक सप्तम अंग का प्रतिपादन करते हैं । गाय-बछड़े की प्रीति के सदृश अथवा पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदि में स्नेह की भाँति, बाह्य-आभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक चारों प्रकार के संघ में स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनय से वात्सल्य कहा जाता है । हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मन्त्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकम्पनाचार्य आदि सातसौ मुनियों पर उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक **विष्णुकुमार महामुनीश्वर** ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन रूप को धारण करके बलि नामक दुष्ट मन्त्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथ्वी की याचना की, और जब बलि ने देना स्वीकार किया, तब एक पग तो मेरु के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पाद को रखने के लिये स्थान नहीं रहा तब वचनछल से मुनियों के वात्सल्य निमित्त बलि मन्त्री को बांध लिया । इस विषय में यह एक आगम-प्रसिद्ध कथा है । दशपुर नगर के **वज्रकर्ण नामक राजा** की दूसरी कथा इस प्रकार है—उज्जयिनी के राजा सिंहोदर ने 'वज्रकर्ण जैन है और मुझको नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके, वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिये दशपुर नगर को घेर कर घोर उपसर्ग किया । तब भेदाभेद रत्नत्रय भावना के प्रेमी श्री रामचन्द्र ने वज्रकर्ण से वात्सल्य के लिये सिंहोदर को बाँध लिया । यह

स्वामिना वज्रकर्णवात्सल्यनिमित्तं सिंहोदरो बद्ध इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति । निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्व-रागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसञ्जात-सदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम् ॥७॥

अथाष्टमाङ्गं नाम **प्रभावनागुणं** कथयति । श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःश्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः । तत्र पुनरुत्तरमथुरायां जिनसमय-प्रभावनशीलाया **उर्विल्लामहादेव्याः** प्रभावननिमित्तमुपसर्गे जाते सति **वज्रकुमार**नाम्ना विद्याधरश्रमणे-नाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया तु जिनसमयप्रभावनाशील-वप्रामहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्य धर्मानुरागेण च **हरिषेण**नामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्ष-गामिना जिनसमयप्रभावनार्थमुत्तुङ्गतोरणजिनचैत्यालयमण्डितं सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसम-स्तविभावपरिणामरूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्व-

---

वात्सल्य सम्बन्धी कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । इसी व्यवहार-वात्सल्य-गुण के सहकारीपने से धर्म में दृढ़ता हो जाने पर मिथ्यात्व राग आदि समस्त शुभ–अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पों की उपाधिरहित परमस्वास्थ्यके अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय-अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति का करना ही निश्चय वात्सल्य है । इस प्रकार सप्तम **वात्सल्य अङ्ग** का व्याख्यान हुआ ॥७॥

अब अष्टम **प्रभावनागुण** कहते हैं । श्रावक को तो दान पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप, श्रुत आदि से जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिये । यह व्यवहार से प्रभावना गुण जानना चाहिये । इस गुण के पालने में, उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने की अनुरागिणी **उर्विला महादेवी** को प्रभावना सम्बन्धी उपसर्ग होने पर, **वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण** ने आकाश में जैन रथ को फिराकर प्रभावना की, यह एक आगम प्रसिद्ध कथा है । दूसरी कथा यह है—उसी भव से मोक्ष जाने वाले **हरिषेण** नामक दसवें चक्रवर्ती ने जिनमत को प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावनाके लिये ऊँचे तोरण वाले जिनमन्दिरों से समस्त पृथ्वीतल को भूषित कर दिया । यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । इसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व-विषय-कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणाम रूप पर समय के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोप-

भावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव **प्रभावनेति** ॥८॥

एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडनायतनशङ्काद्यष्टमलरहितं शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं **सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं** विज्ञेयम् । तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं **वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं** च ज्ञातव्यमिति । अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत् ? **व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति** साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति ।

इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादिकुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति । **सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि । दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः** ॥१॥ इतः परं मनुष्यगतिसमुत्पन्नसम्यग्दृष्टेः प्रभावं

योग लक्षण वाले स्वसंवेदन ज्ञान से, निर्मल ज्ञान–दर्शनरूप स्वभाव-वाली निज शुद्ध-आत्मा का जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चय से **प्रभावना** है ॥८॥

इस प्रकार तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप **सराग-सम्यक्त्व नामक व्यवहार-सम्यक्त्व** जानना चाहिये । इसी प्रकार उसी व्यवहार-सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य, शुद्ध–उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचि रूप तथा वीतराग चारित्र का अविनाभावी **वीतराग–सम्यक्त्व नामक निश्चय-सम्यक्त्व** जानना चाहिए । **प्रश्न**—यहाँ इस व्यवहार-सम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया गया ? **उत्तर—व्यवहार-सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है,** (व्यवहार-सम्यक्त्व साधक और निश्चय-सम्यक्त्व साध्य) इस साध्यसाधक भाव को बतलाने के लिये किया गया है ।

अब जिन जीवों के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयु का बन्ध नहीं हुआ है, व्रत के अभाव में भी निन्दनीय नर नारक आदि खोटे स्थानों में उनका जन्म नहीं होता, ऐसा कथन करते हैं । **जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रती हैं वे भी नरकगति, तिर्यंचगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन-शरीर, अल्प-आयु और दरिद्रीपने**

कथयति । **ओजस्तेजोविद्यावीर्यंयशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः । महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥१॥** अथ देवगतौ पुनः प्रकीर्णकदेववाहनदेवकिल्विषदेवनीचदेवत्रयं विहायान्येषु महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यते सम्यग्दृष्टिः । इदानीं सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं देवायुष्कं विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति । **हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं । पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।** तमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति । **ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते**[1] ॥१॥ अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वत्रयमध्ये कस्यां गतौ कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति—[2]**सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि । रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम् ॥२॥** कर्मभूमिजपुरुषे च त्रयं सम्भवति बद्धायुष्के लब्धा-

---

को प्राप्त नहीं होते ।१ इसके आगे मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों का वर्णन करते हैं—**जो दर्शन से पवित्र हैं वे उत्साह, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव से** सहित उत्तम कुल वाले, **विपुल धनशाली तथा** मनुष्य **शिरोमणि होते हैं ।** २प्रकीर्णक देव, वाहनदेव,३ किल्विष देव तथा व्यन्तर-भवनवासी-ज्योतिषी तीन नीच देवों के अतिरिक्त महाऋद्धि धारक देवों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं ।४ जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व देव आयु को छोड़कर अन्य आयु बाँध ली है, अब उनके प्रति सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं—**नीचे के ६ नरकों में ज्योतिषी-व्यन्तर-भवनवासी देवों में, सब स्त्रियों में और लब्ध्यपर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता । नरक अपर्याप्तकों में सासादन नहीं होते ।** इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते हैं—**ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवों में, नीचे की ६ नरक, पृथिवियों में, तिर्यंचों (कर्मभूमि तिर्यंच, भोगभूमि तिर्यंचनियों) में, मनुष्यनियोंमें तथा देवांगनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते ॥१॥** औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वों में से किस गतिमें कौनसा सम्यक्त्व हो सकता है, सो कहते हैं—**सौधर्म आदि स्वर्गों में, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों में, मनुष्यों में और रत्नप्रभा प्रथम नरक में (उपशम, वेदक, क्षायिक) तीनों सम्यक्त्व होते हैं ॥२॥** जिसने आयु बाँध

---

1. निकायत्रितये पूर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः । वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते ॥२९८॥
2. नृभोगभूमितिर्यक्षु सौधर्मादिषु नाकिषु । आद्यायां श्वभ्रभूमौ च सम्यक्त्वत्रयमिष्यते ॥३००॥

(अमितगति) पंचसंग्रह प्रथम परिच्छेद

१. र० क० श्रा० ३५ । २. र० क० श्रा० ३६ । ३. अर्थात् आभियोग्य देव ।

४. धवल १।३३६, पं. सं. प्रा. १।१९३, गो. जी. १२८, १२९ आदि भी द्रष्टव्य हैं ।

युष्केऽपि । किन्त्वौपशमिकमपर्याप्तावस्थायां महर्द्धिकदेवेष्वेव । [1]शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ॥३॥ इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥४१॥

अथ रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वितीयावयवरूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपादयति—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं आत्मपरस्वरूपस्य ।
ग्रहणं सम्यक् ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च ॥४२॥

व्याख्या—संसयविमोहविब्भमविवज्जियं संशयः शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति, संशयः । तत्र दृष्टान्तः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।

ली है या नहीं बाँधी ऐसे कर्मभूमि-मनुष्यों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं । परन्तु अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है । **शेष देवों व तिर्यंचों में और नीचेकी छह नरकभूमियोंमें पर्याप्त जीवोंके वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं** ॥३॥ इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रय-आत्मक मोक्ष-मार्ग अवयवी का प्रथम अवयवभूत सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥४१॥

अब रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग के द्वितीय अवयव रूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—आत्मा का और परपदार्थों के स्वरूप का संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना, सम्यग्ज्ञान है । वह साकार और अनेक भेदों वाला है ॥४२॥

वृत्यर्थ—संसयविमोहविब्भमविवज्जियं संशय—शुद्ध आत्मतत्त्व आदि का प्रतिपादक शास्त्र ज्ञान, क्या वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य-मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है । इसका दृष्टान्त—स्थाणु (ठूंठ) है या मनुष्य ।

---

1. शेष त्रिदशतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । पर्याप्तेषु द्वयं ज्ञेयं क्षायिकेण विनांगिषु ॥३०१॥

(अमितगति) पंचसंग्रह प्रथम परिच्छेद

विमोहः परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः। तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा। **विभ्रमः** अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः। तत्र दृष्टान्तः—शुक्तिकायां रजतविज्ञानवत्। **विवज्जियं** इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्वर्जितं **अप्पपरसरूवस्स गहणं** सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वात्मरूपस्य ग्रहणं परिच्छेदनं परिच्छित्तिस्तथा परद्रव्यस्य च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपस्य जीवसम्बन्धिनस्तथैव पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपस्य परकीयजीवरूपस्य च परिच्छेदनं यत्तत् **सम्मण्णाणं** सम्यग्ज्ञानं भवति। तच्च कथंभूतं? **सायारं** घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः। पुनश्च किं विशिष्टं? **अणेयभेयं तु** अनेकभेदं तु पुनरिति।

तस्य भेदाः कथ्यन्ते। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन **पंचधा**। अथवा श्रुतज्ञानापेक्षया द्वादशांगमंगबाह्यं चेति द्विभेदम्। **द्वादशाङ्गानां नामानि** कथ्यन्ते। आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायनामधयं, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययनं, अन्तकृतदशं, अनुत्तारोपपादिकदशं, प्रश्न-

---

विमोह—परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दो नयों के अनुसार द्रव्य–गुण–पर्याय आदि का नहीं जानना, विमोह है। इसका दृष्टान्त—गमन करते हुए पुरुष के पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञात नहीं होता क्या लगा, अथवा जङ्गल में दिशा का भूल जाना। **विभ्रम**—अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है' ऐसे एकान्त रूप जानना, विभ्रम है। इसका दृष्टान्त—सीप में चाँदी और चाँदी में सीप का ज्ञान। **विवज्जियं** इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रमसे रहित, **अप्पपरसरूवस्स गहणं** सहज-शुद्ध-केवल-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव निज-आत्मस्वरूपका जानना और परद्रव्य का अर्थात् जीव सम्बन्धी भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का एवं पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का और परजीव के स्वरूप का जानना, सो **सम्मण्णाणं** सम्यक्ज्ञान है। वह कैसा है? **सायारं** यह घट है, यह वस्त्र है इत्यादि जानने रूप व्यापार से साकार, विकल्प सहित, व्यवसायात्मक तथा निश्चय रूप ऐसा 'साकार' का अर्थ है। और फिर कैसा है? **अणेयभेयं तु** अनेक भेदों वाला है।

सम्यग्ज्ञान के भेद कहे जाते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदों से वह सम्यग्ज्ञान **पाँच** प्रकार का है। अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशाङ्ग और अंगबाह्य से दो प्रकार का है। उनमें **द्वादश (१२) अङ्गों के नाम** कहते हैं—आचारांग १; सूत्रकृतांग २; स्थानांग ३; समवायांग ४; व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ५; ज्ञातृकथांग ६; उपासकाध्ययनांग ७; अन्तकृद्दशांग ८; अनुत्तरोपपादिक-

व्याकरणं, विपाकसूत्रं, दृष्टिवादश्चेति। दृष्टिवादस्य च परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभेदेन पञ्चभेदाः कथ्यन्ते। तत्र चन्द्रसूर्यजम्बूद्वीपद्वीपसागरव्याख्याप्रज्ञप्तिभेदेन परिकर्म पञ्चविधं भवति। सूत्रमेकभेदमेव। प्रथमानुयोगोऽप्येकभेदः। पूर्वगतं पुनरुत्पादपूर्वं, अग्रायणीयं, वीर्यानुप्रवादं, अस्तिनास्तिप्रवादं, ज्ञानप्रवादं, सत्यप्रवादं, आत्मप्रवादं, कर्मप्रवादं, प्रत्याख्यानं, विद्यानुवादं, कल्याणनामधेयं, प्राणानुवादं, क्रियाविशालं, लोकसंज्ञं, पूर्वं चेति चतुर्दशभेदम्। जलगतस्थलगताकाशगतहरमेखलादिमायास्वरूपशाकिन्यादिरूपपरावर्त्तनभेदेन चूलिका पञ्चविधा चेति संक्षेपेण द्वादशांगव्याख्यानम्। अंगबाह्यं पुनः सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवं, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकम्, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्पाकल्पं, महाकल्पं, पुण्डरीकं, महापुण्डरीकं, अशीतिकं चेति चतुर्दशप्रकीर्णकसंज्ञं बोद्धव्यमिति।

अथवा वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थङ्करभरतादिद्वादशचक्रवर्त्तिविजयादिनवबलदेव त्रिपृष्ठादिनव-

---

दशांग ९; प्रश्नव्याकरणांग १०; विपाकसूत्रांग ११ और दृष्टिवाद १२; ये द्वादश अंगों के नाम हैं। अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म १; सूत्र २; प्रथमानुयोग ३; पूर्वगत ४ तथा चूलिका ५; ये पाँच भेद हैं। उनका वर्णन करते हैं—उनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबू-द्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्म पाँच प्रकार का है। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है। पूर्वगत—उत्पादपूर्व १, अग्रायणीयपूर्व २, वीर्यानुप्रवादपूर्व ३, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४, ज्ञानप्रवादपूर्व ५, सत्यप्रवादपूर्व ६, आत्मप्रवादपूर्व ७, कर्मप्रवादपूर्व ८, प्रत्याख्यानपूर्व ९, विद्यानुवादपूर्व १०, कल्याणपूर्व ११, प्राणानुवादपूर्व १२, क्रियाविशालपूर्व १३, लोकबिन्दुसारपूर्व १४, इन भेदों से चौदह प्रकार का है। जलगत चूलिका १, स्थलगत चूलिका २, आकाशगत चूलिका ३, हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका ४, और शाकिन्यादिरूप परावर्त्तन चूलिका ५, इन भेदों से चूलिका पंच प्रकार की है। इस प्रकार संक्षेप से द्वादशांग का व्याख्यान है। और जो अंगबाह्य श्रुतज्ञान है वह सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वंदना ३, प्रतिक्रमण ४, वैनयिक ५, कृतिकर्म ६, दशवैकालिक ७, उत्तराध्ययन ८, कल्प-व्यवहार ९, कल्पाकल्प १०, महाकल्प ११, पुंडरीक १२, महापुण्डरीक १३ और अशीतिक १४, इन प्रकीर्णकरूप भेदों से चौदह प्रकार का जानना चाहिये।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों, भरत आदि बारह चक्रवर्ती विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नौ नारायण, और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारा-

वासुदेवसुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिषष्ठिपुरुषपुराणभेदभिन्नः **प्रथमानुयोगो** भण्यते । उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स **चरणानुयोगो** भण्यते । त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं **करणानुयोगो** विज्ञेयः । प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स **द्रव्यानुयोगो** भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम् । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः । अथवा षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु (मध्ये) निश्चयनयेन स्वकीय शुद्धात्मद्रव्यं, स्वशुद्धजीवास्तिकायो निजशुद्धात्मतत्वं निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेयः । शेषं च हेयमिति संक्षेपेण **हेयोपादेय भेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति** ।

इदानीं तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं **निश्चयज्ञानं** कथ्यते । तथाहि—रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं, च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं

यण सम्बन्धी **तिरेसठ शलाका पुरुषों** का पुराण भिन्न-भिन्न **प्रथमानुयोग** कहलाता है । उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और आचार आराधना आदि में मुनि का धर्म मुख्यता से कहा गया है, वह दूसरा **चरणानुयोग** कहा जाता है । त्रिलोकसार में जिनान्तर (तीर्थंकरों का अन्तरकाल) व लोकविभाग आदि का व्याख्यान है, ऐसे ग्रन्थ **करणानुयोग** जानना चाहिये । प्राभृत (पाहुड़) और तत्त्वार्थ सिद्धान्त आदि में मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छह द्रव्यों आदिका वर्णन किया गया है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चार अनुयोग रूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना चाहिये । अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ है । अथवा छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से मात्र अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज–शुद्ध–आत्मतत्त्व तथा निज-शुद्ध-आत्म पदार्थ उपादेय है । शेष हेय हैं । इस प्रकार संक्षेप से **हेय–उपादेय भेद वाला व्यवहार–ज्ञान दो प्रकार का है** ।

अब विकल्परूप व्यवहारज्ञान से साध्य **निश्चयज्ञान** का कथन करते हैं । तथा—राग के उदयसे परस्त्री आदि की वांछारूप, और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बांधने अथवा छेदने आदि की वांछारूप मेरा दुर्ध्यान है, उसको कोई भी नहीं जानता है; ऐसा मानकर, निज-शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण वाला सुख–अमृतरसरूप निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव

जीवो बहिरंगबकवेषेण यल्लोकरंजनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते। निजनिरंजननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं **मिथ्याशल्यं** भण्यते। निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूप-सुखामृतरसास्वादमलभमानोऽयं जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतम् निरन्तरम् चित्तम् ददाति तन्नि-**दानशल्यम**भिधीयते। इत्युक्तलक्षणशल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्वि-कल्परूपेण वेदनं परिज्ञानमनुभवनमिति **निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं** भण्यते।

अत्राह शिष्यः। इत्युक्तप्रकारेण प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते, तन्न घटते। कस्मादितिचेत् तदुच्यते। सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते, परं किन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पा-दकं भवत्येव न, किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति। तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र परिहारः। कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। तथाहि—यथा विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसम्वित्तिविकल्प-

---

बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, वह **माया-शल्य** कहलाती है। 'अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है', ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व से विलक्षण, **मिथ्या-शल्य** कहलाती है। निर्विकार–परम–चैतन्य–भावना से उत्पन्न एक परम-आनन्द-स्वरूप सुखामृत-रस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ, यह जीव, देखे-सुने और अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है, वह **निदान-शल्य** है। इस प्रकार उक्त लक्षण वाले माया, मिथ्या और निदान-शल्य रूप विभाव परिणाम आदि समस्त शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित, परम निज-स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ परमानन्द एक लक्षण स्वरूप सुखामृत के रस-आस्वादन से तृप्त ऐसी अपनी आत्मा द्वारा जो निजस्वरूप का संवेदन, जानना व अनुभव करना है, वही **निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञान-निश्चयज्ञान** कहा जाता है।

यहाँ शिष्य की शंका—उक्त प्रकार से प्राभृत (पाहुड़) शास्त्रमें जो विकल्प-रहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नहीं होता। (यदि कहो) क्यों नहीं घटित होता, तो कहता हूं—जैनमत में सत्तावलोकनरूप चक्षु-आदि-दर्शन, जैसे निर्वि-कल्प कहा जाता है; वैसे ही बौद्धमत में 'ज्ञान निर्विकल्प कहलाता है, किन्तु निर्विकल्प होते हुए भी विकल्प को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है'। जैनमत में तो ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने वाला ही नहीं है, किन्तु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्प-सहित है और इसी प्रकार स्व-पर-प्रकाशक है। शंका का परिहार—जैन सिद्धान्त में ज्ञान को

रूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथा स्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपं वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारक-विकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसम्वित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहि-तसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम्। इदं तु सविकल्पकनिर्वि-कल्पकस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य ज्ञानस्य च व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति। स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत इति।

एवं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनो द्वितीयावयवभूतस्य ज्ञानस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥ ४२ ॥

अथ निर्विकल्पसत्ताग्राहकं दर्शनं कथयति—

कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं—जैसे विषयों में आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है, वह राग के जानने रूप विकल्प-स्वरूप होने से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। इसीप्रकार निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मसंवेदन के आकाररूप एक विकल्पमयी होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि उस ज्ञान में बाह्य विषयों के अनिच्छित (नहीं चाहे हुए) विकल्पों का, सद्भाव होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं है, इस कारण उस स्वसंवेदन ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। यहाँ अपूर्व स्वसंवित्ति के आकाररूप अन्तरंग में मुख्य प्रतिभास के होने पर भी, क्योंकि बाह्य विषय सम्बन्धी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं; अतः ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक भी सिद्ध हो जाता है। यदि इस सविकल्प—निर्विकल्प तथा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान आगमशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-तर्कशास्त्र के अनुसार विशेषरूप से किया जाता तो महान् विस्तार हो जाता। किन्तु यह द्रव्यसंग्रह अध्यात्मशास्त्र है, इस कारण ज्ञान का विशेष व्याख्यान यहाँ नहीं किया गया।

इस प्रकार रत्नत्रय-आत्मक मोक्ष-मार्ग रूप अवयवी के दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई ॥४२॥

अब विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने वाले दर्शन का कथन करते हैं—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥४३॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वा आकारम्।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये ॥४३॥

व्याख्या—जं सामण्णं गहणं भावाणं यत् सामान्येन सत्तावलोकनेन ग्रहणं परिच्छेदनं, केषां ? भावानां पदार्थानां; किं कृत्वा ? **णेव कट्टुमायारं** नैव कृत्वा, कं ? आकारं विकल्पं, तदपि किं कृत्वा ? **अविसेसिदूण अट्ठे** अविशेष्याविभेद्यार्थान्; केन रूपेण ? शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं पटोऽयमित्यादि। **दंसणमिदि भण्णए समए** तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे। नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम्। कस्मादितिचेत् ? तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं यतः। अयमत्र भावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते, पश्चाच्छुक्लकादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति ॥४३॥

अथ छद्मस्थानां ज्ञानं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं भवति, मुक्तात्मनां युगपदिति प्रतिपादयति—

गाथार्थ—पदार्थों में विशेषता (भेद) न करके और विकल्प न करके पदार्थों का सामान्य से जो (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण करना है, वह परमागम में दर्शन कहा गया है ॥४३॥

वृत्त्यर्थ—जं सामण्णं गहणं भावाणं जो सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन से ग्रहण करना; किसका ग्रहण करना ? पदार्थों का ग्रहण करना। क्या करके ? **णेव कट्टुमायारं** नहीं करके, किसको नहीं करके ? आकार अथवा विकल्पको नहीं करके। वह भी क्या करके ? **अविसेसिदूण अट्ठे** पदार्थों को विशेषित या भेद न करके। किस रूप से ? यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा, यह घट है और यह पट है, इत्यादि रूप से भेद न करके। **दंसणमिदि भण्णए समए** वह परमागम में सत्तावलोकनरूप दर्शन कहा जाता है। इसी दर्शन को तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण वाला सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिये। क्यों नहीं कहना चाहिये ? क्योंकि वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तो विकल्परूप है और यह दर्शन–उपयोग विकल्परहित है। तात्पर्य यह है— जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है, वह देखने वाला जब तक विकल्प न करे तब तक तो सत्तामात्र ग्रहण को दर्शन कहते हैं। पश्चात् शुक्ल आदि का विकल्प होजाने पर ज्ञान कहा जाता है ॥४३॥

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ।।४४।।

दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानां न द्वौ उपयोगौ ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि ।।४४।।

व्याख्या—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति छद्मस्थानां संसारिणां । कस्मात् ? **ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा** ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं युगपन्न भवति यस्मात् । **केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि** केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति ।

अथ विस्तरः—चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वकीयस्वकीयक्षयोपशमानुसारेण तद्योग्यदेशस्थितरूपादि-विषयाणां ग्रहणमेव सन्निपातः सम्बन्धः सन्निकर्षो भण्यते । न च नैयायिकमतवच्चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिस्वकीयस्वकीयविषयपार्श्वे गमनं इति सन्निकर्षो वक्तव्यः । स एव सम्बन्धो लक्षणं यस्य तल्लक्षणं

छद्मस्थोंके सत्तावलोकनरूप दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और मुक्त जीवोंके दर्शन और ज्ञान एक ही साथ होते हैं, अब ऐसा बतलाते हैं—

गाथार्थ—छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है । क्योंकि, छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते । केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं ।।४४।।

वृत्त्यर्थ—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं छद्मस्थ–संसारी जीवोंके सत्तावलोकन-रूप दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है । क्यों ? **ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा** क्योंकि छद्म-स्थों के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों एक साथ नहीं होते । **केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि** और केवली भगवान के ज्ञान दर्शन दोनों उपयोग एक ही साथ होते हैं ।

इसका विस्तार—चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार अपने योग्य देश में विद्यमान रूप आदि अपने विषयों का ग्रहण करना ही सन्निपात, सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहा गया है । यहाँ नैयायिक मत के समान चक्षु आदि इन्द्रियों का जो अपने-अपने रूप आदि विषयों के पास जाना है, उसको 'सन्निकर्ष' न कहना चाहिये । इन्द्रिय पदार्थ का वह सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष जिसका लक्षण है; ऐसे लक्षणवाला निर्विकल्पक-सत्तावलोकन दर्शन है, उस दर्शनपूर्वक 'यह सफेद है'

यन्निर्विकल्पं सत्तावलोकनदर्शनं तत्पूर्वं शुक्लमिदमित्याद्यवग्रहादिविकल्परूपमिन्द्रियानिन्द्रियजनितं मतिज्ञानं भवति । इत्युक्तलक्षणमतिज्ञानपूर्वकं तु धूमादग्निविज्ञानवदर्थादर्थान्तरग्रहणरूपं लिङ्गजं, तथैव घटादिशब्दश्रवणरूपं शब्दजं चेति द्विविधं श्रुतज्ञानं भवति । अथावधिज्ञानं पुनरवधिदर्शनपूर्वकमिति । ईहामतिज्ञानपूर्वकं तु मनःपर्ययज्ञानं भवति ।

अत्र श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वादुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति । एवं छद्मस्थानां सावरणक्षायोपशमिकज्ञानसहितत्वात् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति । केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसम्वेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम् । छद्मस्था इति कोऽर्थः ? छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम् ।

इत्यादि अवग्रह आदि विकल्परूप तथा पाँचों इन्द्रियों व अनिन्द्रिय मन से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है । उक्त लक्षण वाले मतिज्ञानपूर्वक, धुएं से अग्नि के ज्ञान के समान, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को ग्रहण करने रूप लिंगज (चिह्न से उत्पन्न होने वाला) तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दों के सुननेरूप शब्दज (शब्द से उत्पन्न होने वाला), ऐसे दो प्रकार का श्रुतज्ञान होता है (श्रुतज्ञान दो तरह का है—लिंगज और शब्दज । उनमें से एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा दूसरे पदार्थ को जानना, वह लिंगज श्रुतज्ञान है । शब्दों को सुनने से जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है) । अवधि-दर्शनपूर्वक अवधिज्ञान होता है । ईहामतिज्ञान पूर्वक मनःपर्ययज्ञान होता है ।

यहाँ श्रुतज्ञान को और मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करनेवाला अवग्रह, ईहा आदिरूप मतिज्ञान कहा है, वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है, इसलिये वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है । इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, इन दोनों को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिये । इस प्रकार छद्मस्थ जीवों के सावरण क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है । केवली भगवान् के निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिक ज्ञान होने से, बादल हट जाने पर सूर्य के युगपत् आतप और प्रकाश के समान, दर्शन और ज्ञान ये दोनों युगपत् होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । प्रश्न—'छद्मस्थ' शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर—'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कर्म कहे जाते हैं, उस छद्म में जो रहते हैं वे छद्मस्थ हैं । इसप्रकार तर्कके अभिप्राय से सत्तावलोकनरूप दर्शनका व्याख्यान किया ।

अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थ-ग्रहणं तद्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद्व्यावर्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते।

अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञान-मात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः। नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभाव-

---

इसके आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कहते हैं। तथा—आगे होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न, उस रूप निज-आत्मा का जो परिच्छेदन अर्थात् अव-लोकन, वह दर्शन कहलाता है। उसके अनन्तर बाह्य विषय में विकल्परूप से जो पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है; यह वार्तिक है। जैसे कोई पुरुष पहले घट विषयक विकल्प करता हुआ स्थित है, पश्चात् उसका चित्त पट को जानने के लिये होता है तब वह पुरुष घटके विकल्प से हट कर स्वरूपमें जो प्रयत्न-अवलोकन-परिच्छेदन करता है; उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनन्तर 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप से पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प होता है उस विकल्प को ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—यहाँ शिष्य पूछता है, यदि अपने को ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर-पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है; तो नैयायिकों के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे ही जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है; ऐसा दूषण आता है? **उत्तर**—नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन अलग-अलग दो गुण नहीं हैं, इस कारण उन नैयायिकों के मत में 'आत्मा को जानके के अभावरूप' दूषण आता है। किन्तु जैनसिद्धान्त में, आत्मा ज्ञान गुण से पर पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से

दूषणं न प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् ? यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहकः, पचतीति पाचकः, विषयभेदेन

आत्मा स्व को जानता है,[1] इस कारण जैनमत में 'आत्मा को न जानने का' दूषण नहीं आता। **प्रश्न**—यह दूषण क्यों नहीं आता ? **उत्तर**—जैसे एक ही अग्नि जलाती है,

---

1. सिद्धान्तभूषण ब्र० रतनचन्दजी मुख्तार ने भी लिखा है कि—"श्री वीरसेन स्वामी के अभिप्रायानुसार ज्ञान स्व पर प्रकाशक नहीं है, किन्तु पर-प्रकाशक है और दर्शन स्व प्रकाशक है। इसका स्पष्ट उल्लेख धवल और जयधवल ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उनमें से कुछ उद्धरण यहां दिये जाते हैं—

धवल पु० १—"अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है, अतः इन दोनों के एक होने में विरोध आता है।" [पृ० १४५]

यदि ऐसा कहा जाय कि अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन तथा अन्तर्बाह्य विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, तो ऐसा मानने में दो आपत्तियां आती हैं। प्रथम तो छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग के युगपत् होने का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि सामान्यविशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है। दूसरे यह कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ है और जो अर्थ-क्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करने वाला होने से ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। तथैव केवल विशेष भी ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य रहित अवस्तुरूप केवल विशेष में कर्त्ता-कर्म-रूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इसप्रकार केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। प्रमाण के अभाव मे प्रमेय (पदार्थ) और प्रमाता (आत्मा) आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा। परन्तु उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका सद्भाव दृष्टिगोचर होता है। [पृ० १४६–१४७]

अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मरूप (निज आत्मा) को ग्रहण करने वाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है। **जं सामण्णगहणं तं दंसणं** इस परमागम वाक्य के साथ भी विरोध नहीं आता है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों मे साधारणरूप से पाया जाता है। इसलिये उक्त परमागम-वचन मे सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य-पद से ग्रहण किया गया है। [पृ० १४७]

अन्तरङ्ग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है। [पृ० ३८१ तथा सशोधित संस्करण (१९७३) के पृ० ३८३] इसी प्रकार धवल पु० ६, ७, ११, १३ तथा जयधवल पु० १ पृ० ३२५, ३२४, जयधवल पु० १ पृ० ३०८ आदि देखने चाहिये।

यह [उक्त सब] कथन सिद्धान्त ग्रंथों के अनुसार है, किन्तु तर्क शास्त्रमें अन्य मत वाले जीवों को समझाने की मुख्यता होने से, वहां ज्ञान को स्व पर प्रकाशक कहा गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक तथा पर-प्रकाशक जानना चाहिये। [जैन गजट दि० ५–८–६५ पृ० ६]

द्विधा भिद्यते । तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते । किंच, यदि सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्व न प्राप्नोति । कस्मादिति चेत्—वस्तुग्राहकं प्रमाण; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु । सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम् । स च प्रदीपवत् स्वपरगत सामान्य विशेषं च जानाति । तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति ।

अथ मत—यदि दर्शन बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति ? नैवं वक्तव्यम् । बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति । अयं तु विशेषः—दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीत भवति; ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं

अतः वह दाहक है और पकाती है इस कारण पाचक है; विषय के भेद से दाहक, पाचक रूप अग्नि दो प्रकार की है । उसी प्रकार अभेदनय से चैतन्य एक ही है; भेदनय की विवक्षा में जब आत्मा को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उसका नाम 'दर्शन' है, और फिर जब पर पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' है, इस प्रकार विषयभेद से चैतन्य दो प्रकार का होता है । विशेष बात यह है—यदि सामान्य के ग्रहण करने वाले को दर्शन और विशेष के ग्रहण करने वाले को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञानको प्रमाणता नहीं आती । **शंका**—ज्ञानको प्रमाणता क्यों नहीं आती ? **समाधान**—वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है । वस्तु सामान्य–विशेष स्वरूप है । ज्ञान ने वस्तु का एक देश जो विशेष, उस विशेष को ही ग्रहण किया, न कि सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण किया । सिद्धान्त से निश्चयनय की अपेक्षा गुण-गुणी अभिन्न हैं; अतः संशय-विमोह-विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान–स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है । जैसे प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और पर के सामान्य–विशेष को जानता है, इस कारण अभेद से आत्मा के ही प्रमाणता है ।

आशंका—यदि दर्शन बाह्य विषय को ग्रहण नहीं करता तो अंधे की तरह सब मनुष्यों के अन्धेपने का प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा ? **समाधान**—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बाह्य विषय में दर्शनाभाव होने पर भी आत्मा ज्ञान द्वारा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानता है । विशेष यह है—जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता

बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवति इति । अथोक्तं भवता यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते, तर्हि **जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दंसणम्** इति गाथार्थः कथं घटते ? तत्रोत्तरं सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत् ? आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति; किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यत इति गाथार्थः ।

किं बहुना, यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धान्तार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति । कथमिति चेत् ? तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति । तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति । पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च

है, तब आत्मा में व्याप्त ज्ञान का भीदर्शन द्वारा ग्रहण हो जाता है; ज्ञान के ग्रहण हो जाने पर ज्ञान के विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है । **शंका**—जो आत्मा को ग्रहण करता है, यदि आप उसको दर्शन कहते हो, तो **जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है** यह गाथा-अर्थ आपके कथन में कैसे घटित होता है ? **उत्तर**—वहाँ पर 'सामान्य-ग्रहण' शब्द का अर्थ 'आत्मा का ग्रहण करना' है । **प्रश्न**—'सामान्य ही आत्मा है', ऐसा अर्थ क्यों है ? **उत्तर**—वस्तुका ज्ञान करता हुआ आत्मा, 'मैं इसको जानता हूं, इसको नहीं जानता हूं', इसप्रकार का विशेष पक्षपात नहीं करता है; किंतु सामान्यरूप से पदार्थ को जानता है । इस कारण 'सामान्य' शब्द से 'आत्मा' कहा जाता है । यह गाथा का अर्थ है ।

बहुत कहने से क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके; व्याख्यान करता है तब तो तर्क-अर्थ व सिद्धान्त-अर्थ ये दोनों ही सिद्ध होते हैं । **प्रश्न**—कैसे सिद्ध होते हैं ? **उत्तर**—तर्क में मुख्यता से अन्य-मतों का व्याख्यान है । इसलिये उसमें यदि कोई अन्य-मतावलम्बी पूछे कि जैन-सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान, जो दो गुण कहे हैं; वे कैसे घटित होते हैं ? तब इसके उत्तर में उन अन्य मतियों को कहा जाय कि, 'जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है, वह दर्शन है' तो वे अन्य मती इसको नहीं समझते । तब आचार्योंने उनको प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से बाह्य विषय में जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम दर्शन स्थापित किया; 'यह सफेद है' इत्यादि रूप से बाह्य विषय में जो विशेष का जानना है, उसका नाम ज्ञान स्थापित

मुख्यमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमय-व्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।

अत्राह शिष्यः—सत्तावलोकनदर्शनस्य ज्ञानेन सह भेदो ज्ञातस्तावदिदानीं यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते। कस्मादितिचेत्। सम्यग्दर्शने पदार्थ-निश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च, को विशेष इति? अत्र परिहारः—अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूपः क्षयो-पशमविशेषो ज्ञानं भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चयसम्यक्त्वमिति। अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव सम्यक्त्वमिति। कस्मा-दिति चेत्—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेषणवाच्योऽवस्थाविशेषः सम्यक्त्वं भण्यते यतः कारणात्।

यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत्? तत्रोत्तरम्—येन कर्मणार्थपरिच्छित्तिरूपः

किया; अतः दोष नहीं है। सिद्धान्त में मुख्यता से निजसमय का व्याख्यान है, इसलिये सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने 'जो आत्मा का ग्राहक है' उसको 'दर्शन' कहा है। अतः इसमें भी दोष नहीं।

यहाँ शिष्य शंका करता है—सत्ता-अवलोकनरूप-दर्शन का ज्ञान के साथ भेद जाना, किन्तु तत्त्वार्थ–श्रद्धानरूप–सम्यग्दर्शन और वस्तु–विचाररूप–सम्यग्ज्ञान इन दोनों में भेद नहीं जाना। यदि कहो कि कैसे नहीं जाना; तो पदार्थका जो निश्चय, सम्यग्दर्शन में है वही सम्यग्ज्ञानमें है। इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें क्या भेद है? **समाधान**—पदार्थके ग्रहणमें जाननेरूप क्षयोपशम विशेष 'ज्ञान' कहलाता है। उस ज्ञानमें ही, वीतराग सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में 'यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है,' इस प्रकार का जो निश्चय है, भेदनय से वह सम्यक्त्व है। निर्विकल्परूप अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है। **प्रश्न**—ऐसा क्यों है? **उत्तर**—'अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि, अदेव (देव नहीं) में देव-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि' इत्यादि विपरीताभिनिवेश से रहित ज्ञान की ही, 'सम्यक्' विशेषण से कहे जाने वाली अवस्था-विशेष 'सम्यक्त्व' कहलाती है।

शंका—यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं है तो उन दोनों गुणोंके घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व दो कर्म कैसे कहे गये हैं? **समाधान**—जिस कर्मसे पदार्थ

क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म पूर्वोक्तलक्षणं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदनयेनावरणभेदः । निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम् । एवं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ।।४४।।

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गतृतीयावयवभूतं स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षणवीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियम् ।।४५।।

अशुभात् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम् ।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ।।४५।।

व्याख्या—अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं तावत्कथ्यते । तद्यथा—मिथ्या-

---

के जानने रूप क्षयोपशम ढक जाता है; उसको ज्ञानावरण संज्ञा है और उस क्षयोपशम विशेष में जो कर्म, पूर्वोक्त लक्षण वाले विपरीत-अभिनिवेश को उत्पन्न करता है, उस कर्म की मिथ्यात्व संज्ञा है । इस प्रकार भेद नय से आवरण में भेद है । निश्चय नय से अभेद की विवक्षा में कर्मपने की अपेक्षा उन दो आवरणों को एक ही जानना चाहिए । इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; ऐसा व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ।।४४।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होने वाले रत्नत्रय-स्वरूप मोक्षमार्ग के तीसरे अवयवरूप और स्व-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप-शुद्धोपयोग लक्षणवाले वीतराग चारित्र को परम्परा से साधने वाले, सराग-चारित्र का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अशुभ कार्य से निवृत्ति (दूर होना) और शुभ कार्य में प्रवृत्ति, उसको (व्यवहार) चारित्र जानो । श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ।।४५।।

वृत्त्यर्थ—इसी सराग-चारित्र के एक देश अवयवरूप देश चारित्र को कहते हैं । वह इस प्रकार है—मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय

त्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामे वा सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स **चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती व्रतरहितो दार्शनिको** भण्यते । यश्चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स **पंचमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको** भण्यते ।

तस्यैकादशभेदाः कथ्यन्ते । तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्धयादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादौ निवृत्तः प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते । स एव सर्वथा त्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चाणुव्रतत्रयगुणव्रतशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसंज्ञो भवति । स एव त्रिकालसामायिके प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोषधोपवासे प्रवृत्तश्चतुर्थः,

---

होने पर अथवा अध्यात्म भाषा के अनुसार निज-शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम होने पर, शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके, संसार शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धि है, वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध **चतुर्थ गुणस्थान वाला व्रतरहित दार्शनिक** है । जो अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय के क्षयोपशम होने पर, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों के वध में प्रवृत्त होते हुए भी, अपनी शक्ति अनुसार त्रसजीवों के वध से निवृत्त होता है[1] (अर्थात् यथाशक्ति त्रसजीवों की हिंसा नहीं करता है), उसको **पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक** कहते हैं ।

उस **पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक के ११ भेद** कहते हैं । सम्यग्दर्शन-पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूल गुणों को पालता हुआ जो जीव युद्धादि में प्रवृत्त होने पर भी, पाप को बढ़ाने वाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीव घात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं । वही दार्शनिक श्रावक जब त्रसजीव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का आचरण करता है तब 'व्रती' नामक दूसरा श्रावक

---

१. अर्थात् एकदेशसंयम में त्रस जीवों की आरम्भी, विरोधी तथा उद्यमी हिंसा और स्थावर जीवोंका प्रयोजनानुसार घात, अल्पअसत्य, सार्वजनिक जल तथा मिट्टी आदि की चोरी, स्वस्त्री या स्वपुरुष सेवन तथा सीमित परिग्रह से निवृत्ति नहीं होती । इसीलिये तो वह एक ही काल में विरताविरत कहलाता है । [तत्त्वार्थसार २।२२।३७ तथा सम्यक्त्व चिंतामणि पृ० ७२ डॉ० पं० ब्र० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर]

सचित्तपरिहारेण पञ्चमः, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठः, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः, आरम्भादिसमस्तव्यापार-निवृत्तोऽष्टमः, वस्त्रप्रावरणं विहायान्यसर्वपरिग्रहनिवृत्तोनवमः, गृहव्यापारादिसर्वसावद्यानुमतनिवृत्तो दशमः, उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशम इति। एतेष्वेकादशश्रावकेषु मध्ये प्रथमषट्कं तारतम्येन जघन्यम्, ततश्च त्रयं मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति संक्षेपेण दार्शनिकश्रावकाद्येकादशभेदाः ज्ञातव्याः।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति। **असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं** अशुभान्निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम्। तच्च कथम्भूतं? **वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं** व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयाज्जिनैरुक्तमिति। तथाहि प्रत्याख्यानावरणसंज्ञतृतीयकषायक्षयोपशमे सति **विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१॥** इति गाथाकथितलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्त-

---

होता है। वही जब त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाधारी, प्रोषध-उपवासमें प्रवृत्त होनेपर चौथी प्रतिमाधारी, सचित्त के त्याग से पाँचवीं प्रतिमा, दिन में ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी प्रतिमा, सर्वथा ब्रह्मचर्यको धारण करनेसे सप्तम प्रतिमा, आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से अष्टम प्रतिमा, पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सब परिग्रहों को त्यागने से नवमी प्रतिमा, घर–व्यापार आदि सम्बन्धी समस्त सावद्य (पापजनक) कार्यों में सम्मति (सलाह) देने के त्याग से दशमी प्रतिमा और उद्दिष्ट आहार के त्याग से ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में, पहली छह प्रतिमा वाले तरतमता से जघन्य श्रावक हैं; सातवीं, आठवीं और नवीं इन तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं; दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार संक्षेप से देशचारित्र के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहिये।

अब इस एकदेशचारित्र के व्याख्यान के अनन्तर सकलचारित्र को कहते हैं—**असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं** हे शिष्य! अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ में जो प्रवृत्ति है, उसको चारित्र जानो। वह कैसा है? **वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं** व्रत-समिति-गुप्तिरूप है, व्यवहारनय से श्री जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है। वह इसप्रकार है—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरी कषाय के क्षयोपशम होने पर **जिसका उपयोग विषय-कषायों में मग्न है, दुःश्रुति (विकथा), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी संगति), उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में तत्पर है, वह जीव अशुभ में स्थित है ॥१॥** "इस गाथा में कहे हुए अशुभोपयोग से छूटना और उक्त अशुभोपयोग

द्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य चारित्रं जानीहि । तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति । तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः । **एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहार-चारित्रं व्याख्यातमिति** ।।४५।।

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ।।४६।।

बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ।।४६।।

व्याख्या—तं तत् परमं परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं

से विलक्षण (उल्टा) शुभोपयोग में प्रवृत्त होना", हे शिष्य ! उसको तुम चारित्र जानो । आचार-आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार वह चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षण वाला सरागचारित्र होता है । उसमें भी बाह्य में जो पाँचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित–असद्भूत–व्यवहार नय से चारित्र है और अन्तरंग में जो राग आदि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चय नय से चारित्र है । इस तरह नय-विभाग जानना चाहिये । ऐसे निश्चय चारित्र को साधने वाले व्यवहारचारित्र का व्याख्यान किया ।।४५।।

अब उसी व्यवहारचारित्र से साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध है; श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ वह उत्कृष्ट सम्यक्-चारित्र है ।।४६।।

वृत्त्यर्थ—तं वह परमं परम उपेक्षा लक्षण वाला (संसार, शरीर, असंयम आदि में अनादर) तथा निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट

सम्मचारित्तं सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । तत्किं—**बहिरब्भंतरकिरियारोहो** निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्षभूतस्य बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः, स च किमर्थं ? **भवकारणप्पणासट्ठं** पञ्चप्रकारभवातीतनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति । इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति ? **णाणिस्स** निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः । पुनरपि किं विशिष्टं ? **जं जिणुत्तं** यज्जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तमिति । एवं वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूतं निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गं तृतीयावयवरूपं वीतरागचारित्रं व्याख्यातम् ।।४६।। इति द्वितीयस्थले गाथाष्टकं गतम् ।

एवं मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसंक्षेपकथनेन सूत्रद्वयम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्यावयवभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विशेषविवरणरूपेण सूत्रषट्कं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

सम्मचारित्तं सम्यक्चारित्र जानना चाहिए । वह क्या ? **बहिरब्भंतरकिरियारोहो** निःक्रिय-नित्य-निरंजन-निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभाव वाली निज-आत्मा से प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल), बाह्य में वचन काय के शुभाशुभ व्यापाररूप, अन्तरंग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप, ऐसी क्रियाओं के व्यापार का निरोध (त्याग), चारित्र है । वह चारित्र किस लिये है ? **भवकारणप्पाणासट्ठं** पाँच प्रकार के संसार से रहित निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो संसार, उस संसार के व्यापार का कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म-आस्रव, उस आस्रव के विनाश के लिये चारित्र है । ऐसा बाह्य, अन्तरंग क्रियाओं के त्यागरूप चारित्र किसके होता है ? **णाणिस्स** निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अभेदज्ञानी जीव के ऐसा चारित्र होता है । वह चारित्र फिर कैसा है ? **जं जिणुत्तं** वह चारित्र जिनेन्द्रदेव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ है । इस प्रकार वीतराग सम्यक्त्व व ज्ञान का अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्ष-मार्ग का तीसरा अवयवरूप वीतराग-चारित्र का व्याख्यान हुआ ।।४६।। ऐसे दूसरे स्थल में छह गाथायें समाप्त हुईं ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्रतिपादित करने वाले तीसरे अधिकार में निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग के संक्षेप कथन से दो सूत्र और तदनन्तर उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेष व्याख्यान रूप से छह सूत्र हैं । इसप्रकार दो स्थलों के समुदायरूप आठ गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अतः परं ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं, ततः परं पञ्चपरमेष्ठि-व्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं, ततश्च तस्यैव ध्यानस्योपसंहाररूपविशेषव्याख्यानेन तृतीय-स्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

तथाहि—निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमित्युपदिशति—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

द्विविधं अपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात् ।
तस्मात् प्रयत्नचित्ताः यूयं ध्यानं समभ्यसत ॥ ४७ ॥

व्याख्या—दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा द्विविधमपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यस्मात् मुनिर्नियमात् । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं निश्चयमोक्षमार्गं

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) और ध्यान का फल इनके वर्णन की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथायें, तदनन्तर पंच-परमेष्ठियों के व्याख्यान रूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें; और इसके पश्चात् उसी ध्यान के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल में चार गाथायें, इसप्रकार तीन स्थलों के समुदायसे बारह गाथासूत्रमयी दूसरे अन्तराधि-कार की समुदायरूप भूमिका है ।

तथाहि—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको साधने वाले ध्यान का अभ्यास करो, ऐसा उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को पाते हैं । इस कारण तुम चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो ॥४७।

वृत्त्यर्थ—दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा क्योंकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष-कारणों को प्राप्त होते हैं । विशेष—निश्चय-रत्नत्रय-स्वरूप निश्चय-मोक्ष-कारण अर्थात् निश्चय मोक्ष-मार्ग और इसीप्रकार व्यवहार-रत्नत्रय-स्वरूप व्यवहार-मोक्षहेतु अर्थात् व्यवहार-मोक्षमार्ग, जिनको साध्य-

तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च यं साध्यसाधकभावेन कथितवान् पूर्वं, तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति यस्मात्कारणात् **तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह** तस्मात् प्रयत्नचित्ताः सन्तो हे भव्या यूयं ध्यानं सम्यगभ्यसत । तथा हि—तस्मात्कारणात् दृष्टश्रुतानुभूतनानामनोरथरूपसमस्तशुभाशुभरागादिविकल्पजालं त्यक्त्वा, परम-स्वास्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासं कुरुत यूय-मिति ॥४७॥

अथ ध्यातृ-पुरुषलक्षणं कथयति—

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु ।
स्थिरं इच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥४८॥

व्याख्या—**मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह** समस्तमोहरागद्वेषजनितविकल्पजालरहितनिजपर-

---

साधक भाव से (निश्चय-साध्य और व्यवहार-साधक है) पहले कहा है, उन दोनों प्रकारके मोक्षमार्गों को, क्योंकि मुनि निर्विकार स्वसंवेदन स्वरूप परमध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं, **तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह** इसी कारण एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनों ! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो, अथवा इसी कारण देखे-सुने और अनुभव किये हुए अनेक मनोरथ रूप शुभाशुभ राग आदि विकल्प समूह का त्याग करके तथा परम-निज-स्वरूप में स्थित होने से उत्पन्न हुए सहज-आनन्दरूप एक-लक्षण वाले सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के अनुभव में स्थित होकर, तुम ध्यान का अभ्यास करो ॥४७॥

अब ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान को सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष और मोह मत करो ॥४८॥

वृत्त्यर्थ—मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह समस्त मोह, राग-द्वेषसे उत्पन्न विकल्प समूह से रहित निज परमात्मस्वरूप की भावनासे उत्पन्न हुआ एक परमानन्दरूप सुखा-

मात्मतत्त्वभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेत्पन्ना संजाता तत्रैव परमात्मसुखास्वादे लीना तन्मया या तु परमकला परमसंवित्तिस्तत्र स्थित्वा हे भव्या मोहरागद्वेषान्मा कुरुत। केषु विषयेषु ? **इट्ठणिट्ठअट्ठेसु** स्रग्वनिताचन्दनताम्बूलादय इष्टेन्द्रियार्थाः, अहिविषकण्टकशत्रुव्याधिप्रभृतयः पुनरनिष्टेन्द्रियार्थास्तेषु। यदि किम् ? **थिरमिच्छहि जइ चित्तं** तत्रैव परमात्मानुभवे स्थिरं निश्चलं चित्तं यदीच्छत यूयं। किमर्थम् ? **विचित्तझाणप्पसिद्धीए** विचित्रं नानाप्रकारं यद्ध्यानं तत्प्रसिद्धयं निमित्तं। अथवा विगतं चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभविकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानम् तदर्थमिति।

इदानीं तस्यैव ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः कथ्यन्ते। तथाहि—इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतीकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं **चतुर्विधमार्त्तध्यानम्**। तच्च तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिषट्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम्। यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं

मृतरस से उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद में लीनरूप जो परम कला अर्थात् परमसंवित्ति (आत्मस्वरूप का अनुभव), उसमें स्थित होकर, हे भव्य जीवो ! मोह, राग-द्वेष को मत करो। किनमें मोह-राग-द्वेष मत करो ? **इट्ठणिट्ठअट्ठेसु** माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदिरूप इंद्रियों के इष्ट विषयों में व सर्प, विष, कांटा, शत्रु तथा रोग आदि इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष मत करो, **थिरमिच्छहि जइ चित्तं** यदि उसी परमात्मा के अनुभव में तुम निश्चल चित्त को चाहते हो। किसलिये स्थिर चित्त को चाहते हो ? **विचित्तझाणप्पसिद्धीए** विचित्र अर्थात् अनेक तरह के ध्यान की सिद्धि के लिये। अथवा जहाँ पर चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभ-अशुभ विकल्प समूह दूर हो गया है, सो 'विचित्त ध्यान' है, उस विचित्त ध्यान की सिद्धि के लिये।

अब प्रथम ही आगमभाषा के अनुसार उसी ध्यान के नानाप्रकार के भेदोंका कथन करते हैं—वह इस प्रकार है इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और रोग इन तीनों को दूर करने में तथा भोगों व भोगों के कारणों में वांछारूप चार प्रकार का आर्त्तध्यान है (**इष्ट का वियोग १, अनिष्ट का संयोग २, रोग ३, इनके होने पर इनके दूर करने की इच्छा करना और भोग निदानों की वांछा करना ४**)। वह आर्त्तध्यान तरतमता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक के जीवों के होता है। वह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यञ्चगति के बंध का कारण होता है तथापि जिस जीव के सम्यक्त्व से पहले तिर्यञ्च-आयु बंध चुकी, उसको छोड़कर अन्य सम्यग-

विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति । कस्मादिति चेत् ? स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति ।

अथ **रौद्रध्यानं** कथ्यते—हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दप्रभवं **रौद्रं चतुर्विधम्** । तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम् । तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति । तदपि कस्मादिति चेत् ? निजशुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति विशिष्टभेदज्ञानबलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति ।

अतः परम् आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञचतुर्भेदभिन्नं, तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवं, मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारणं चेति **धर्मध्यानं** कथ्यते । तथाहि—स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि

दृष्टिके वह आर्त्तध्यान तिर्यञ्चगतिका कारण नहीं है । **शङ्का**—क्यों नहीं है ? **उत्तर**—'निज-शुद्ध-आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है' ऐसी भावना के कारण सम्यग्दृष्टि जीवों के तिर्यञ्चगति का कारणरूप संक्लेश नहीं होता ।

अब रौद्रध्यान को कहते हैं । **रौद्रध्यान**—**हिंसानन्द** (हिंसा करने में आनंद मानना) १, **मृषानन्द** (झूठ बोलने में आनन्द मानना) २, **स्तेयानन्द** (चोरी करने में प्रसन्न होना) ३, **विषयसंरक्षणानन्द** (परिग्रह की रक्षा में आनन्द मानना) ४ के भेद से चार प्रकार का है । वह मिथ्यादृष्टि से पंचम गुणस्थान तक के जीवों के तरतमता से होता है । रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है, तो भी जिस जीव ने सम्यक्त्व से पूर्व नरकायु बांध ली है उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टियों के वह रौद्रध्यान नरकगति का कारण नहीं होता । **प्रश्न**—ऐसा क्यों है ? **उत्तर**—सम्यग्दृष्टियों के 'निजशुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपादेय है' इस प्रकार के विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति का कारणभूत तीव्र संक्लेश नहीं होता ।

इसके आगे आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान के त्यागरूप, १. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय इन चार भेदवाला तरतम वृद्धि के क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थान वाले जीवों के होने वाला, और प्रधानता से पुण्यबंध का कारण होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणभूत, ऐसा **धर्मध्यान** कहा जाता है । वह इस प्रकार है—स्वयं अल्पबुद्धि हो तथा विशेष ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो तब शुद्ध जीव आदि पदार्थों की

विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति **सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ।।१।।** इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरण **माज्ञाविचयध्यानं** भण्यते । तथैव भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तन**मपायविचयं** ज्ञातव्यम् । शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः पश्चादनादिकमबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफलमनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकमनुभवतीति विचारणं **विपाकविचयं** विज्ञेयम् । पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिन्तनं **संस्थानविचयम्** । इति **चतुर्विधं धर्मध्यानं** भवति ।

अथ **पृथक्त्ववितर्कवीचारं एकत्ववितर्कवीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं** चेति भेदेन **चतुर्विधं शुक्लध्यानं** कथयति । तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारं तावत्कथ्यते । द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को

सूक्ष्मता होने पर, **श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओं से खण्डित नहीं हो सकता, अतः जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि श्री जिनेन्द्र अन्यथावादी (झूठा उपदेश देनेवाले) नहीं हैं ।।१।।** इस श्लोक के अनुसार पदार्थ का निश्चय करना, **आज्ञाविचय** प्रथम धर्मध्यान कहलाता है । उसी प्रकार भेद–अभेद–रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जोवों के कर्मों का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिन्तवन **अपायविचय** दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिये । शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से रहित है, फिर भी अनादि कर्म-बन्ध के कारण पाप के उदय से नारक आदि के दुःखरूप फल का अनुभव करता है और पुण्य के उदय से देव आदि के सुखरूप विपाक को भोगता है; इस प्रकार विचार करना सो **विपाकविचय** तोसरा धर्मध्यान जानना चाहिये । पहले कही हुई लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करना, **संस्थानविचय** चौथा धर्मध्यान है । इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान होता है ।

अब **१. पृथक्त्ववितर्कवीचार, २. एकत्ववितर्क अवीचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४. व्युपरतक्रियानिवृत्ति,** ऐसे **चार प्रकार के शुक्लध्यान** को कहते हैं । 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' प्रथम शुक्लध्यान का कथन करते हैं । द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को 'पृथक्त्व' कहते हैं । निज-शुद्ध-आत्मा का अनुभवरूप भावश्रुत को और निज-शुद्ध-आत्मा को कहने वाले अन्तरजल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते हैं । इच्छा बिना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में, मन-वचन-काय इन तीनों योगों

भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनम् वचनाद्वचनान्तरपरिणमनम् मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं **वीचारो** भण्यते। अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन **पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते**। तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्युपशमकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति। क्षपकश्रेण्यां पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसाम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातम्।

निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूयावीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं न करोति यत्तदेकत्ववितर्कवीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिः इति। अथ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं**

में से किसी एक योग से दूसरे योग में, जो परिणमन (पलटन) है, उसको **वीचार** कहते हैं। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज-शुद्ध-आत्मसंवेदन को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशों से स्वरूप में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से अनिच्छितवृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण इस ध्यान को **पृथक्त्ववितर्कवीचार** कहते हैं। यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण–उपशमक, अनिवृत्तिकरण-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तकषाय, इन (८, ९, १०, ११) चार गुणस्थानों में होता है। क्षपक-श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक नामक, (८, ९, १०) इन तीन गुणस्थानों में होता है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान हुआ।

निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य में या विकार रहित आत्मसुख-अनुभवरूप पर्याय में, या उपाधिरहित स्वसंवेदन गुण में, इन तीनों में से जिस एक द्रव्य, गुण या पर्याय में (जो ध्यान) प्रवृत्त हो गया और उसी में वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में परावर्त्तन नहीं करता, वह **एकत्ववितर्क अवीचार** नामक, क्षीणकषाय (१२ वें) गुणस्थान में होने वाला, दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। अब सूक्ष्म काय की क्रिया के व्यापाररूप और अप्रतिपाति (कभी न गिरे)

तृतीयं शुक्लध्यानम् । तच्चोपचारेण सयोगिकेवलिजिने भवतीति । विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं । तच्चोपचारेणायोगिकेवलि जिने भवतीति । इति संक्षेपेणागमभाषया विचित्रध्यानं व्याख्यातम् ।

अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति । तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानम् इति । अथवा **पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥१॥** इति श्लोककथितक्रमेण विचित्रध्यानं ज्ञातव्यमिति ।

अथ ध्यानप्रतिबन्धकानां मोहरागद्वेषाणां स्वरूपं कथ्यते । शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनि-

---

ऐसा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान है । वह उपचार से सयोगिकेवलिजिन (१३ वें) गुणस्थान में होता है । विशेषरूप से उपरत अर्थात् दूर हो गई हैं क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है; व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति अर्थात् निवृत्ति न हो (मुक्त न हुआ हो), वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है । वह उपचार से अयोगिकेवलिजिन के (१४ वें गुणस्थान में) होता है । आगम भाषा से नाना प्रकार के ध्यानों का संक्षेप से कथन हुआ ।

अध्यात्म भाषा से, सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान् निज-आत्मा में उपादेयबुद्धि (निज-शुद्ध आत्मा ही ग्राह्य है) करके, फिर 'मैं अनन्त ज्ञानमयी हूं, मैं अनन्त सुखरूप हूं' इत्यादि भावनारूप अन्तरङ्ग धर्मध्यान है । पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभ अनुष्ठानका करना बहिरङ्ग धर्मध्यान है । उसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा में विकल्परहित समाधिरूप शुक्लध्यान है । अथवा मन्त्रवाक्यों में स्थित 'पदस्थध्यान' है, निज-आत्मा का चिन्तवन 'पिण्डस्थध्यान' है, सर्वचिद्रूप का चिन्तवन 'रूपस्थध्यान' है और निरंजन का ध्यान 'रूपातीत' ध्यान है ॥१॥ इस श्लोक में कहे हुए क्रम के अनुसार अनेक प्रकार का ध्यान जानना चाहिये ।

अब ध्यान के प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) मोह, राग तथा द्वेष का स्वरूप कहते हैं । शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करने वाला मोह,

देशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वमिति यावत् । निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो रागद्वेषौ भण्येते । चारित्रमोहो शब्देन रागद्वेषौ कथं भण्येते ? इति चेत्—कषायमध्ये क्रोधमानद्वयं द्वेषाङ्गम्, मायालोभद्वय च रागाङ्गम्, नोकषायमध्ये तु स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्रयं हास्यरतिद्वयं च रागाङ्गम्, अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वय च द्वेषाङ्गमिति ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति ? तत्रोत्तरम्—स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति । पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते । तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति । स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अथ मतम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम् । तत्रोत्तरम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्ति-

---

दर्शनमोह अथवा मिथ्यात्व है । निर्विकार-निज-आत्मानुभवरूप वीतराग चारित्र को ढकने वाला चारित्रमोह अथवा राग-द्वेष कहलाता है । प्रश्न—चारित्रमोह शब्द से राग-द्वेष कैसे कहे गये ? उत्तर—कषायों में क्रोध-मान ये दो द्वेष अंश हैं और माया-लोभ ये दोनों राग अंश हैं । नोकषायों में स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये तीन तथा हास्य–रति ये दो, ऐसी पाँच नोकषाय राग के अंश; अरति-शोक ये दो, भय तथा जुगुप्सा ये दो, इन चार नोकषायों को द्वेष का अंश जानना चाहिये ।

शिष्य पूछता है—राग-द्वेष आदि, कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ? इसका उत्तर—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रङ्ग की तरह, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं । नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्ध-निश्चय-नय से तो राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं । अशुद्ध-निश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं । यह अशुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार-नय ही है । शंका—साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं; ऐसा हम पूछते हैं ? समाधान—स्त्री और पुरुषके संयोग बिना पुत्र की अनुत्पत्ति की भांति और चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रङ्ग की अनुत्पत्ति के समान साक्षात् शुद्ध-निश्चयनयकी अपेक्षा से इन राग-द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती । इसलिये हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर ही कैसे देवें । (जसे पुत्र न केवल स्त्री से ही होता है और न केवल पुरुष से ही होता है, किन्तु स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है; इसी प्रकार राग-द्वेष आदि न केवल कर्मजनित ही हैं और न केवल जीवजनित ही हैं, किन्तु जीव और

रेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति । एवं ध्यातृव्याख्यानमुख्यत्वेन तद्व्याजेन विचित्रध्यानकथनेन च सूत्र गतम् ॥४८॥

अतः ऊर्ध्वं पदस्थं ध्यानं मन्त्रवाक्यस्थं यदुक्तं तस्य विवरणं कथयति—

पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

पंचत्रिंशत् षोडश षट् पंच चत्वारि द्विकं एकं च जपत ध्यायत ।
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन ॥ ४९ ॥

व्याख्या—पणतीस णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते । सोल अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते । छ अरिहन्तसिद्ध एतानि षडक्षराणि

कर्म इन दोनों के संयोगजनित हैं । साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि में जीव और पुद्गल दोनों शुद्ध हैं और इनके संयोग का अभाव है । इसलिये साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति ही नहीं है) । इस प्रकार ध्याता (ध्यान करनेवाले) के व्याख्यान की प्रधानता से तथा उसके आश्रय से विचित्र ध्यान के कथन से यह गाथा सूत्र समाप्त हुआ ॥४८॥

अब आगे 'मन्त्रवाक्यों में स्थित जो पदस्थ ध्यान' कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—पञ्च परमेष्ठियों को कहनेवाले पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं, उनका जाप्य करो और ध्यान करो; इनके अतिरिक्त अन्य मन्त्रपदों को भी गुरु के उपदेशानुसार जपो और ध्यावो ॥४९॥

वृत्त्यर्थ—पणतीस णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं । सोल अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू ये १६ अक्षर पञ्चपरमेष्ठियों के नाम पद कहलाते हैं । छ अरिहंतसिद्ध ये छह अक्षर—अर्हन्त—सिद्ध इन दो परमेष्ठियों के नाम पद कहे

अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते । **पण अ सि आ उ सा** एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते । **चउ अरिहंत** इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम् । **दुगं सिद्ध** इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम् । **एगं च अ** इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम् । अथवा **ओं** एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम् । तत्कथमिति चेत् ? **अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी ।१।** इति गाथाकथितप्रथमाक्षराणां **समानः सवर्णे दीर्घोभवति परश्च लोपम् उवर्णे ओ** इति स्वरसन्धिविधानेन **ओं** शब्दो निष्पद्यते । कस्मादिति ? **जवह ज्झाएह** एतेषां पदानां सर्वमन्त्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च जापं कुरुत । तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत । पुनरपि कथम्भूतानां ? **परमेट्ठिवाचयाणं अरिहंत** इति पदवाचकमनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्च-

---

जाते हैं । पण अ सि आ उ सा ये पञ्च अक्षर पञ्च परमेष्ठियोंके आदि-पद कहलाते हैं । **चउ अरिहंत** ये चार अक्षर अर्हन्त परमेष्ठी के नामपद हैं । **दुगं सिद्ध** ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं । **एगं च अ** यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदि-पद है; अथवा **ओं** यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों के आदि-पदस्वरूप हैं । **प्रश्न**—ओं यह पञ्च-परमेष्ठियों के आदिपद रूप कैसे है ? **उत्तर—अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ', मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पंचपरमेष्ठियों के नाम का आदिपद है ।** इस प्रकार गाथा में कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं, इनमें पहले **समानः सवर्णे दीर्घो भवति** इस सूत्र से अ अ आ मिलकर दीर्घ आ बनाकर **परश्च लोपम्** इससे पर अक्षर आ का लोप करके अ अ आ इन तीनों के स्थान में एक आ सिद्ध किया फिर **उवर्णे ओ** इस सूत्र से आउ के स्थान में ओ बनाया ऐसे स्वरसंधि करने से ओम् यह शब्द निष्पन्न हुआ । किस कारण ? **जवह ज्झाएह** सब मन्त्रशास्त्र के पदों में सारभूत इस लोक तथा परलोक में इष्ट फल को देने वाले इन पदों का अर्थ जानकर फिर अनन्त-ज्ञान आदि गुणों के स्मरण रूप वचन का उच्चारण करके जाप करो । इसी प्रकार शुभोपयोगरूप त्रिगुप्त (मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति) अवस्था में मौनपूर्वक (इन पदोंका) ध्यान करो । फिर किन पदों को जपें, ध्यावें ? **परमेट्ठिवाचयाणं** 'अरिहंत' पद वाचक है और अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त श्रीअर्हत् इस पद का वाच्य व अभिधेय (कहा जानेवाला) है; आदि प्रकार से पंचपरमेष्ठियों के वाचकों को जपो । **अण्णं च गुरुवएसेण** पूर्वोक्त पदों से अन्य का भी तथा बारह-

परमेष्ठिवाचकानां **अण्णं च गुरुवएसेण** अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघु-सिद्धचक्रं, वृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम् । इति पदस्थध्यानस्वरूपं व्याख्यातम् ।।४६।।

एवमनेन प्रकारेण **गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् । एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरौ ।।१।।** इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथा-त्रयेण द्वितीयान्तराधिकारे प्रथमं स्थलं गतम् ।

अतः परं रागादिविकल्पोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृत-रसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतम् यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानं तद्-ध्येयभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां मध्ये तावदर्हत्स्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका । द्वितीया तु पूर्वसूत्रोदि-तसर्वपदनामपदादिपदानां वाचकभूतानां वाच्या ये पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्याख्याने क्रियमाणे प्रथमतस्ता-

---

हजार श्लोक प्रमाण पंचनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थमें कहे हुए क्रम से लघुसिद्धचक्र, वृहत्सिद्धचक्र इत्यादि देवों के पूजन के विधान का, भेदाभेद-रत्नत्रय के आराधक गुरु के प्रसाद से जानकर, ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार पदस्थ ध्यान के स्वरूप का कथन किया ।।४६।।

इस प्रकार **पाँचों इंद्रियों और मन को रोकने वाला ध्याता (ध्यान करने वाला) है; यथास्थित पदार्थ, ध्येय हैं; एकाग्र चिन्तन ध्यान है; संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं** ।।१।। इस श्लोक में कहे हुए लक्षण वाले ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल का संक्षेप से कथन करने वाली तीन गाथाओं से द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित निज-परमात्म-पदार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले सदानन्द एक लक्षण वाले सुखामृत रसास्वाद से तृप्ति रूप निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार ध्यान है उसके ध्येयभूत पंच-परमेष्ठियों में से प्रथम ही जो अर्हंत् परमेष्ठी हैं उनका स्वरूप कहता हूं, यह एक पातनिका है । पूर्व गाथा में कहे हुए सर्वपद-नामपद-आदि-पदरूप वाचकों के वाच्य जो पञ्च-परमेष्ठी, उनका व्याख्यान करने में प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप को निरूपण करता हूं, यह दूसरी पातनिका है । अथवा पदस्थ, पिंड-

वज्जिनस्वरूपं निरूपयामि । अथवा तृतीया पातनिका पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति पातनिकात्रयं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः ।
शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः ॥५०॥

व्याख्या—णट्ठचदुघाइकम्मो निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्वं घातिकर्ममुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनात्तदनन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञयुगपद्घातित्रयविनाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्घातिकर्मा । **दंसणसुहणाणवीरियमईओ** तेनैव घातिकर्माभावेन लब्धानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः । **सुहदेहत्थो** निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकर-

---

स्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत श्री अर्हंत सर्वज्ञ के स्वरूप को दिखलाता हूं, यह तीसरी पातनिका है । इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओं को मन में धारण करके सिद्धान्तदेव श्री नेमिचन्द्र आचार्य इस अग्रिम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त-दर्शन-सुख-ज्ञान और वीर्य के धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध-आत्मस्वरूप अरिहंत का ध्यान करना चाहिये ॥५०॥

वृत्त्यर्थ—णट्ठचदुघाइकम्मो निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमयी ध्यान के द्वारा पहले घातिया कर्मों में प्रधान मोहनीयकर्म का नाश करके, पश्चात् ज्ञानावरण–दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों ही घातिया कर्मों का एक ही साथ नाश करने से, जो चारों घातिया कर्मों का नष्ट करने वाले हो गये हैं । **दंसणसुहणाणवीरियमईओ** उन घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य) के धारक होने से स्वाभाविक-शुद्ध-अविनाशी-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी हैं । **सुहदेहत्थो** निश्चयनय से शरीर रहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा, सात धातुओं (कुधातु) से रहित व हजारों सूर्यों के समान देदीप्यमान ऐसे परम औदारिक शरीर वाले हैं, इस कारण शुभदेह में विराजमान हैं । **सुद्धो**—क्षुधा १, तृषा

सहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थः। **सुद्धो क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ॥१॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः। एतै-र्दोषैर्विनिर्मुक्तः सो अयमाप्तो निरंजनः ॥२॥** इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वात् शुद्धः। **अप्पा** एवं गुणविशिष्ट आत्मा **अरिहो** अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रजःशब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वय-स्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरायस्य च हननाद्विनाशात् सकाशात् इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरणजन्माभि-षेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। **विचिन्तिज्जो** इत्युक्तविशेषणविशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञा-द्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हंतं जिनभट्टारकं पदस्थपिंडस्थरूपस्थध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूयमिति।

अत्रावसरे भट्टचार्वाकमतं गृहीत्वा शिष्यः पूर्वपक्षं करोति। नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः। खर-विषाणवत्? तत्र प्रत्युत्तरम्—किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धिः, सर्वदेशे काले वा। यदत्र देशेऽत्र

२, भय ३, द्वेष ४, राग ५, मोह ६, चिंता ७, जरा ८, रुजा (रोग) ९, मरण १०, स्वेद (पसीना) ११, खेद १२, मद १३, अरति १४, विस्मय १५, जन्म १६, निद्रा १७, और विषाद १८; इन १८ दोषों से रहित निरंजन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं ॥२॥ इस प्रकार इन दो श्लोकों में कहे हुए अठारह दोषों से रहित होने के कारण **शुद्ध** हैं। **अप्पा** पूर्वोक्त गुणों की धारक आत्मा है। **अरिहो**—'अरि' शब्द से कहे जाने वाले मोहनीय कर्म का, 'रज' शब्द से वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों का तथा 'रहस्य' शब्द का वाच्य अन्तरायकर्म, इन चारों कर्मों का नाश करने से इन्द्र आदि द्वारा रची हुई गर्भावतार-जन्माभिषेक-तपकल्याणक-केवलज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण समय में होने वाली पाँच महाकल्याण रूप पूजा के योग्य होते हैं, इस कारण **अर्हन्** कहलाते हैं। **विचिंतिज्जो** हे भव्यों! तुम पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थ ध्यान में स्थित होकर, आप्त-उपदिष्ट आगम आदि ग्रन्थ में कहे हुए तथा इन उक्त विशेषणों सहित वीतराग-सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नाम वाले अर्हंत जिन—भट्टारक का विशेष रूप से चिन्तवन करो।

इस अवसर पर भट्ट और चार्वाक मत का आश्रय लेकर शिष्य पूर्व पक्ष करता है—**प्रश्न** : सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधे के सींग? **उत्तर**—सर्वज्ञ की प्राप्ति क्या इस देश और इस कालमें नहीं है या सब

काले नास्ति तदा सम्मत एव । अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता । ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः । अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते । तत्र दृष्टान्तः—यथा कोऽपि निषेधको घटस्याधारभूतं घटरहितं भूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद्वदत्यत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तम्; यस्तु चक्षुः रहितस्तस्य पुनरिदं वचनमयुक्तम् । [1]तथैव यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं जानाति तस्य जगत्त्रये कालत्रयेऽपि सर्वज्ञो नास्तीति वक्तुं युक्तुं भवति, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रय [2]जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति । कस्मादिति चेत् ? [3]जगत्त्रयकालत्रयपरिज्ञानेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति ।

देश और सब काल में नहीं है । यदि कहो कि इस देश और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है, तब तो ठीक ही है, क्योंकि हम भी ऐसा ही मानते हैं । यदि कहो सर्व देश और सर्व कालों में सर्वज्ञ नहीं है, तो तुमने यह कैसे जाना कि तीनों लोक और तीनों काल में सर्वज्ञ का अभाव है । यदि कहो कि अभाव जान लिया, तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये (जो तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को जानता है वही सर्वज्ञ है, सो तुमने यह जान ही लिया है कि तीनों लोक और तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं है, इसलिये तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हुए) । 'तीन लोक व तोनों काल में सर्वज्ञ नहीं' इसको यदि नहीं जाना तो 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो ? दृष्टान्त—जैसे कोई निषेध करने वाला, घट की आधारभूत पृथ्वी को नेत्रों से घट रहित देख कर, फिर कहे कि 'इस पृथ्वी पर घट नहीं है', तो उसका यह कहना ठीक है; परन्तु जो नेत्रहीन है, उसका ऐसा वचन ठीक नहीं है । इसी प्रकार जो तीन जगत्, तीन काल को सर्वज्ञ रहित जानता है, उसका यह कहना कि तोन जगत् तीन कालमें सर्वज्ञ नहीं, उचित हो सकता है; किंतु जो तीन जगत् तीन काल को जानता है, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार नहीं कर सकता । क्यों नहीं कर सकता ? तीन जगत् तीन कालको जानने से वह स्वयं सर्वज्ञ हो गया, अतः वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता ।

---

१. तथा योसौ जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं प्रत्यक्षेण जानाति स एव सर्वज्ञनिषेधे समर्थो, न चान्योन्ध इव, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रय जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति । कस्मात् ? जगत्त्रयकालत्रयविषयपरिज्ञान सहितत्वेन स्वमेव सर्वज्ञत्वादिति । (पञ्चास्तिकाय तात्पर्य वृत्तिः गा० २९)

२. 'न जानाति' इति पाठान्तरं ।

३. 'किं भवतामनुपलब्धेः जगत्त्रय' इति पाठान्तरं ।

अथोक्तमनुपलब्धेरिति हेतुवचनं तदप्ययुक्तम् । कस्मादिति चेत्—किं भवतामनुपलब्धिः, किं जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणां वा ? यदि भवतामनुपलब्धिस्तावता सर्वज्ञाभावो न सिध्यति, भवद्भिरनुपलभ्यमानानां परकीयचित्तवृत्तिपरमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थानामिव । अथवा जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथं ज्ञातं भवद्भिः । ज्ञातं चेत्तर्हि भवन्त एव सर्वज्ञा इति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति । इत्यादिहेतुदूषणं ज्ञातव्यम् । यथोक्तं खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनम् तदप्यनुचितम् । खरे विषाणं नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्वं न भवति इति दृष्टान्तदूषणं गतम् ।

अथ मतं—सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाणं निराकृतं भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावसाधकं प्रमाणं किम् ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति हेतुवचनम् । किंवत्, स्वयम-

---

सर्वज्ञ के निषेध में 'सर्वज्ञ की अनुपलब्धि' जो हेतु वाक्य है, वह भी ठीक नहीं । **प्रश्न**—क्यों ठीक नहीं ? **उत्तर** यह है—क्या आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है या तीन जगत् तीन काल के पुरुषों के अनुपलब्धि है । यदि आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है, तो इतने मात्र से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि, जैसे पर के मनोविचार तथा परमाणु आदि की आपके अनुपलब्धि है, तो भी उनका अभाव सिद्ध नहीं होता । यदि तीन जगत् तीन काल के पुरुषों के 'सर्वज्ञ' की अनुपलब्धि है, तो इसको आपने कैसे जाना ? यदि कहो 'जान लिया' तो आप ही सर्वज्ञ हुए, ऐसा पहले कहा जा चुका है । इस प्रकार से 'हेतु' में दूषण जानना चाहिये । सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि में जो 'गधे के सींग' का दृष्टान्त दिया था, वह भी ठीक नहीं है । गधे के सींग नहीं हैं, किन्तु गौ आदि के सींग हैं । सींग का जैसे अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं, वैसे ही 'सर्वज्ञ' का विवक्षित देश व काल में अभाव होने पर भी सर्वथा अभाव नहीं है । इस प्रकार दृष्टान्त में दूषण आया ।

प्रश्न—आपके द्वारा सर्वज्ञ के सम्बन्ध में बाधक प्रमाण का तो खण्डन हुआ, किन्तु सर्वज्ञ के सद्भावको सिद्ध करने वाला क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछे जाने पर **उत्तर** देते हैं—'कोई पुरुष (आत्मा) सर्वज्ञ है', इसमें 'पुरुष' धर्मी है और 'सर्वज्ञता', जिसको सिद्ध करना है, वह धर्म है; इस प्रकार 'धर्मी धर्म समुदाय' को पक्ष कहते हैं (जिसको सिद्ध करना वह साध्य अर्थात् धर्म है । जिसमें धर्म पाया जावे या रहे, वह धर्मी है । धर्म और धर्मी दोनों मिलकर 'पक्ष' कहलाते हैं) । इसमें हेतु क्या है ? पूर्वोक्त अनु-

नुभूयमानसुखदुःखादिवदिति दृष्टान्तवचनम् । एवं सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तरूपेण त्र्यङ्गमनुमानं विज्ञेयम् । अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते—रामरावणादयः कालान्तरिता, मेर्वादयो देशान्तरिता भूतादयो भवान्तरिताः [1]परचेतोवृत्तयः परमाण्वादयश्च सूक्ष्मपदार्था धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् । किंवत्, यद्यदनुमानविषयं तत्तत्कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनं । अनुमानेन विषयाश्चेति, इत्युपनयवचनम् । तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनं । इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यन्न कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न भवति, यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् । अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम् । तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति । किन्त्वनुमानविषयत्वादित्ययं हेतुः, सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्व-

---

सार 'बाधक प्रमाण का अभाव' यह हेतु है । किसके समान ? अपने अनुभव में आते हुए सुख-दुःख आदि के समान, यह दृष्टान्त है । इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूप से तीन अंगों का धारक अनुमान जानना चाहिये । अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते हैं । राम और रावण आदि काल से दूर व ढके पदार्थ, मेरु आदि देश से अन्तरित पदार्थ, भूत आदि भव से ढके हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषों के चित्तों के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, ये धर्मी 'किसी भी विशेष-पुरुष के प्रत्यक्ष देखने में आते हैं', यह उन राम रावणादि धर्मियों में सिद्ध करने योग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्म के समुदाय से पक्षवचन (प्रतिज्ञा) है । राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष क्यों हैं ? 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन है । किसके समान ? 'जो-जो अनुमान का विषय है, वह-वह किसी के प्रत्यक्ष होता है, जैसे—अग्नि आदि', यह अन्वय दृष्टान्तका वचन है । 'देश काल आदि से अन्तरित पदार्थ भी अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है । इसलिये 'राम रावण आदि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगमन वाक्य है । अब व्यतिरेक दृष्टान्त को कहते हैं— 'जो किसी के भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमान के विषय भी नहीं होते; जैसे कि आकाश के पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है । 'राम रावण आदि अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है । इसलिये 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगमन वाक्य है । 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमान के विषय होने से' यहां पर 'अनुमान के विषय होने से' यह हेतु है । सर्वज्ञ रूप साध्य में

---

१. 'स्वभावान्तरिताः' इत्यपिपाठः ।

प्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावासिद्धविशेषणादसिद्धो[1] न भवति । तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभावं विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति । तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्तते तथा सर्वज्ञाभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति । अनैकान्तिकः कोऽर्थो ? व्यभिचारीति । तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितो न भवति, तथैव च प्रतिवादिनां प्रत्यसिद्धं सर्वज्ञसद्भावं साधयति, तेन कारणेनाकिंचित्करोऽपि न भवति । एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव । इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानम् ज्ञातव्यमिति ।

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शे विद्यमानेऽपि प्रतिविम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिविम्बस्थानीयपरमाण्वाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थानां क्वापिकाले परिज्ञानं न भवति । तथाचोक्तं **यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति**

यह हेतु सब तरह से सम्भव है; इस कारण यह हेतु स्वरूपासिद्ध, भावासिद्ध, इन विशेषणों से असिद्ध नहीं है । तथा उक्त हेतु, सर्वज्ञ रूप अपने पक्ष को छोड़कर सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष को सिद्ध नहीं करता, इस कारण विरुद्ध भी नहीं है । और जैसे 'सर्वज्ञ के सद्भाव रूप अपने पक्ष में रहता है, वैसे सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष में नहीं रहता, इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है । अनैकान्तिक का क्या अर्थ है ? 'व्यभिचारी' । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित भी नहीं है, तथा सर्वज्ञ को न मानने वाले भट्ट और चार्वाक के लिये सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता है अतः इन दोनों कारणों से अकिंचित्कर भी नहीं है । इस प्रकार से 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर रूप हेतु के दूषणों से रहित है, इस कारण सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता ही है । इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप से पाँचों अंगों वाला अनुमान जानना चाहिये ।

विशेष—जैसे नेत्रहीन पुरुष को दर्पण के विद्यमान रहने पर भी प्रतिबिंबों का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार नेत्रों के स्थानभूत सर्वज्ञतारूप गुण से रहित पुरुष को दर्पण के स्थानभूत वेदशास्त्र में कहे हुए प्रतिबिम्बों के स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थों का किसी भी समय ज्ञान नहीं होता । ऐसा कहा भी है कि—**जिस पुरुष**

---

१. 'विशेषणाद्यसिद्धो' इति पाठान्तरं ।

किम् । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥१॥ इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या । एवं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ५० ॥

अथ सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं **णमो सिद्धाणं** इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

नष्टाष्टकर्म्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः द्रष्टा ।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः ॥५१॥

व्याख्या—णट्ठट्ठकम्मदेहो शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिधेयकर्मकाण्डस्य

के स्वयं बुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है? क्योंकि नेत्रोंसे रहित पुरुष का दर्पण क्या उपकार करेगा? (अर्थात् कुछ उपकार नहीं कर सकता) ॥१॥ इस प्रकार यहाँ संक्षेप से सर्वज्ञ की सिद्धि जाननी चाहिये । ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों में ध्येयभूत सकल–परमात्म–श्रीजिन–भट्टारक के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥५०॥

अब सिद्धों के समान निज-परमात्म-तत्त्व में परमसमरसी-भाव वाले रूपातीत नामक निश्चय-ध्यान के परम्परासे कारणभूत तथा मुक्ति को प्राप्त, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की भक्तिरूप **णमो सिद्धाणं** इस पद के उच्चारणरूप लक्षण वाला जो पदस्थ-ध्यान, उसके ध्येयभूत सिद्धपरमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं[1]—

गाथार्थ—अष्ट कर्म रूपी शरीर को नष्ट करने वाली, लोकालोक-आकाश को जानने-देखने वाली, पुरुषाकार, लोक शिखर पर विराजमान, ऐसी आत्मा सिद्ध-परमेष्ठी है । अतः तुम सब उन सिद्ध-परमेष्ठी का ध्यान करो ॥५१॥

वृत्त्यर्थ—णट्ठट्ठकम्मदेहो शुभ-अशुभ मन-वचन और काय की क्रियारूप तथा

---

१. सिद्धों का स्वरूप गाथा १४ पूर्वार्ध में भी कहा गया है ।

निर्मूलनसमर्थेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरानन्दस्यंदिनि:क्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितज्ञानावरणाद्यष्टकर्मौदारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः। **लोयालोयस्स जाणओदट्ठा** पूर्वोक्तज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकगतत्रिकालवर्त्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयज्ञायकदर्शकत्वात् लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा भवति। **पुरिसायारो** निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलननिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः। **अप्पा** इत्युक्तलक्षण आत्मा। किं भण्यते? **सिद्धो** अञ्जनसिद्धपादुकासिद्धगुटिकासिद्धखंगसिद्धमायासिद्धादिलौकिकसिद्धविलक्षणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणः सिद्धो भण्यते। **झाएह लोयसिहरत्थो** तमित्थंभूतं सिद्ध-परमेष्ठिनं लोकशिखरस्थं दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपनानाविकल्पजालत्यागेन त्रिगुप्तिलक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या यूयम् इति। एवं निष्कलसिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानेन गाथा गता ५१॥

द्वैत शब्द के अभिधेयरूप कर्म समूह का नाश करने में समर्थ, निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न, रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, परम आनन्द एक लक्षण वाला, सुन्दर–मनोहर–आनन्द को बहाने वाला, क्रियारहित और अद्वैत शब्दका वाच्य, ऐसे परमज्ञानकांड द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म एवं औदारिक आदि पाँच शरीरों को नष्ट करने से, जो नष्ट–अष्ट–कर्म–देह है। **लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा** पूर्वोक्त ज्ञानकांड की भावना के फलस्वरूप पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और दर्शन दोनों के द्वारा लोकालोक के तीन कालवर्त्ती सर्व पदार्थ सम्बन्धी विशेष तथा सामान्य भावों को एक ही समय में जानने और देखने से, लोकालोक को जानने–देखने वाले हैं। **पुरिसायारो** निश्चयनय की दृष्टि से इन्द्रियागोचर–अमूर्त्तिक–परमचैतन्य से भरे हुए शुद्ध-स्वभावकी अपेक्षा आकार रहित हैं; तो भी व्यवहार से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने के कारण, मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिंब के समान, पुरुषाकार है। **अप्पा** पूर्वोक्त लक्षणवाली आत्मा; वह क्या कहलाती है? **सिद्धो** अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक (लोक में कहे जाने वाले) सिद्धों से विलक्षण केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों की प्रकटतारूप सिद्ध कहलाती हैं। **झाएह लोयसिहरत्थो** हे भव्यजनो! तुम देखे–सुने–अनुभव किये हुए जो पाँचों इंद्रियों के भोग आदि समस्त मनोरथरूप अनेक विकल्प-समूह के त्याग द्वारा मन–वचन–काय की गुप्तिस्वरूप रूपातीत ध्यान में स्थिर होकर, लोक के शिखर पर विराजमान पूर्वोक्त लक्षणवाले सिद्ध पर-

अथ निरुपाधिशुद्धात्मभावनानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं **णमो आयरियाणं** इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थध्यान तस्य ध्येयभूतमाचार्यपरमेष्ठिनं कथयति—

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ।।५२।।

दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतप आचारे ।
आत्मानं परं च युनक्ति सः आचार्यः मुनिः ध्येयः ।।५२।।

व्याख्या—दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतपश्चरणाचारेऽधिकरणभूते **अप्पं परं च जुंजइ** आत्मानं परं शिष्यजनं च योऽसौ योजयति सम्बन्धं करोति **सो आयरिओ मुणी झेओ** स उक्तलक्षण आचार्यो मुनिस्तपोधनो ध्येयो भवति । तथाहि—

मेष्ठी को ध्यावो ! इस प्रकार अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यानरूप यह गाथा समाप्त हुई ।।५१।।

अब उपाधि रहित शुद्ध-आत्मभावना की अनुभूति (अनुभव) का अविनाभूत निश्चय-पंच-आचार-रूप-निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकार के पांच आचारों में परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे आचार्य परमेष्ठो की भक्तिरूप और **णमो आयरियाणं** इस पद के उच्चारण-रूप जो पदस्थ ध्यान, उस पदस्थ-ध्यान के ध्येयभूत आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शनाचार १, ज्ञानाचार २, की मुख्यता सहित वीर्याचार ३, चारित्राचार ४ और तपाचार ५, इन पाँचों आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य (शिष्यों) को भी लगाते हैं, वे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं ।।५२।।

वृत्त्यर्थ—दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानाचार को प्रधानता सहित, वीर्याचार, चारित्राचार और तपश्चरणाचार में **अप्पं परं च जुंजइ** अपने को और अन्य अर्थात् शिष्य–जनों को लगाते हैं, **सो आयरिओ मुणी झेओ** वे पूर्वोक्त लक्षण वाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य हैं । **विशेष**—भूतार्थनय (निश्चयनय) का विषयभूत, 'शुद्धसमयसार' शब्द से वाच्य, भाव-

भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूप सम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं **निश्चयदर्शनाचारः** ॥१॥ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरण परिणमनं **निश्चयज्ञानाचारः** ॥२॥ तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्र, तत्राचरणं परिणमनं **निश्चयचारित्राचारः** ॥३॥ समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं **निश्चयतपश्चरणाचारः** ॥४॥ तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं **निश्चयवीर्याचारः** ॥५॥ इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव **छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसन्दरिसे । सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे ॥१॥** इति गाथाकथितक्रमेणाचाराराधनादिचरणशास्त्रविस्तीर्णबहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहारपञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बंधं करोति स आचार्यो भवति । स च पदस्थध्याने ध्यातव्यः ।

कर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म आदि समस्त पर-पदार्थों से भिन्न और परम-चैतन्य का विलासरूप लक्षण वाली, यह निज-शुद्ध-आत्मा ही उपादेय है; ऐसी रुचि सम्यक्-दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह **निश्चयदर्शनाचार** है ॥१॥ उसी शुद्ध आत्मा को, उपाधि रहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-राग आदि परभावों से भिन्न जानना, सम्यग्ज्ञान है; उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन, वह **निश्चयज्ञानाचार** है ॥२॥ उसी शुद्ध आत्मा में राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चल–चित्त होना, वीतरागचारित्र है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह **निश्चयचारित्राचार** है ॥३॥ समस्त परद्रव्यों को इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह–तप–रूप–बहिरंगसहकारीकारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चयतपश्चरण है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन **निश्चयतपश्चरणाचार** है ॥४॥ इन चार प्रकार के निश्चय आकार को रक्षा के लिये अपनी शक्ति का नहीं छिपाना, **निश्चयवीर्याचार** है ॥५॥ ऐसे उक्त लक्षणों वाले पाँच प्रकार के निश्चय आचार में और इसी प्रकार, **छत्तीस गुणों से सहित, पाँच प्रकार के आचार को करने का उपदेश देने वाले तथा शिष्यों पर अनुग्रह (कृपा) रखने में चतुर जो धर्माचार्य हैं उनको मैं सदा वंदना करता हूँ** ॥१॥ इस गाथा में कहे अनुसार आचार आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से कहे हुए बहिरङ्गसहकारीकारणरूप पाँच प्रकार के व्यवहार आचार में जो अपने को तथा अन्य को लगाते हैं (स्वयं उस पंचाचार को साधते हैं और दूसरों से सधाते हैं)

इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥५२॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं **णमो उवज्झायाणं** इति पदोच्चारणलक्षणं यत् पदस्थध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीश्वरं कथयति—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

यः रत्नत्रययुक्तः नित्यं धर्मोपदेशने निरतः ।
सः उपाध्यायः आत्मा यतिवरवृषभः नमः तस्मै ॥५३॥

व्याख्या—जो रयणत्तयजुत्तो योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः । **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं च हेयं, तथैवोत्तमक्षमादिधर्मं च नित्यमुपदिशति

वे आचार्य कहलाते हैं । वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थध्यान में ध्यान करने योग्य हैं । इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥५२॥

अब निज शुद्ध-आत्मामें जो उत्तम अध्ययन अर्थात् अभ्यास करना है, उसको निश्चय स्वाध्याय कहते हैं । उस निश्चयस्वाध्यायरूप निश्चयध्यान के परम्परा से कारणभूत भेद–अभेद–रत्नत्रय आदि तत्त्वों का उपदेश करनेवाले, परम उपाध्याय की भक्तिस्वरूप **णमो उवज्झायाणं** इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जो रत्नत्रय से सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है तथा मुनीश्वरोंमें प्रधान है, वह आत्मा उपाध्याय है । उसके लिये नमस्कार हो ॥५३॥

वृत्त्यर्थ—जो रयणत्तयजुत्तो जो बाह्य, आभ्यन्तर रत्नत्रय के अनुष्ठान (साधन) से युक्त हैं (निश्चय–व्यवहार–रत्नत्रय को साधने में लगे हुए हैं) । **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** 'छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व व नव पदार्थोंमें निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य, निज-शुद्ध-जीवास्तिकाय, निज-शुद्ध-आत्मतत्व और निज-शुद्ध-आत्मपदार्थ ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं' इस विषय का तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों का जो

योऽसौ स नित्यं धर्मोपदेशने निरतो भण्यते । **सो उवज्झाओ अप्पा** स चेत्थंभूत आत्मा उपाध्याय इति । पुनरपि किं विशिष्टः ? **जदिवरवसहो** पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां यतिवराणां मध्ये वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभः । **णमो तस्स** तस्मै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु । इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण गाथा गता ।।५३।।

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं **णमो लोए सव्वसाहूणं** इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यत् पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ।।५४।।

दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम् ।
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सः मुनिः नमः तस्मै ।।५४।।

व्याख्या—साहू स मुणी स मुनिः साधुर्भवति । यः किं करोति ? **जो हु साधयदि** यः कर्त्ता हु

निरन्तर उपदेश देते हैं, वे नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर कहलाते हैं । **सो उवज्झाओ अप्पा** इस प्रकार की वह आत्मा उपाध्याय है । उसमें और क्या विशेषता है ? **जदिवरवसहो** पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने से निज-शुद्ध-आत्मा में प्रयत्न करने में तत्पर, ऐसे मुनीश्वरों में वृषभ अर्थात् प्रधान होनेसे यतिवृषभ हैं। **णमो तस्स** उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो । इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र पूर्ण हुआ ।।५३।।

अब निश्चयरत्नत्रयस्वरूप—निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, बाह्य–अभ्यन्तर–मोक्षमार्ग के साधनेवाले परमसाधु की भक्तिस्वरूप **णमो लोए सव्वसाहूणं** पद के उच्चारणे, जपने और ध्यानेरूप जो पदस्थ ध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे साधु परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, सदाशुद्ध, ऐसे चारित्र को जो साधते हैं, वे मुनि 'साधु परमेष्ठी' हैं, उनको मेरा नमस्कार हो ।।५४।।

वृत्यर्थ—साहू स मुणी वे मुनि साधु होते हैं । वे क्या करते हैं ? **जो हु साध-**

स्फुटं साधयति । किं ? **चारित्तं** चारित्रं । कथंभूतं ? **दंसणणाणसमग्गं** वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां समग्रम् परिपूर्णम् । पुनरपि कथम्भूतं ? **मग्गं मोक्खस्स** मार्गभूतं; कस्य ? मोक्षस्य । पुनश्च किम् रूपं ? **णिच्चसुद्धं** नित्यं सर्वकालं शुद्धं रागादिरहितम् । **णमो तस्स** एवं गुणविशिष्टो यस्तस्मै साधवे नमो नमस्कारोस्त्विति । तथाहि—**उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम् । दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भिः** ।।१।। इत्यार्याकथितबहिरङ्गचतुर्विधाराधनाबलेन, तथैव **सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव । चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं** ।।१।। इति गाथाकथिताभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो भावनमस्कारस्तथा **णमो लोए सव्वसाहूणं** द्रव्यनमस्कारश्चभवत्विति ।।५४।।

एवमुक्तप्रकारेण गाथापञ्चकेन मध्यमप्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं ज्ञातव्यम् । अथवा

यदि जो प्रकट रूप से साधते हैं । किसको साधते हैं ? **चारित्तं** चारित्र को साधते हैं । किस प्रकार के चारित्र को साधते हैं ? **दंसणणाण समग्गं** वीतराग सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण चारित्र को साधते हैं । पुनः चारित्र कैसा है ? **मग्गं मोक्खस्स** जो चारित्र मार्गस्वरूप है । किस का मार्ग है ? मोक्ष का मार्ग है । वह चारित्र किस रूप है ? **णिच्च सुद्धं** जो चारित्र नित्य सर्वकालशुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । (वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, नित्य रागादि रहित, ऐसे चारित्र को अच्छी तरह पालनेवाले मुनि, साधु हैं) । **णमो तस्स** पूर्वोक्त गुण सहित उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो । स्पष्टीकरण—**दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है, उसको सत् पुरुषों ने आराधना कहा है** ।।१।। इस आर्याछन्दमें कही हुई बहिरङ्ग—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधना के बल से, तथा **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों आत्मा में निवास करते हैं, इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है** ।।१।। इस गाथा में कहे अनुसार, आभ्यन्तर एवं निश्चय चार प्रकार की आराधना के बल से बाह्य-आभ्यन्तर-मोक्षमार्ग दूसरा नाम है जिसका ऐसी बाह्य-आभ्यन्तर आराधना करके जो वीतराग चारित्र के अविनाभूत निज शुद्ध-आत्मा को साधते हैं अर्थात् भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं । उन्हीं के लिये मेरा स्वाभाविक-शुद्ध-सदानन्द की अनुभूतिरूप भावनमस्कार तथा **णमो लोए सव्वसाहूणं** इस पद के उच्चारणरूप द्रव्य नमस्कार हो ।। ५४ ।।

निश्चयेन **अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी । ते वि हु चिट्ठवि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ।।१।।** इति गाथाकथितक्रमेण संक्षेपेण, तथैव विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठिकथितग्रन्थक्रमेण, अति-विस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसंबन्धिपंचनमस्कारग्रन्थे चेति । एवं गाथापंचकेन द्वितीयस्थलं गतम् ।

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकारान्तरेणोपसंहाररूपेण पुनर-प्याह । तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यातृलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानलक्षणं चतुर्थपादे नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ।।५५।।

यत् किंचित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः ।
लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चयं ध्यानम् ।।५५।।

उक्त प्रकार से पाँच गाथाओं द्वारा मध्यमरूप से पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया गया है, यह जानना चाहिये । अथवा निश्चयनय से **अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा में स्थित हैं; इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है ।।१।।** इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार संक्षेप से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप जानना चाहिये । विस्तार से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप, पञ्चपरमेष्ठी का कथन करने वाले ग्रन्थ से क्रमानुसार जानना चाहिये । तथा सिद्धचक्र आदि देवों की पूजन-विधिरूप जो मन्त्रवाद-सम्बन्धी पञ्चनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थ है, उससे पञ्च-परमेष्ठियों का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक जानना चाहिये । इस प्रकार पाँच गाथाओं से दूसरा स्थल समाप्त हुआ ।

अब उसी ध्यानको विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप प्रकारान्तर से संक्षेपपूर्वक कहते हैं । 'गाथा के प्रथम पाद में ध्येय का लक्षण, द्वितीय पाद में ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण, तीसरे पाद में ध्यान का लक्षण और चौथे पाद में नयों का विभाग कहता हूं ।' इस अभिप्राय को मन में धारण करके भगवान् (श्री नेमिचन्द्र आचार्य) सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—ध्येय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए

व्याख्या—तदा तस्मिन् काले। **आहु** आहुर्ब्रुवन्ति। **तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं** तत्तस्य निश्चय-ध्यानमिति। यदा किम्? **णिरीहवित्ती हवे जदा साहू** निरीहवृत्तिर्निष्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति। किं कुर्वन्? **जं किंचिवि चितंतो** यत् किमपि ध्येयं वस्तुरूपेण विचिन्तयन्निति। किं कृत्वा पूर्वं? **लद्धूण य एयत्तं** तस्मिन् ध्येये लब्ध्वा। किं? एकत्वं एकाग्रचिन्तानिरोधनमिति। अथ विस्तरः—यत् किंचिद् ध्येयमित्यनेन किमुक्तं भवति? **प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवंचनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पंचपरमेष्ठयादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति। पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्ध-बुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति।** निष्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाऽभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहितं ध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति। एकाग्रचिन्तानिरोधन

साधु जब निष्पृह-वृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चय-ध्यान होता है ।।५५।।

वृत्त्यर्थ—तदा उस काल में। **आहु** कहते हैं। **तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं** उसको, उसका निश्चय ध्यान (कहते हैं)। जब क्या होता है? **णिरीहवित्ती हवे जदा साहु** जब निष्पृह वृत्तिवाला साधु होता है। क्या करता है? **जं किंचिवि चितंतो** जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरूप का विशेष चिन्तवन करता है। पहिले क्या करके? **लद्धूण य एयत्तं** उस ध्येय में प्राप्त होकर। क्या प्राप्त होकर? एकपने को अर्थात् एकाग्र-चिन्ता-निरोध को प्राप्त होकर। (ध्येय पदार्थ में एकाग्र-चिन्ता का निरोध करके यानी एकचित्त होकर, जिस किसी ध्येय वस्तुका चिन्तवन करता हुआ साधु जब निष्पृह-वृत्तिवाला होता है, उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चयध्यान कहते हैं)। विस्तार से वर्णन—गाथा में **यत् किंचित् ध्ययेम्** (जिस किसी भी ध्येय पदार्थ को) इस पद से क्या कहा है? **प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिये तथा चित्त को स्थिर करने के लिये पंचपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव निज-शुद्ध-आत्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है।** **निष्पृह** शब्द से मिथ्यात्व, तीनों वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरङ्ग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दस बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित, ध्यान करने वाले का स्वरूप कहा गया है। 'एकाग्र-चिन्ता-निरोध' से पूर्वोक्त नाना

च [1]पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चलत्वं ध्यानलक्षणं भणितमिति। निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः, निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः ॥५५॥

अथ शुभाशुभमनोवचनकायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमध्यानमित्युपदिशति—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥

चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किम् अपि येन भवति स्थिरः।
आत्मा आत्मनि रतः इदं एव परं ध्यानं भवति ॥ ५६ ॥

व्याख्या—मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूति-

---

प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। 'निश्चय' शब्द से, अभ्यास प्रारम्भ करनेवाले की अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और ध्यान में निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये। विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है ॥५५॥

(ध्याता पुरुष) शुभ-अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करने पर आत्मा में स्थिर होता है। वह स्थिर होना ही परम ध्यान है, ऐसा उपदेश देते हैं—

गाथार्थ—(हे भव्यों !) कुछ भी चेष्टा मत करो (काय की क्रिया मत करो), कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत चिन्तवन करो (संकल्प–विकल्प न करो) जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे, आत्मा में लीन होना ही परम ध्यान है ॥५६॥

वृत्त्यर्थ—मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि हे विवेकी पुरुषो ! नित्य निरंजन और क्रियारहित निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकनेवाली शुभ-अशुभ चेष्टा-

---

१. 'पूर्वोक्तद्विविधं' पाठान्तरम्।

प्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचनव्यापारं, तथैव शुभाशुभविकल्पजालरूपं चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुत हे विवेकिजनाः ! **जेण होइ थिरो** येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः ? **अप्पा** आत्मा । कथम्भूतः स्थिरो भवति ? **अप्पम्मि रओ** सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाह्लादजनकसुखास्वादपरिणतिसहिते निजात्मनि रतः परिणतस्तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भवति । **इणमेव परं हुवे ज्झाणं** इदमेवात्मसुखस्वरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति ।

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम् । तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूप, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम् । इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनानाममालायां यथासम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति ।

रूप काय की क्रिया को तथा शुभ-अशुभ-अन्तरंग-बहिरंगरूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूहरूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो । **जेण होइ थिरो** जिन तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है । वह कौन ? **अप्पा** आत्मा । कैसा होकर स्थिर होता है ? **अप्पम्मि रओ** स्वाभाविक शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परम-ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक ऐसे सुख के अनुभवरूप परिणति सहित स्व-आत्मा में रत, तल्लीन, तच्चित्त तथा तन्मय होकर स्थिर होता है । **इणमेव परं हुवे ज्झाणं** यही जो आत्मा के सुखस्वरूप में तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है ।

उस परमध्यान में स्थित जीवों को जो वीतरागपरमानन्द सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है । वह अन्य पर्यायवाची नामों से क्या-क्या कहा जाता है, सो कहते हैं । वही शुद्ध आत्म–स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश में प्रकटतारूप विवक्षित एक देश शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत–जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस–स्वरूप है । परमात्मध्यान के भावना की नाममाला में इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को यथासम्भव सब जगह लगा लेना चाहिये । (ये नाम एकदेशशुद्धनिश्चयनय से अपेक्षित हैं)

तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं, तदेव परमजिनस्वरूपं, तदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, तदेव निरञ्जनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसम्वेदनज्ञानम्, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शन, तदेव परमावस्थास्वरूपम्, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमात्मज्ञानं, तदेव परमावस्थारूप-परमात्मस्पर्शनं, तदेव ध्येयभूतशुद्धपारिणामिकभावरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धचारित्रं, तदेव परमपवित्रं, तदेवान्तस्तत्त्वं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्मसंवित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, स एव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सहजानन्दः, स एव सदानन्द, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव चैकाग्रचिन्तानिरोधः, स एव परमबोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चाचारः, स एव समयसारः, स एवाध्यात्मसारः, तदेव समतादिनिश्चयषडावश्यकस्वरूपं, तदेवाभेदरत्नत्रयस्वरूपं, तदेव वीतरागसामायिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवलज्ञानोत्पत्तिकारणं, तदेव सकलकर्मक्षय-

---

वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परम-निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्ध-स्वरूप है, वही निरंजन स्वरूप है, वही निर्मल स्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परम अवस्था स्वरूप है, वही परमात्म-दर्शन है, वही परमात्मज्ञान है, वही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध-पारिणामिक-भावरूप है, वही ध्यानभावनारूप है, वही शुद्ध-चारित्र है, वह ही परम-पवित्र है, वही अन्तरंग तत्त्व है, वही परम-तत्त्व है, वही शुद्ध-आत्म-द्रव्य है, वही परम-ज्योति है, वही शुद्ध-आत्मानुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म-संवित्ति (आत्म-संवेदन) है, वही निज-आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम-समाधि है, वही परम-आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वाभाविक आनन्द है, वही सदानन्द है, वही शुद्ध आत्म-पदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परमस्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र-चिन्ता-निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध-उपयोग है, वही परम-योग (समाधि) है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है; वह ही अध्यात्मसार है। वही समता आदि निश्चय-षट्-आवश्यक स्वरूप है, वह ही अभेद-रत्नत्रय-स्वरूप है, वह ही वीतराग सामायिक है, वह ही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल-ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त

कारणं, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिरूपपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतपरमधर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यानं, तदेव रागादिविकल्पशून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमवीतरागत्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभावः, इत्यादि समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्वविद्भिरिति ॥५६॥

अतः परं यद्यपि पूर्वं बहुधा भणितं ध्यातृपुरुषलक्षणं ध्यानसामग्री च तथापि चूलिकोपसंहाररूपेण पुनरप्याख्याति—

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥५७॥

कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप-आराधनास्वरूप है, वही परमात्मा–भावनारूप है, वही शुद्धात्म–भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परम-कला है, वही दिव्य–कला है, वही परम–अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परम-धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्फल ध्यान है, वही परम–स्वास्थ्य है, वही परम-वीतरागता है, वही परम-समता है, वही परम एकत्व है, वही परम-भेदज्ञान है, वही परम-समरसी-भाव है; इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि-रहित, परमआह्लाद एक-सुख-लक्षणमयी ध्यान-स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहनेवाले अन्य बहुतसे पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियोंके द्वारा जानने योग्य होते हैं ॥५६॥

यद्यपि पहले ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण और ध्यान की सामग्री का बहुत प्रकार से वर्णन कर चुके हैं, फिर भी चूलिका तथा उपसंहार रूप से ध्याता पुरुष और ध्यानसामग्री को इसके आगे कहते हैं—

गाथार्थ—क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान-रूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये निरन्तर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर रहो ॥५७॥

व्याख्या—तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा तपश्रुतव्रतवानात्मा चेतयिता ध्यानरथस्य धुरन्धरो समर्थो भवति, **जम्हा** यस्मात् **तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह** तस्मात् कारणात् तपश्रुतव्रतानां सम्बन्धेन यत् त्रितयं तत् त्रितये रताः सर्वकाले भवत हे भव्याः। किमर्थं ? तस्य ध्यानस्य लब्धिस्तल्लब्धिस्तदर्थमिति। तथाहि—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदेन बाह्यं षड्विधं, तथैव प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदेनाऽभ्यन्तरमपि षड्विधं चेति द्वादशविध तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च। तथैवाचाराराधनादिद्रव्यश्रुतं, तदाधारेणोत्पन्नं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपं भावश्रुतं च। तथैव च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां द्रव्यभावरूपाणां परिहरणं व्रतपञ्चकं चेति। एवमुक्तलक्षणतपःश्रुतव्रतसहितो ध्याता पुरुषो भवति। इयमेव ध्यानसामग्री चेति। तथाचोक्तम्—**वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं**

वृत्त्यर्थ—तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा क्योंकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने के लिये समर्थ होता है। **तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह** हे भव्यो ! इस कारण से तप, श्रुत और व्रत, इन तीन में सदा लीन हो जाओ। किस लिये ? उस ध्यान की प्राप्ति के लिये। **विशेष वर्णन**—१. अनशन (उपवास करना), २. अवमौदर्य्य (कम भोजन करना), ३. वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी करके भोजन करने जाना), ४. रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, खांड व नमक, इन छह रसों में से एक दो आदि रसों का त्याग करना), ५. विविक्तशय्यासन (निर्जन और एकान्त स्थलमें शयन करना, रहना, बैठना), ६. कायक्लेश (आत्मशुद्धि के लिये आतापन योग आदि करना), यह छह प्रकार का बाह्य तप; प्रायश्चित १, विनय २, वैयावृत्य ३, स्वाध्याय ४, व्युत्सर्ग (बाह्य अभ्यंतर उपाधि का त्याग) ५ और ध्यान ६, यह छह प्रकार का अन्तरंग तप; ऐसे बाह्य तथा अभ्यन्तररूप बारह प्रकार का (व्यवहार) तप है। उसी (व्यवहार) तप से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है। इसी प्रकार आचार-आराधना[1] आदि द्रव्यश्रुत है तथा उस द्रव्य-श्रुत के आधार से उत्पन्न व विकार रहित निज-शुद्ध-स्वसंवेदनरूप ज्ञान, भावश्रुत है। तथा हिंसा, अनृत, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह, इनका द्रव्य व भावरूप से त्याग करना, पाँच व्रत हैं। ऐसे पूर्वोक्त तप, श्रुत और व्रत से सहित पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है। तप, श्रुत तथा व्रत ही ध्यान की सामग्री है। सो ही कहा है **वैराग्य, तत्त्वों**

---

१. आचार-आराधना ग्रन्थ का नाम गा० ३५ व ४२ की टीका में संसारानुप्रेक्षा के अन्त में भी आया है।

नैर्ग्रन्थ्यं *समचित्तता । परीषहजयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ।।१।।

भगवन् ! ध्यान तावन्मोक्षमार्गभूतम् । मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्व्रतानि त्याज्यानि भवन्ति, भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तपःश्रुतव्रतानि व्याख्यातानि, तत् कथं घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—व्रतान्येव केवलानि त्याज्यान्येव न, किन्तु पापबन्धकारणानि हिंसादिविकल्परूपाणि यान्यव्रतानि तान्यपि त्याज्यानि । तथाचोक्तम् पूज्यपादस्वामिभिः—**अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः । अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।१।।** किंत्वव्रतानि पूर्वं परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तन्निष्ठो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपदं प्राप्य पश्चादेकदेशव्रतान्यपि त्यजति । तदप्युक्तम् तैरेव—**अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः । त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ।।१।।**

अयं तु विशेषः—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि । यानि पुनः

का ज्ञान, परिग्रहों का त्याग, साम्यभाव और परीषहों का जीतना ये पाँच ध्यान के कारण हैं ।।१।।

शंका—भगवान् ! ध्यान तो मोक्ष का कारण है, मोक्ष चाहनेवाले पुरुष को पुण्यबन्ध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है (व्रतों से पुण्य कर्म का बन्ध होता है; पुण्यबन्ध संसार का कारण है; इस कारण मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है), किन्तु आपने तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री बतलाया है । सो यह आपका कथन कैसे सिद्ध होता है ? **उत्तर**—केवल व्रत ही त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु पापबंध के कारण हिंसा आदि अव्रत भी त्याज्य हैं । सो ही **श्री पूज्यपादस्वामी** ने कहा है **अव्रतों से पाप का बंध और व्रतों से पुण्य का बंध होता है, पाप तथा पुण्य इन दोनोंका नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे ।।१।।** परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतों को धारण करके निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतों का भी त्याग कर देता है । यह भी **श्री पूज्यपादस्वामी** ने समाधिशतक में कहा है, **मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परमपद पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे ।।१।।**

---

* 'वशचित्तता' इत्यपि पाठः ।

सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव, न च त्यक्तानि। प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जातानि ? इति चेत्तदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्यागः; न च समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति। त्यागः कोऽर्थः ? यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि। कस्मादिति चेत् ? त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति। अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम्। कस्मात्—सर्वनिवृत्तित्वादिति। योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतश्चक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवा-

---

विशेष यह है—जो व्यवहाररूपसे प्रसिद्ध एकदेशव्रत हैं, ध्यानमें उनका त्याग किया है; किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध-आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान में समस्त शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत ग्रहण किये हैं, उनका त्याग नहीं किया है। **प्रश्न**—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेश रूप व्रत कैसे हो गये ? **उत्तर**—अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है; तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। अचौर्यमहाव्रत में यद्यपि बिना दिये हुए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, तो भी दिये हुए पदार्थों (पीछी, कमण्डल, शास्त्र) के ग्रहण करने में प्रवृत्ति है। इत्यादि एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पाँचों महाव्रत देशव्रत हैं। इन एकदेश रूप व्रतों का, त्रिगुप्ति स्वरूप निर्विकल्प समाधि-काल में त्याग है। किन्तु समस्त शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं है। **प्रश्न**—त्याग शब्द का क्या अर्थ है ? **उत्तर**—जैसे हिंसा आदि पाँच अव्रतों की निवृत्ति है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पञ्चमहाव्रतरूप एकदेशव्रतोंकी भी निवृत्ति है, यहाँ त्याग शब्दका यह अर्थ है। **शंका**—इन एकदेशव्रतों का त्याग किस कारण होता है ? **उत्तर**—त्रिगुप्तिरूप अवस्था में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयं स्थान नहीं है। (ध्यान में कोई विकल्प नहीं होता। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप हैं अतः वे ध्यान में नहीं रह सकते)। अथवा वास्तव में वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चयव्रत है क्योंकि उसमें पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के बाद दो घड़ी (४८ मिनट) काल में ही भरतचक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त

निति । परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति । तदेव भरतस्य दीक्षाविधानं कथ्यते । हे भगवन् ! जिनदीक्षादानान्तरं भरतचक्रिण: कियति काले केवलज्ञानं जातमिति श्रीवीर-वर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणमध्ये श्रेणिक महाराजेन पृष्टे सति गौतमस्वामी आह—पंच-मुष्टिभिरुत्पाटय त्रोटयन् बंधस्थितीन् कचान् । लोचानंतरमेवापद्राजन् श्रेणिक केवलम् ॥१॥

किया है, [1]उन्होंने भी जिन-दीक्षा ग्रहण करके, थोड़े काल तक विषय-कषाय की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम करके, तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रयमयी निश्चयव्रत नामक वीतरागसामायिक संज्ञा वाले निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु व्रतपरिणाम के स्तोक काल के कारण लोग श्री भरतजी के व्रत-परिणाम को नहीं जानते। अब उन ही भरतजी के दीक्षाविधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! भरतचक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे कितने समय में केवलज्ञान हुआ ? श्री गौतम गणधर ने उत्तर दिया हे श्रेणिक ! पंच-मुष्टियों से बालों को उखाड़कर (केश लोंच करके) कर्मबंध की स्थिति तोड़ते हुए, केशलोंच के अनन्तर ही भरतचक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥१॥

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश जैसी अमर कृति के निर्माता, महान् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विद्वान् क्षु० जिनेन्द्र-वर्णीजी (अन्त में मुनि सिद्धान्तसागरजी महाराज) लिखते हैं—

"दर्शन-ज्ञान-चारित्र के शास्त्रोक्त विभिन्न लक्षणों में दृष्ट यह सोपान क्रम ही पूर्वोत्तरवर्ती लक्षणों का, वह साधन-साध्य भाव है जिसे आचार्यों ने व्यवहार तथा निश्चय की समन्वयात्मक सन्धि के रूप में प्रस्तुत किया है। नय-योजना के प्रकरण में अथवा रत्नत्रय की साधना के प्रकरण में सर्वत्र व्यवहार-निश्चय की इस सन्धि के उल्लंघन करने का आज तक किसी ने साहस नहीं किया है, न ही कोई कर सकता है; क्योंकि ऐसी कल्पना न्याय तथा विज्ञान दोनों के विरुद्ध है। न्याय विरुद्ध तो इसलिये है कि बिना साधन साध्य की सिद्धि अथवा बिना हेतु पक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं। विज्ञान विरुद्ध इसलिये है कि बिना साधना के जीवन में दोष निवृत्ति तथा गुण-वृद्धि की बात कोरी कल्पना है। स्वयं तीर्थंकरों तक को इस भव में अथवा पूर्व भवों में विकट साधनायें करनी पड़ी हैं। बिना विशेष साधना के सिद्धि प्राप्त करने वाले भरत-चक्री जैसे विरल उदाहरण भी इस विज्ञान का खण्डन करने के लिये समर्थ नहीं है, क्योंकि उनके वर्तमान भव के पीछे पूर्ववर्ती जन्म-जन्मान्तरों की साधनायें स्थित हैं।"

[समकित, समीचीन साधना तथा वर्ण व्यवस्था पृ. १८-१९;
शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला]

अतः कोई ऐसा न समझ ले कि भरत की तरह बिना साधना के हमें भी दीक्षा लेते ही तत्काल केवलज्ञान हो जायेगा।

अत्राह शिष्यः । अद्य काले ध्यानं नास्ति । कस्मादिति चेत्—उत्तमसंहननाभावाद्दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च । अत्र परिहारः शुक्लध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति । तथाचोक्तं **मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स । तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥१॥ अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥२॥** तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं **अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम् ॥१॥** यथोक्तमुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन, पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसंहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं, तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने **यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ॥१॥**

शिष्य का प्रश्न—इस पंचमकाल में ध्यान नहीं है। क्योंकि इस काल में उत्तम संहनन (वज्रऋषभ नाराच संहनन) का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नहीं पाया जाता ? उत्तर—इस समय शुक्लध्यान नहीं है परन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षप्राभृत में कहा है भरतक्षेत्र विषय दुःषमा नामक **पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्म ध्यान होय है। यह धर्मध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित के होय है। जो यह नहीं मानता, वह अज्ञानी है ॥१॥ इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्र-पद अथवा लोकांतिकदेव पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं ॥२॥** ऐसा ही तत्त्वानुशासन ग्रंथ में भी कहा है—**इस समय (पंचमकाल) में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं; किन्तु श्रेणी से पूर्व में होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है ॥१॥** तथा—जो यह कहा है कि 'इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता' सो यह उत्सर्ग वचन है। अपवादरूप व्याख्यान से तो, उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है और वह उत्तम संहनन से ही होता है; किन्तु अपूर्वकरण (८वें) गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है, वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम संहननों के अभाव होने पर भी अन्तिम के (अर्द्धनाराच, कीलक और सृपाटिका) तीन संहननों से भी होता है। यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है—**वज्रकाय (संहनन) वाले के ध्यान होता है, ऐसा आगम-वचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है।**

यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानञ्च । यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि **तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो** इत्यादिगन्धर्वाराधनादिभणितं व्याख्यानम् कथम् घटते ? अथ मतम्—पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानाति । इदं भावश्रुतं पुनः सर्वमस्ति । नैवं वक्तव्यम् । यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि **मा रूसह मा तूसह** इत्येकं पदं किं न जानाति । तत एव ज्ञायतेऽष्टप्रवचनमातृप्रमाणमेव भावश्रुतं, द्रव्यश्रुतं पुनः किमपि नास्ति । इदन्तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव । तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते । तथाहि—अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्त्तिनो निर्ग्रंथसंज्ञा ऋषयो भण्यन्ते । तेषां चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति, जघन्येन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति ।

अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम् ? नैवं,

---

जो ऐसा कहा है कि, 'दश तथा चौदहपूर्व तक के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है' वह भी उत्सर्ग-वचन है । अपवाद व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान और केवलज्ञान होता है । यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो, तो तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हो गये इत्यादि गंधर्वाराधनादि ग्रन्थों में कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे । शंका—श्री शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों को प्रतिपादन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उनके पूर्णरूप से था । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, यदि शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों का कथन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंनें मा तूसह मा रूसह अर्थात् 'किसी में राग और द्वेष मत कर' इस एक पद को क्यों नहीं जाना । इसी कारण से जाना जाता है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातृका प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था । यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नहीं किया है; किन्तु चारित्र-सार आदि शास्त्रों में भी यह वर्णन हुआ है, तथाहि—अन्तर्मुहूर्त्त में जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं वे क्षीणकषाय गुणस्थानमें रहने वाले 'निर्ग्रन्थ' नामक ऋषि कहलाते हैं और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अङ्ग चौदहपूर्व पर्यन्त श्रुतज्ञान होता है, जघन्य से पाँच समिति तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है ।[1]

---

१. स. सि. ९।४७ में भी यही कहा है ।

अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत्? स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेपि पूर्वभवे भेदाभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्—**वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥१॥ संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्। तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षेऽपरं भवति कल्मषसंश्रयस्य ॥२॥ दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम्। धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥३॥ कंखिद कलुसिदभूतो कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो। ण य भुंजंतो**

शंका—मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और इस पञ्चम काल में मोक्ष होता नहीं, अतः ध्यान करने से क्या प्रयोजन? **समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस पञ्चमकाल में भी परम्परा से मोक्ष है। **प्रश्न**—परम्परा से मोक्ष कैसे है? **उत्तर**—(ध्यानी पुरुष) निज-शुद्ध-आत्म-भावना के बल से संसार–स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं। वहाँ से आकर मनुष्य भव में रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष जाते हैं। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचन्द्र, पांडव (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम) आदि मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्वभव में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से संसार–स्थिति को स्तोक करके फिर मोक्ष गये। उसी भव में सबको मोक्ष हो जाती है, ऐसा नियम नहीं। उपर्युक्त कथनानुसार अल्पश्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। यह जानकर क्या करना चाहिये? **द्वेष से किसी को मारने, बांधने व अंग काटने आदि का और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतवन करना है, निर्मल बुद्धिके धारक आचार्य जिनमत में उसको अपध्यान कहते हैं ॥१॥ हे जीव! संकल्परूपी कल्प वृक्ष का आश्रय करने से तेरा चंचल चित्त इस मनोरथरूपी सागर में डूब जाता है, वैसे उन संकल्पों में जीव का वास्तव में कुछ प्रयोजन नहीं सधता, प्रत्युत कलुषता से समागम करने वालों का अर्थात् कलुषित चित्त वालों का अकल्याण होता है ॥२॥ जिस प्रकार दुर्भाग्य से दुःखित मन वाले तेरे अन्तरंग में भोग भोगने की इच्छा से व्यर्थ तरंगें उठती रहती हैं। उसी प्रकार यदि वह मन परमात्मरूप स्थान में स्फुरायमान हो तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो सकता है? अर्थात् तेरा जन्म सफल हो जावे ॥३॥ आकांक्षासे कलुषित हुआ और काम भोगों में मूर्च्छित, यह जीव भोगोंको नहीं भोगता हुआ भी भावों से कर्मों को बांधता है ॥४॥** इत्यादि रूप दुर्ध्यानको छोड़कर **निर्ममत्व-**

भोमे बंधदि भावेण कम्माणि ॥४॥ इत्याद्यपध्यानं त्यक्त्वा—**ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो। आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥१॥ आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य। आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२॥ एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥३॥** इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति।

अथ मोक्षविषये पुनरपि नयविचारः कथ्यते। तथाहि मोक्षस्तावत् बंधपूर्वकः। तथाचोक्तं—**मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बंधो नो बंधो मोचनं कथम्। अबंधे मोचनं नैव मुंचेरर्थो निरर्थकः ॥१॥** बंधश्च शुद्धनिश्चनयेन नास्ति, तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि। यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षो नास्ति। किंच—यथा शृङ्खलाबद्धपुरुषस्य बंधच्छेदकारणभूतभावमोक्षस्थानीयं बंधच्छेदकारणभूतं पौरुषं पुरुषस्वरूपं न भवति, तथैव शृङ्खलापुरुषयोर्यद्द्रव्यमोक्षस्थानीयं पृथक्करणं

में स्थित होकर अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ, मेरे आत्मा का ही आलंबन है, अन्य सबको मैं त्यागता हूँ ॥१॥ मेरा आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ॥२॥ ज्ञान-दर्शन का धारक अविनाशी एक मेरा आत्मा है, और शेष सब संयोग लक्षण वाले बाह्य भाव हैं ॥३॥ इत्यादि सारभूत पदों को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए।

अब मोक्ष के विषय में फिर भी नय विचार कहते हैं—मोक्ष बन्धपूर्वक है। सो ही कहा है—**यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये। क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है। इसलिए अबंध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुंच् धातु (छूटने की वाचक) का प्रयोग ही व्यर्थ है** (कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है। ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होती है)। शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से बन्ध है ही नहीं। इस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बन्ध होता रहे, मोक्ष ही न हो। जैसे जंजीर से बंधे हुए पुरुष के, बंध नाश के कारणभूत जो भावमोक्ष है उसकी जगह जो जंजीर के बंधन को छेदने का कारणभूत उद्यम है, वह पुरुष का स्वरूप नहीं है और इसी प्रकार द्रव्यमोक्ष के स्थान में जो जंजीर और पुरुष इन दोनों का अलग होना है, वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है, किन्तु उन उद्यम और जंजीर के छुटकारे से जुदा जो देखा हुआ हस्तपाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी

तदपि पुरुषस्वरूपं न भवति । किंतु ताभ्यां भिन्नं यद्दृष्टं हस्तपादादिरूपं तदेव पुरुषस्वरूपम् । तथैव शुद्धोपयोगलक्षणं भावमोक्षस्वरूपं शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवति, तथैव तेन साध्यं यज्जीवकर्मप्रदेशयोः पृथक्करणं द्रव्यमोक्षरूपं तदपि जीवस्वभावो न भवति; किंतु ताभ्यां भिन्नं यदनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं फलभूतं तदेव शुद्धजीवस्वरूपमिति । अयमत्रार्थः—यथा विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायमोक्षरूपो मोक्षोऽपि, न च शुद्धनिश्चयनयेनेति । यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः, स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न । स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति, न च ध्यानभावनापर्यायरूपः । यदि पुनरेकान्तेन द्रव्यार्थिकनयेनापि स एव मोक्षकारणभूतो ध्यानभावना पर्यायो भण्यते तर्हि द्रव्यपर्यायरूपधर्मद्वयाधारभूतस्य जीवधर्मिणो मोक्षपर्याये जाते सति यथा ध्यानभावनापर्यायरूपेण विनाशो भवति, तथा ध्येयभूतस्य जीवस्य शुद्धपारिणामिकभावलक्षणद्रव्यरूपेणापि विनाशः प्राप्नोति, न च द्रव्यरूपेण विनाशोऽस्ति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकभावेन बन्धमोक्षौ न भवत इति ।

प्रकार शुद्धोपयोगरूप जो भाव मोक्ष का स्वरूप है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप नहीं है और उसी तरह उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म के प्रदेशों के पृथक् होने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह भी जीव का स्वभाव नहीं है, किन्तु उन भाव व द्रव्यमोक्ष से भिन्न तथा उनका फलभूत जो अनन्त ज्ञान आदि गुण-रूप स्वभाव है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है । यहाँ तात्पर्य यह है कि, जैसे विवक्षित-एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से पहिले मोक्षमार्ग का व्याख्यान है; उसी प्रकार पर्यायमोक्ष रूप जो मोक्ष है, वह भी एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से है; किन्तु शुद्ध-निश्चयनय से नहीं है । जो शुद्ध-द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध-पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है, वह परमनिश्चय मोक्ष जीव में अब होगी, ऐसा नहीं है । राग आदि विकल्पों से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय में, वही परम निश्चय मोक्ष ध्येय होता है, वह निश्चय मोक्ष ध्यान-भावना-पर्यायरूप नहीं है । यदि एकांत से द्रव्यार्थिक नय से भी उसी (परमनिश्चय मोक्ष) को मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय कहा जावे, तो द्रव्य और पर्याय रूप दो धर्मोंके आधार-भूत जीव-धर्मी का, मोक्षपर्याय प्रकट होने पर, जैसे ध्यान-भावना-पर्यायरूप से विनाश होता है, उसी प्रकार शुद्ध-पारिणामिक-भाव स्वरूप द्रव्य रूप से भी ध्येयभूत जीव का विनाश प्राप्त होगा; किन्तु द्रव्य रूप से जीव का विनाश नहीं है । इस कारण, 'शुद्ध-पारिणामिक भाव से जीव के बंध और मोक्ष नहीं है' यह कथन सिद्ध हो गया ।

अब आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं । 'अत' धातु निरंतर गमन करने रूप

अथात्मशब्दार्थः कथ्यते । 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इतिवचनात् । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा ।

किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तत्तु न घटते । कस्मादिति चेत्—चन्द्रकिरणोपाधिवशेन घटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकश्चन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता, न चैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेत्—तर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं चैतन्यं प्राप्नोतीति, न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य सुख-

---

अर्थ में है और सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं[1] इस वचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणों में सर्व प्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है । अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा यथासम्भव तीव्र-मंद आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्त्तता है, वह आत्मा है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्त्तता है, वह आत्मा है ।

आशंका—जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जल के भरे हुए घटों में देखा जाता है, इसी प्रकार एक ही जीव अनेक शरीरों में रहता है । उत्तर—यह कथन घटित नहीं होता । प्रश्न—क्यों नहीं घटित होता ? उत्तर—चन्द्रकिरणरूप उपाधि-वश से घटों में स्थित जल-रूपी पुद्गल ही नाना—चन्द्र—आकार रूप परिणत हुआ है, एक चन्द्रमा अनेक रूप नहीं परिणमा है । दृष्टान्त कहते हैं—जैसे देवदत्त के मुख रूप उपाधि के वश से अनेक दर्पणों में स्थित पुद्गल ही अनेक मुख रूप परिणमते हैं, एक देवदत्त का मुख अनेक रूप नहीं परिणमता । यदि कहो कि देवदत्त का मुख ही अनेक मुख रूप परिणमता है, तो दर्पणस्थित देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्ब भी, देवदत्त के मुख की तरह, चेतन (सजीव) हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं है (दर्पणों में मुख-प्रतिबिम्ब चेतन नहीं हैं), यदि अनेक शरीरों में एक ही जीव हो तो, एक जीव को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने पर, उसी क्षण सब जीवोंको सुख-दुःख-जीवन-

---

१. राजवार्तिकेऽप्युक्तम्—गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् । रा. वा. ५।२।१ पृ. ४३६ ।

दुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिकं प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते। अथवा ये वदन्ति यथैकोपि समुद्रः क्वापि क्षारजलः क्वापि मिष्टजलस्तथैकोऽपि जीवः सर्वदेहेषु तिष्ठतीति। तदपि न घटते। कथमिति चेत्—जलराश्यपेक्षया तत्रैकत्वं, न च जलपुद्गलापेक्षया तत्रैकत्वम्। यदि जलपुद्गलापेक्षया भवत्येकत्वं तर्हि स्तोकजले गृहीते शेषजलं सहैव किन्नायाति। ततः स्थितं षोडशवर्णिकासुवर्णराशिवदनन्तज्ञानादिलक्षणं प्रत्येकं जीवराशिं प्रति, न चैकजीवापेक्षयेति।

अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते। मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति। एवं ध्यानसामग्रीव्याख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥५७॥

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

द्रव्यसंग्रहं इमं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः।
शोधयन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत् ॥५८॥

मरण आदि प्राप्त होने चाहिये; किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो खारे जल वाला है, कहीं मीठे जल वाला है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहों में विद्यमान है' सो यह कहना भी घटित नहीं होता। **प्रश्न**—क्यों नहीं घटित होता? **उत्तर**—समुद्र में जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल-पुद्गलों (कणों) की अपेक्षा से एकता नहीं है। यदि जलपुद्गलों की अपेक्षा से एकता होती (एक अखण्ड द्रव्य होता) तो समुद्र में से थोड़ा जल ग्रहण करने पर शेष जल भी उसके साथ ही क्यों न आ जाता। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सोलह-वानी के सुवर्ण की राशि के समान अनन्तज्ञान आदि लक्षण की अपेक्षा जीवराशि में एकता है और एक जीव की (समस्त जीवराशि में एक ही जीव है, इस) अपेक्षा से जीवराशि में एकता नहीं है।

अब 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ कहते हैं। मिथ्यात्व–राग आदि समस्त विकल्प समूह के त्याग द्वारा निज–शुद्ध–आत्मामें जो अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना), उसको 'अध्यात्म' कहते हैं। इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहार रूप से यह गाथा समाप्त हुई ॥५७॥

व्याख्या—सोधयंतु शुद्धं कुर्वन्तु । के कर्तारः ? मुणिणाहा मुनिनाथा मुनिप्रधानाः । विशिष्टाः ? दोससंचयचुदा निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषास्तथैव च निर्दोषपरमात्म तत्त्वपरिज्ञानविषये संशयविमोहविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचयच्युताः । पुनरपि कथम्भूताः ? पुण्णा वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन पूर्णाः समग्राः श्रुतपूर्णाः । कं शोधयन्तु ? दव्वसंगहमिणं शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां संग्रहो द्रव्यसंग्रहस्तं द्रव्यसंग्रहाभिधानम् ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीभूतम् । किं विशिष्टं ? भणियं जं भणि प्रतिपादितो यो ग्रन्थः । केन कर्तृभूतेन ? णेमिचन्दमुणिणा श्री नेमिचन्द्रमुनिना श्री नेमिचन्द्रसिद्धा देवाभिधानेन मुनिना सम्यग्दर्शनादिनिश्चयव्यवहाररूपपञ्चाचारोपेताचार्येण । कथम्भूतेन ? तणु धरेण तनुश्रुतधरेण तनुश्रुतं स्तोकं श्रुतं तद्धरतीति तनुश्रुतधरस्तेन । इति क्रियाकारकसम्बन्धः । ध्यानोपसंहारगाथात्रयेण, औद्धत्यपरिहारार्थं प्राकृतवृत्तेन च द्वितीयान्तराधिकारे तृतीयं स्थलं ग ॥५८॥ इत्यन्तराधिकारद्वयेन विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः समाप्तः ।

अब ग्रन्थकार अपने अभिमान के परिहार के लिये छन्द कहते हैं—

गाथार्थ—अल्पज्ञान के धारक मुझ नेमीचन्द्र मुनि ने जो यह द्रव्यसंग्रह क है, दोषों से रहित और ज्ञान से पूर्ण ऐसे आचार्य इसका शोधन करें ।

वृत्त्यर्थ—सोधयंतु शुद्ध करें । कौन शुद्ध करें ? मुणिणाहा मुनिनाथ, मुनि में प्रधान अर्थात् आचार्य । कैसे हैं वे आचार्य ? दोससंचयचुदा निर्दोष-परमात्मा विलक्षण जो राग आदि दोष तथा निर्दोष-परमात्मादि तत्त्वों के जानने में संशय विमोह-विभ्रमरूप दोष, इन दोषों से रहित होने से, दोषों से रहित हैं । फिर कै हैं ? सुदपुण्णा वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उस परमागम के आधार उत्पन्न निर्विकार-स्व-अनुभव रूप भावश्रुत से परिपूर्ण होने से श्रुत पूर्ण हैं । किस शुद्ध करें ? दव्वसंगहमिणं शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव परमात्मा आदि द्रव्यों के संग्रह जो द्रव्यसंग्रह इस प्रत्यक्षीभूत 'द्रव्यसंग्रह' नामक ग्रन्थ को । कैसे द्रव्यसंग्रह को भणियं जं जिस ग्रन्थ को कहा है । किसने कहा है ? णेमिचन्दमुणिणा सम्यग्दर्श आदि निश्चय-व्यवहार रूप पंच-आचार सहित आचार्य 'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदे नामक मुनि ने । कैसे नेमिचन्द्र आचार्य ने ? तणुसुत्तधरेण अल्पश्रुतज्ञानी ने । ज स्तोक श्रुत को धारण करे वह अल्प-श्रुत-ज्ञानी है । इस प्रकार क्रिया और कार का सम्बन्ध है । इस प्रकार ध्यान के उपसंहार रूप तीन गाथाओं से तथा ज्ञान अभिमान के परिहार के लिये एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकार में तृतीय स्थ समाप्त हुआ ॥५८॥

अत्र ग्रन्थे **विवक्षितस्य सन्धिर्भवति** इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति । वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम् । तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादिप्रतिपादनविषये विस्मृतिदूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **जीवमजीवं दव्वं** इत्यादिसप्तविंशतिगाथाभिः षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा **प्रथमोधिकारः** । तदनन्तरं **आसव बन्धण** इत्येकादशगाथाभिः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा **द्वितीयोऽधिकारः** । ततः परं **सम्मद्दंसण** इत्यादिविंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा **तृतीयोऽधिकारः** ॥

इत्यधिकारत्रयेनाष्टाधिकपञ्चाशत्सूत्रैः श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य
द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्ता ।

ऐसे दो अन्तराधिकारों द्वारा बीस गाथाओंसे मोक्षमार्ग-प्रतिपादक तृतीयाधिकार समाप्त हुआ ॥

इस ग्रन्थ में विवक्षित विषय की संधि होती है इस वचन–अनुसार पदों की संधि का नियम नहीं है। (कहीं पर संधि की है और कहीं पर नहीं) । सरलता से बोध करानेके लिये वाक्य छोटे-छोटे बनाये गये हैं । लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संबंध, समास, विशेषण और वाक्य-समाप्ति आदि दूषण एवं शुद्ध-आत्मा आदि तत्त्वों के कथन में विस्मरण (भूल) आदि दूषण इस ग्रन्थ में हों, उन्हें विद्वान् पुरुष ग्रहण न करें।

इस तरह **जीवमजीवं दव्वं** इत्यादि २७ गाथाओं का **षट्द्रव्यपंचास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार** है। तदनन्तर **आसव बंधण** इत्यादि ११ गाथाओं का **सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा दूसरा अधिकार** है । उसके पश्चात् **सम्मद्दंसण** आदि बीस गाथाओं का **मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तीसरा अधिकार** है ।

इस प्रकार श्रीनेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तिदेव विरचित तीन अधिकारों की
५८ गाथाओं वाले द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-वृत्ति
तथा उसका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।

लघुद्रव्यसंग्रहः

छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य ।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥

अर्थ—जेण जिनके द्वारा छद्दव्व छः द्रव्य, पंच अत्थी पांच अस्तिकाय, सत्त वि तच्चाणि सात तत्त्व, णव पयत्था य नव पदार्थ और भंगुप्पाय-धुवत्ता व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य, णिद्दिट्ठा निर्देश किये गये हैं, सो जिणो वे श्री जिनेन्द्रदेव जयउ जयवन्त रहो। ॥१॥

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य ।
दव्वाणि कालरहिया पदेश बाहुल्लदो*अत्थिकाया य ॥२॥

अर्थ—जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य दव्वाणि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—द्रव्य हैं, कालरहिया पदेश बाहुल्लदो अत्थिकाया य काल को छोड़कर शेष उक्त पांच द्रव्य, बहुप्रदेशी होवे के कारण, अस्तिकाय हैं ॥२॥

जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो ।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥३॥

अर्थ—जीवाजीवासवबन्ध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो तच्चाणि सत्त जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष—सात तत्त्व हैं; एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ये (उक्त सात तत्त्व) पुण्य व पाप सहित नव पदार्थ हैं ॥३॥

[१]जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता ।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥४॥

अर्थ—जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता भोत्ता जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह–प्रमाण, चेतना सहित, कर्ता और भोक्ता है, सो पुण दुविहो वह (जीव) दो प्रकार का है, सिद्धो संसारिओ सिद्ध और संसारी; णाणा (संसारी जीव) नाना प्रकार के हैं ॥४॥

१—कुछ अन्तर से बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ से मिलती है। *'अ(ऽ)त्थिकाया' इत्यपि पाठः।

[1]अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ-संट्ठाणं ।।५।।

अर्थ—जीवं जीव को अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं अलिंगग्गहणं अणिद्दिट्ठ-संट्ठाणं रस-रहित, रूप-रहित, गंध-रहित, अव्यक्त (स्पर्श-रहित), शब्द-रहित; अलिंग-ग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण में नहीं आने वाला), अनिर्दिष्ट संस्थान वाला (जिसका कोई संस्थान निर्दिष्ट नहीं है) और चेतन-गुण-वाला 'जाण' जानो ।।५।।

वण्ण–रस–गंध–फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ।।६।।

अर्थ—जस्स जिसके वण्ण-रस-गंध-फासा वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श विज्जंते विद्यमान हैं, सो मुत्तो पुग्गलकाओ वह मूर्तिक पुद्गल-काय पुढवी पहुदी हु सोढा पृथ्वी प्रभृति (आदि) छः प्रकार का जिणवरुद्दिट्ठा श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है ।।६।।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ।।७।।

अर्थ—पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू १–पृथ्वी, २–जल, ३–छाया, ४–(नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष) चार इन्द्रियों के विषय (वायु, शब्द आदि), ५–कर्मवर्गणा, ६–परमाणु, छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं श्री जिनेन्द्र देव ने पुद्गल द्रव्य को (ऐसे) छः प्रकार का कहा है ।।७।।

[2]गईपरिणयाण[3] धम्मो पुग्गलजीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ।।८।।

अर्थ—गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी गमन से परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्म-द्रव्य है, तोयं जह मच्छाणं जैसे मछलियों को (गमन में) जल सहकारी है, अच्छंता णेव सो णेई (किन्तु) गमन न करते हुए (ठहरे हुये पुद्गल व जीवों को) वह (धर्म-द्रव्य) गमन नहीं कराता है ।।८।।

[4]ठाणजुयाण अधम्मो[5] पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ।।९।।

अर्थ—ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ठहरे हुये पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी अधर्म-द्रव्य है, छाया जह पहियाणं जैसे छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी है, गच्छंता णेव सो धरई गमन करते हुये (जीव व पुद्गलों को) वह (अधर्म-द्रव्य) नहीं ठहराता है ।।९।।

---

१. स.सा.गा. ४९, २. बृ.द्र.सं.गा. १७, ३. 'परिणाण' अपि पाठ, ४. बृ.द्र.गा. १८, ५. 'अहम्मो' अपि पाठ।

[1]अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं [2]अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१०॥

अर्थ—अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं जेण्हं जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने योग्य है, उसको श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो, लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं लोकाकाश और अलोकाकाश (इन भेदों से आकाश) दो प्रकार का है ॥१०॥

[3]दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो ॥११॥

अर्थ—दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो जो द्रव्यों के परिवर्तन से जायमान है; वह व्यवहार-काल है; लोगागासपएसो एक्केक्काणू य परमट्ठो लोकाकाश में प्रदेश रूपसे स्थित एक-एक कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल है ॥११॥

[4]लोयायासपदेसे एक्केक्के[5] जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥१२॥

अर्थ—लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का रयणाणं रासीमिव जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर, रत्नों के ढेर के समान, (परस्पर भिन्न २ होकर) एक-एक स्थित हैं; ते कालाणू असंखदव्वाणि वे कालाणू असंख्यात द्रव्य हैं ॥१२॥

[6]संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे ।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥१३॥

अर्थ—संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे एक जीव में, धर्म (द्रव्य) में तथा अधर्म (द्रव्य) में असंख्यात (प्रदेश) हैं, अणन्त आयासे आकाश में अनन्त (प्रदेश) हैं, संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति पुद्गल में संख्यात, असंख्यात व (अनंत) प्रदेश हैं; णो काले काल में (प्रदेश) नहीं हैं (अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है, उसमें शक्ति या व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है) ॥१३॥

[7]जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥१४॥

अर्थ—जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं तं खु पदेसं जाणे अविभागी पुद्गलाणु से जितना आकाश रोका जाता है, उसको प्रदेश जानों; सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं (वह प्रदेश) सब (पुद्गल) परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है ॥१४॥

१–बृ.द्र.सं. गाथा १९। २–'अलोगागास' इत्यपि पाठः। ३–बृ.द्र.सं गा. २१ कुछ अंतर से। ४–बृ.द्र.सं.गा. २२। ५–'एक्कके' इति पाठान्तरः। ६–बृ.द्र.स.गाथा २५ का रूपान्तर। ७–बृ.द्र.स गा. २७।

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥१५॥

अर्थ—जीवो णाणी जीव ज्ञानी (ज्ञानवाला) है, **पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य अज्जीवा** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल—अजीव हैं, **जिण-भणिओ** ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है; **ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो** जो ऐसा नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥१५॥

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥

अर्थ—मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो मिथ्यात्व, हिंसा आदि (अव्रत), कषाय और योगोंसे आस्रव होता है, **बंधो सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं** कषाय सहित जीव नाना प्रकार के पुद्गल को जो ग्रहण करता है, वह बंध है ॥१६॥

मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ॥१७॥

अर्थ—मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को संवर कहा है, **णिज्जरादेसे कम्माण खओ** कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है, **सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य** बहुरि-वह (निर्जरा) अभिलाषा-सहित (सकाम, अविपाक) और अभिलाषा-रहित (अकाम, सविपाक) ऐसे दो प्रकार की है ॥१७॥

कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥१८॥

अर्थ—कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो कर्मों के बंधन से बद्ध सद्भूत (प्रशस्त) अंतरात्माका **सव्वकम्म-विणिम्मुक्को** जो सर्व कर्मोंसे पूर्णरूपेण मुक्त होना (छूटना) है **जिणेडिदो मोक्खो होई** वह मोक्ष है; ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है ॥१८॥

सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे ।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे ॥१९॥

अर्थ—सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे पुण्ण तित्थयरादी साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र एवं तीर्थंकर आदि प्रकृतियां पुण्य प्रकृतियां हैं **अण्णं पावं तु** अन्य (शेष प्रकृतियां) पाप हैं, **आगमे** ऐसा परमागममें कहा है ॥१९॥

णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाया धुवा एवं ॥२०॥

अर्थ—णासइ णर-पज्जाओ नर (मनुष्य) पर्याय नष्ट होती है, उप्पज्जइ देव-पज्जओ देव पर्याय उत्पन्न होती है, तत्थ जीवो स एव तथा जीव वह का वह ही रहता है, सव्वस्स भगुप्पाया धुवा एवं इसही प्रकार सर्व द्रव्योंके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है ।२०।

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णाएण (णयण) ।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ।।२१।।

अर्थ—उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णएण वस्तु में उत्पाद तथा व्यय पर्याय-नयसे होता है, दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा द्रव्य-दृष्टिसे (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जाननी चाहिये; सव्वजिणवुत्ता श्री सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा ऐसा कहा गया है ।।२१।।

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता ।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास (णासं) ।।२२।।

अर्थ—जइ इच्छइ कम्मणो णासं यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता इसप्रकार सूत्र से अभिगत होकर (परमागम के ज्ञाता होकर), काय को निश्चल करके और मनको स्थिर करके छंडउ रायं रोसं राग तथा द्वेष को छोड़ो ।।२२।।

विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ।।२३।।

अर्थ—जो अप्पा जो आत्मा विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु विषयों में लगे हुए मनको रोक कर, अप्पणो झायइ अप्पाणेणं अपनी आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, सो पावेइ खलु सेयं वह (आत्मा) वास्तव में कल्याण (सुख) को पाता है ।।२३।।

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ।।२४।।

अर्थ—सम्मं जीवादीयाणच्चा जीवादि को सम्यक् प्रकार जानकर जेहिं सम्मं सुकित्तिदा जिन्होंने उन जीवादि का भले प्रकार वर्णन किया है, मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं जो मोहरूपी गज (हस्ती) के लिये केसरी (सिंह) के समान हैं, उन साधुओं को (हमारा) नमस्कार होऊ नमस्कार होऊ ।।२४।।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ।।२५।।

अर्थ—सोमच्छलेण श्री सोम (श्रेष्ठी) के निमित्त से भव्वुवयारणिमित्तं भव्य जीवों के उपकार के लिये सिरिणेमिचंदेण गणिणा श्री नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ पदार्थों का लक्षण कहनेवाली गाथायें रइया रची गई हैं ।।२५।।

अकारादिक्रमेण वृहद्द्रव्यसंग्रहस्य गाथासूची

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

॥ वृहद्द्रव्यसंग्रहः ॥

नत्वा जिनार्कमपहस्तितसर्वदोषं, लोकत्रयाधिपतिसंस्तुत पादपद्मम् ।
ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं, षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

अहं प्रवक्ष्ये कथयिष्ये । कं **षड्द्रव्यनिर्णयं** षण्णां द्रव्याणां जीवादीनां निर्णयं तं । कथं प्रवक्ष्ये ? **प्रकटं** यथा भवति तथा । किं कृत्वा ? पूर्वं **नत्वा** नमस्कृत्य । कं **जिनार्कं** जिनादित्यं । कथम्भूतम्? **अपहस्तितसर्वदोषं** अपहस्तिता: निराकृता: सर्वे तृषादयो दोषा: येन स अपहस्तितसर्वदोषस्तं । आदित्येन अपहस्तिता निराकृता सर्वदोषा रात्रिः । पुनः कथंभूतं जिनार्कम् ? **लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मं** लोकत्रयस्याधिपतयः स्वामिनः धरणेन्द्र-नरेन्द्र-सुरेन्द्रास्तैर्वन्दितौ पादावेव पद्मौ यस्य सः लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मस्तं । आदित्योऽपि लोकत्रयाधिपतिभिः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः संस्तुत पादपद्म इति परसमयवचनं । पुनः कथंभूतम ? **ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं** ज्ञानं केवलज्ञानं तदेव प्रभा तया प्रकटिता: प्रकाशिता अखिलवस्तूनां निखिलपदार्थानां सार्था: समूहा: येन स ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थस्तम् । आदित्येनाऽपि प्रभया लोचनगोचराः सर्वे पदार्था: प्रकटिता इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

अथेष्टदेवताविशेषं नमस्कृत्य महामुनिसैद्धान्तिक श्री नेमिचन्द्र प्रतिपादितानां षड्द्रव्याणां स्वरूपबोधप्रबोधार्थं संक्षेपार्थतया विवरणं अहं प्रभाचन्द्रः करिष्ये ।

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठम ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

अहं तं जिनवरं वृषभं **वंदे** नमस्करोमि । कथंभूतम् ? **देविंदविंदवंदं** देवानां इन्द्राः देवेन्द्रास्तेषां वृन्दाः समूहास्तैः वन्द्यं पूज्यं । कदा वन्दे ? **सव्वदा** सर्वदा सर्वकालं, यावत् सरागपरिणतिस्तावद् वन्दे, न वीतरागावस्थायां तदात्मनस्तत्पदप्राप्तेर्न कस्याऽपि कोऽपि वन्द्यं । अतीतानागतवर्तमानकाले । केन वन्दे ? **सिरसा** मस्तकेन । तं कं वन्दे ? **जेण जिणवरवसहेण णिद्दिट्ठम्** येन जिनवरवृषभेण निर्दिष्टं प्रतिपादितं जिनवरा: गणधरदेवादयस्तेषां मध्ये वृषभः प्रधानः । अथवा जिनवरश्चासौ वृषभनाथश्च तेन जिनवरवृषभेण किं निर्दिष्टं प्रतिपादितं ? **जीवमजीवं दव्वं** जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च । जीवशब्दस्य का व्युत्पत्तिः ? व्यवहारनयेन दशभिः प्राणैः सह जीवति वर्तमानकाले, जीविष्यति भविष्यत् काले, जीवितपूर्वोऽतीतकाले । तत्प्राणानाह—

पंचविइंदिय पाणा मणवचिकायेण तिण्णि, बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आयुगपाणेण हुंति वह पाणा ।।

इति **जीवः** । अजीवद्रव्यं किं स्वरूपं ? पुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपं । द्रव्यस्य किं लक्षणं स्वरूपं ? निज-निज-प्रदेशसमूहैरखण्ड वृत्यास्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यं । द्रवति पर्यायं गच्छति । द्रोष्यति पर्यायं यास्यति । अदुद्रवदिति पर्यायं गतवत् पूर्वं तदपि गुणपर्ययवत् । **"गुणपर्ययवद्द्रव्यं"** अन्वयिनः सह सम्भवाः गुणाः ज्ञानादयः । व्यतिरेकिणो क्रमवर्तिनो अनुक्रमेण भवन्ति भिन्नाः **पर्यायाः**, अयनं आयः परि समन्तात् आयः पर्यायस्य व्युत्पत्तिः, स्वभावविभावपर्यायरूपतया परिणमतीति । ते च गुणाः गुण्यन्ते पृथक्क्रियन्ते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते **गुणाः** **द्विभेदाः** साधारणाः असाधारणाश्च । **पर्याया उत्पादव्ययरूपाः** । तत्र जीवस्य साधारणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अमूर्तत्वं चेति । असाधारणाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसुखानि । **पर्यायाः** – देवमनुष्यनारक तिर्यग्; वेकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय इति । स्पर्शन-रसन-घ्राण चक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ताः दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयः । **पुद्गलस्य स्वरूपमाह**—अविभागी-परमाणुद्रव्य-पुद्गलः तथा च जलाऽनलादिभिर्नाशं यो न याति स पुद्गलः इति वचनात् स च द्विविधो अणुरूपः स्कन्धरूपश्च । अत्र पुद्गले साधारणगुणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं चेति । असाधारणाः गुणाः स्पर्शरसरूपगंधवर्णाः । पर्यायाः गलन-पूरणस्वभावाः । घटितस्य पुनःस्थम्भादेः — गलनपूरणं नास्ति । कथं नास्ति ? सम्प्रति तत्र तन्तुना स्थम्भस्य मानं गृह्यते । वर्षशतेनाऽपिपुनस्तन्मात्रं भूमौस्थितानां दृश्यते । **धर्मद्रव्यस्य** साधारणगुणाः– **अस्तित्वं** । अस्ति इत्येतस्य भावः अस्तित्वं सद्रूपत्वं । **वस्तुत्वं** वस्तुनो भावः वस्तु, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु । **द्रव्यत्वं** द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं । **प्रमेयत्वं** प्रमाणेन सम्यग्ज्ञानेन स्वपरस्वरूप परिच्छेद्य प्रमेयं प्रमेयभावः प्रमेयत्वं । **अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, अमूर्तत्वमचेतनत्वं** चेति असाधारणाः गुणाः, जीवपुद्गलयोर्गति सहकारित्वं । पर्यायाउत्पादव्ययाः । **अधर्मद्रव्यस्य** साधारणगुणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वममूर्तत्वमचेतनत्वं चेति । असाधारणाः जीवपुद्गलयोः स्थितिसहकारित्वं पर्याया उत्पादव्ययाः । **कालद्रव्यस्य** साधारणगुणाः अस्तित्वादयः पूर्वोक्ताः ज्ञातव्याः । असाधारणाः द्रव्याणां परिणमयितृत्वं । **आकाशद्रव्यस्य** साधारणगुणाः —अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अमूर्तत्वं, प्रदेशत्वं, अचेतनत्वं चेति । असाधारणाः सकलपदार्थानामवकाशदायकं इति प्रतिपादिते सति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं वस्तु प्रतिपादितं कथितं ।।१।।

इदानीं जीवस्य स्वरूपमाह—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।। २ ।।

जीवो अस्ति स चेतनालक्षणः स्वपररूपसंवेदकः । निश्चयनयेन चतुर्भिः प्राणैः सत्ता-सुख-बोध चैतन्यैर्जीवति स जीवः । तथा **उवओगमओ** उपयोगमयः । ज्ञानदर्शनलक्षणोपयोगेन युक्तः । अनेन प्रकृतिगुणाज्ञानादय इत्यप्राप्तं मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च । तथा **अमुत्ति**–अमूर्तिः कर्मनोकर्मभिः सर्वदा सम्बन्धेऽपि नैव मूर्तिः । स्वकीयस्वभावभूतममूर्तस्वरूपं अपरित्यागात् । तथा **कत्ता**-कर्त्ता ? केषां कर्म्मणां तन्निमित्तात्मपरिणामानां च कर्ता । अनेन प्रकृतेरेव कर्मकर्तृत्वं नात्मा, इत्येकान्तो निरस्तः । तथा **सदेहपरिमाणो** नामकर्मोदयवशादुपात्ताणुमहच्छरीर परिमाणो न न्यूनो नाप्यधिकः । अनेनात्मनः सर्वगतत्वं वटकणिका मात्रत्वं च प्रत्याख्यात । तथा **भोत्ता**–भोक्ता केषां ? शुभाशुभकर्मसम्पादितेष्टाऽनिष्टविषयाणां तत्प्रभवसुखदुःखपरिणामानां च । तथा **संसारत्थो**–त्रसस्थावरपर्यायैर्युक्तः संसारे संसरतीति । तथा **सिद्धो सो** स प्रागुक्तात्मा सकलकर्मक्षयात् सिद्धो भवति । पुनः किं विशिष्टः ? **विस्ससोड्ढगई** सिद्धः सन् विश्वस्य लोकस्योर्ध्वं गच्छति । अथवा विस्ससो स्वभावेनोर्ध्वं गच्छति । किं वत्? एरण्डबीजवत्, अग्निशिखावत् च जलमध्ये आलाबुकवदिति । अनेन यत्रैव मुक्तस्तत्रैव स्थित इति निरस्तं । अत्रौदारिक–वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणि नोकर्म ।।२।।

स जीवो व्यवहाररूपतया परमार्थरूपतया च द्विविध उच्यते, इत्याह—

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ।।३।।

सो जीवो ववहारा स जीवो व्यवहारनयापेक्षया भण्यते । स कः ? **जस्स** यस्य विद्यन्ते । केते ? **चदुपाणा** चत्वारः प्राणाः । कस्मिन् काले ते चत्वारः प्राणा भवन्तीति **तिक्काले** अतीतानागतवर्तमानकालत्रयेऽपि एकेन्द्रियाद्यपेक्षया । किं नामानः ? **इन्दियबलमाउ आणपाणो य** इन्द्रियप्राणाः, बलप्राणाः आयुप्राणः आनपानप्राणश्च । एवं चत्वारो भेदेन पुनर्दश कथं ? पञ्च इन्द्रियादि गाथा प्रथमसूत्रव्याख्याने प्रथमोक्तं । पंचेन्द्रियसञ्ज्ञीजीवापेक्षा विकल्पः । **णिच्छयणयदो दु चेदणा** निश्चयनयापेक्षया चैतन्यमेवोदयं यस्य ।।३।।

तस्य जीवस्योपयोगद्वयमाह—

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ।। ४ ।।

उवओगो दुवियप्पो उपयोगो द्विविधः द्विविकल्पः कथमित्याह–**दंसणणाणं च** दर्शनोपयोगज्ञानोपयोगश्च । **दंसणं चदुधा** तत्र दर्शनोपयोगो चतुः प्रकारः कथमित्याह–**चक्खु अचक्खू ओही** चक्षुर्दर्शनं अचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं **अध** अथ **केवलं** केवलदर्शनं चेति । **णेयं** ज्ञेयं ज्ञातव्यमिति । अत्र चक्षुर्दर्शनमेकप्रकारं । अचक्षुर्दर्शनं स्पर्श-रस-गन्ध-श्रोत्रभेदाच्चतुर्भेदं ।।४।।

ज्ञानमष्टविकल्पं भवतीत्याह—

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदि ओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥

णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञानमष्टविकल्पं भवति । कथ ? **मदिसुदओही अणाणणाणाणि मणपज्जवकेवलमवि** मतिश्रुतावधिज्ञानानि । कथम्भूतानि ? **अणाणणाणाणि** अज्ञानसंज्ञानि । मत्यज्ञान श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानमज्ञानानि । मतिश्रुतावधिमनः पर्यय केवलमथानन्तरं । तत्र विशिष्ट मत्यावरण कर्मक्षयोपशमादिन्द्रियैर्मनसा च यज्जानाति तन्मतिज्ञानं षट्त्रिंशोत्तरशतत्रय (३३६) भेदाः । किं विशिष्टं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रुतं यज्जानाति तच्छ्रुतज्ञानं । तन्मतिपूर्वकं कथं ? यथांकुरोबीजपूर्वकः । तच्च द्विभेदमनेकभेदं च द्वौ भेदौ तावदुच्येते—अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च । अङ्गबाह्यम् अनेकविधं । कैः ? दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि । अथ चतुर्दशप्रकीर्णकाः । सामायिकोत्तरादिपुण्डरीकान्ताः । अङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गानि आचारादि—अनेकभेदपर्यायादि । विशिष्टावधिज्ञानावरणक्षयोपशमात् यत् सूक्ष्मान् पुद्गलान् परिछिनत्ति स्वपरयोश्च पूर्वजन्मान्तराणि जानाति, भविष्यजन्मान्तराणि च, तदवधिज्ञानं । तद्देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदात् त्रिभेदं । विशिष्टं मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमान्मनसोऽवष्टम्भेन परमनसि स्थितमर्थं यज्जानाति तन्मनः पर्ययज्ञानं । तत् ऋजु-विपुलमतिभेदात् द्विभेदं । ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायरूपघातिकर्मचतुष्टयनिर्मूलोन्मूलनाद्वेदनीयायुर्गोत्रनामकर्मणां दग्धरज्जुवद् अवस्थिते यदुत्पन्नं त्रैलोक्योदरवर्ति समस्तवस्तुयुगपत् सकलपदार्थप्रकाशकमसहायं तत् केवलज्ञानं । अत्र मतिश्रुते परोक्षे अवधिमनः पर्यये देशप्रत्यक्षे । केवल सकलप्रत्यक्षमिति ॥५॥

तस्य जीवस्य सामान्येन व्यवहारलक्षणं विशेषेण निश्चयलक्षणं चाह—

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

जीवलक्खणं भणियं जीवानां लक्षणं स्वभावो भणितः । कथंभूतं । **सामण्णं** सामान्यं । अयम् कोऽर्थः ? केषांचिच्छक्तिरूपेण केषाञ्चित् व्यक्तिरूपेण विद्यमानत्वात् । कदा सामान्यं **ववहारणया** व्यवहारनयापेक्षया । किं लक्षण ? **अट्ठ चदु णाणदंसण** अष्ट प्रकारं ज्ञानं । चतुः प्रकारं दर्शनं । एते व्याख्याते प्रागेव । **सुद्धणया सुद्धं पुण दसणं णाणं** शुद्धनयापेक्षया शुद्धं पुनर्दर्शनं ज्ञानं वा दृष्टित्वं ज्ञातृत्वं च ॥६॥

स च जीवो मूर्तिः भवति अमूर्तिश्चेत्याह—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ ७ ॥

स जीवो **अमुत्ति तदो** अमूर्तिस्ततः कारणादस्मात् **णो संति** नैव विद्यन्ते । के ते ? **वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ** वर्णाः पञ्च रक्त-पीत-नील-कृष्ण-श्वेताः । रसाः पञ्च कटुक तिक्त-कषाय-मधुर लवणाम्लाः । गन्धौ द्वौ सुरभिः दुरभिश्च स्पर्शा अष्ट-मदु-कर्कश-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-शीतोष्णाः । एते न सन्ति । कदा न सन्ति ? **णिच्छया** निश्चयनयापेक्षया । **ववहारा** व्यवहारनयापेक्षया । पुनः **मुत्ति** मूर्तियुक्तः । कुतः ? **बंधादो** कर्मनोकर्मबंधवशात् ॥७॥

स व्यवहारकर्मकर्ता परमार्थाकर्ता च भवतीत्याह—

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

स **आदा** आत्मा **कत्ता** कर्त्ता भवति । कदा ? **ववहारदो** व्यवहारनयापेक्षया केषां कर्त्ता ? **पुग्गलकम्मादीणं** पुद्गलकर्मादीनां । **णिच्छयदो** निश्चयनयापेक्षया । **दु** तु पुनः **चेदणकम्माणादा** क्रोधादीनां कर्त्ता । **सुद्धणया**-शुद्धनयापेक्षया । **सुद्धभावाणं** शुद्धभावानां अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यसुखानामुत्तरोत्तरप्रकृष्टपरिणामानां कर्त्ता ॥८॥

स च व्यवहारभोक्ता परमार्थाभोक्ता भवतीत्याह—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ६ ॥

स **आदा पभुंजेदि** आत्मा प्रभुंक्ते । किं तत् ? **पुग्गलकम्मप्फलं** पुद्गलसम्बन्धात् कर्मणां फलं सचेतनानां कर्म्मणामित्यर्थः । किं फलं ? **सुहदुक्खं** सुखं दुःखं च । कदा भुंक्ते ? **ववहारा** व्यवहारनयापेक्षया । **णिच्छयणयदो** निश्चयनयापेक्षया । पुनः **चेदणभावं खु आदस्स** आत्मनः परमानन्दस्वरूपतामुपभुंक्ते । **खु** स्फुटं ॥६॥

स आत्मा व्यवहारपरमार्थापेक्षयेत्थं प्रमाण इति वक्ष्याह —

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

चेदा ववहारा अणुगुरुदेहपमाणो स आत्मा व्यवहारनयमाश्रित्य सूक्ष्म-स्थूलदेहप्रमाणो । यदा कर्मवशात् कुन्थुपर्यायं गृह्णाति तदा तद्देहप्रमाणः । यदा हस्तिपर्यायं गृह्णाति तदातद्देहप्रमाणः । कुतः? **उवसंहारप्पसप्पदो** उपसंहारप्रसर्पणतः यतः उपसंहारविस्तारधर्मो ह्यात्मा । कोऽत्रदृष्टान्तः ? यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति, लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयतीति । किं तु **असमुहदो** समुद्घातसप्तकं वर्जयित्वा । तत्राणुगुरुत्वाभावः । समुद्घातभेदावाह ।

वेयण कसायवेगुव्वियो य मारणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥६६७॥ जीवकाण्ड ।

समुद्घातलक्षणमाह—

मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं तु ॥६६८॥ जीवकाण्ड ।

तत्प्रत्येकं यथा—तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति **वेदनासमुद्घातः** ।१। तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **कषायसमुद्घातः** ।२। मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **विक्रियासमुद्घातः** ।३। मरणांतसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद् बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्पृष्टुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति **मारणान्तिकसमुद्घातः** ।४। स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किञ्चित् कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यगुंलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत् । **असावशुभस्तेजः समुद्घातः** । लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ **शुभरूपस्तेजः समुद्घातः** ।५। समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसम्पन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति **असावाहारकसमुद्घातः** ।६। सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणस्वभावोऽयं चतुः प्रकारः स एव **केवलिसमुद्घातः** ।७।

स एव **णिच्छयणयदो** निश्चयनयापेक्षया **असंखदेसो वा** असंख्यात लोकमात्रं वा शब्दोऽत्र स्फुटार्थवाची । इत्युक्तस्वदेहप्रमाणप्रतिपादितजीवलक्षणं ।१०।

अनन्तानन्तजीवास्ते च त्रसस्थावराश्च भवन्तीत्याह—

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥
समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥१२॥ युग्मं ।

पुढविजलतेऽवाउवणप्फदी पृथ्वीकायिका, अप्कायिकास्तेजःकायिका वातकायिकाः वनस्पतिकायिकाश्च । विविहथावरेइंदी एते विविधाः स्थावराः । एकेन्द्रियाः । एतेषां कीदृशं स्वरूपम् ?

अंडेसु पव्वटंता गब्भत्थ माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगिंदिया णेया ॥

एतेषामनुक्ता अपि समारोप्य प्राणाः कथ्यन्ते । तदेकेन्द्रियस्य कति प्राणाः ? स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुप्राणश्चेति चत्वारः । ते चेकेन्द्रिय बादराः सूक्ष्माः पर्याप्ताः अपर्याप्ताश्च । एतेषां लक्षणं कथ्यते—वाग्गोचराः स्थूलाश्चिरस्थायिनो बादराः । अवाग्गोचराः सूक्ष्माः । प्रतिक्षणं विनाशिनः सूक्ष्माः । सप्रतिपाता बादराः । परैर्मूर्तद्रव्यैर्बाध्यमाना इत्यर्थः । अप्रतिपाताः सूक्ष्माः परैर्मूर्तद्रव्यैरबाध्यमानाः । पर्याप्तापर्याप्तयोः स्वरूपमाह—आहारशरीरेन्द्रियाणप्राणभाषामनसां परिपूर्णत्वे सति गर्भान्निर्गमनं पर्याप्तस्य लक्षणं । एतेषां अपरिपूर्णत्वे सति गर्भाच्च्यवनं अपर्याप्तस्य लक्षणं । गर्भइत्युपलक्षणमेतत् । नत्वेत्यादि आद्या इयं गाथा लेखनीया । तत्रैकेन्द्रियस्य आहारशरीरस्पर्शनेन्द्रियाणप्राणाश्चत्वारः । अपर्याप्तयः भाषामनसोरावरणीयं । पर्याप्तस्य षडपि परिपूर्णाः । विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी द्वि त्रि चतुः पञ्चेन्द्रियाः त्रससंज्ञाजीवाः । संखादयो ज्ञेयाः । अत्र द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः । एतेषां कतिप्राणाः ? षट्प्राणाः पूर्वोक्ताश्चत्वारो रसन-भाष द्वे एते पर्याप्ता अपर्याप्ताः । अत्र पर्याप्तस्य आहारशरीरस्पर्शनेन्द्रियाणप्राणा भाषाः पञ्चमनसो अभावः । अपर्याप्तस्य चत्वारः अपर्याप्तस्य भाषायाश्च अभावः । स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्तशङ्खशुक्तिकम्यादयोद्विन्द्रियाः प्राणाः षट् पूर्वोक्ताश्चत्वारः रसनभाषाश्च । त्रीन्द्रिय कुन्थुमक्कुणादयः प्राणाः सप्त । पूर्वोक्ताः षट् घ्राणप्राणश्च एते पर्याप्तापर्याप्ताश्च । अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पञ्च । मनसोऽभावः । अपर्याप्तस्य पूर्ववत् चत्वारः । चतुरिन्द्रियस्य प्राणाष्टौ पूर्वोक्ताः सप्त चक्षुप्राणाश्च एते पर्याप्तापर्याप्ताः । अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पंच । मनसोऽभावः । अपर्याप्तस्य पूर्ववच्चत्वारः । पंचेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनः प्राणाः नव । पूर्वोक्ता अष्टौ श्रोत्रप्राणाश्च । एते पर्याप्तापर्याप्ताः । अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पंच । मनसोऽभावः । अपर्याप्तस्य पूर्ववच्चत्वारः भाषायाऽभावः । पंचेन्द्रियस्य संज्ञिनः प्राणाः दश । पूर्वोक्ता नव मनोबलप्राणश्च । एते पर्याप्तापर्याप्तश्च । पर्याप्तस्य पर्याप्तयः षट् । अपर्याप्तस्य पर्याप्तयः चत्वारः भाषा-मनसोरभावः । ते च जीवाः समनस्कामनस्काश्च भवन्तीत्याह—समणा अमणा णेया पंचिंदिय पंचेन्द्रियाः समनस्का अमनस्काश्च भवन्ति । तत्र तिर्यंचः समनस्कामनस्काश्च । ये अमनस्कास्ते गोरहियादयो । जालन्धरमरुप्रदेशादिषु देशेषु दृश्यन्ते । णिम्मणा परे सव्वे एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय निर्मनसः । ननु यदि ते अमनस्कास्तदा कथं? तेषां पंचेन्द्रियप्रवृत्तिर्यतो मनः पूर्वकेन्द्रियप्रवृत्तिरिति शास्त्रवचनम् । अत्रोत्तरमाह—सर्वेषामेव जीवानां स्वभावत एवाहार-भय-मैथुन परिग्रहस्वरूपसंज्ञाचतुष्टयं विद्यत एव प्रतीतिश्च दृश्यते । यथा वृक्षस्य जलसिंचनात् वृद्धिः कुठारायुधपुरुषदर्शनात् कम्पः । वनिताचरणात् ताडनात् पुष्पनिर्गमः । वृक्षमूलपुरोहावष्टम्भनिधानग्रहणमिति ।

तस्मात्तेषां मनोव्यापार रहिता प्रवृत्तिः। पुनः प्रोच्यते तेषां सर्वथा मनसोऽभाव इति न। किन्तु शक्तिरूपत्वेन विद्यत एव। व्यक्तिरूपत्वेन नास्ति। कुतः? पूर्वोपार्जितमतिज्ञानावरणकर्मोदयवशात्। सर्वथा यदि मनसो अभावो भण्यते तदा अन्यजन्मनि मनुष्यपर्याये गृहीते सति विमनस्कत्व मायाति। एवं सति सर्वज्ञवचनविरोधः स्यात्। यतः सुरनरनेरइया समनस्काः आगमे प्रतिपादिताः। एवं तिर्यंचो विकल्पनीयाः तस्मात् कारणात् कर्मोदयवशात् व्यवहारनयापेक्षया तेषाममनस्कत्व न परमार्थतः॥११-१२॥

इति स्थिते च मार्गणागुणस्थानैः संसारिणो ज्ञातव्य इत्याह—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

तह संसारी मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवन्ति, असुद्धणया विण्णेया ते च जीवाः चतुर्दशमार्गणाभिः चतुर्दशगुणस्थानैश्च ज्ञातव्याः भवन्ति। कथंभूताः संसारिणः। कदा? अशुद्धनयापेक्षया। सुद्धणया हु सव्वे सुद्धा शुद्धनयापेक्षया तु पुनः सर्वे जीवाः शुद्धा अनन्तचतुष्टयात्मका इत्यर्थः। मार्गणाप्राह—

गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारो॥

अत्र गत्यादिषु जीवा अन्विष्यन्ते। गइ गतिः देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंग् सिद्धगतिश्च। इन्दिय इन्द्रियं-एकेन्द्रिया, बेन्द्रिया, तेन्द्रिया, चतुरेन्द्रिया, पञ्चेन्द्रिया, अतीन्द्रिया सिद्धः इत्यर्थः। काये-काये पृथ्वीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजःकायिकाः, वातकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः अकायिकाश्चेति। जोगे पञ्चदश—सत्यमनोयोगी, मृषामनोयोगी, सत्यमृषावनोयोगी, न सत्य न मृषा मनोयोगी। सत्यवचोयोगी, असत्यवचोयोगी, सत्यमृषावचोयोगी, न सत्य न मृषा वचोयोगी। औदारिक काययोगी औदारिकमिश्रकाययोगी, परमौदारिककाययोगी च। तत्रौदारिको मनुष्यतिरश्चां। मिश्रो अपर्याप्तानां। परमौदारिको केवलिनां। वैक्रियिककाययोगो, वैक्रियिक मिश्र काययोगी। तत्र वैक्रियिको देवनारकाणां, मिश्रो अपर्याप्तानां। आहारक काययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी। तत्राहारककाययोगः परमर्द्धिमहात्मापष्ठगुणस्थाने महर्षीणां भवति। यदा पदपदार्थसन्देहः समुत्पद्यते तदा उत्तमाङ्गे पुत्तलको निर्गच्छति। यत्रस्थं तीर्थङ्कर देवमन्तर्मुहूर्तं मध्ये पश्यति। तत्प्रस्तावे यतेर्निश्चयः समुत्पद्यते। पुनः स तत्र प्रवेशं करोति। मिश्रोऽपर्याप्तस्य कार्मणकाययोगी-अयोगी च। तत्र कार्मणकाययोगे विग्रहगतो जीवस्य सा चतुर्विधा ऋज्वी, पाणिविमुक्ता, लाङ्गली, गोमूत्रिका च। अयोगी सिद्धः। वेए—वेदेस्त्रीवेदा, पुंवेदा, नपुंसकवेदा अवेदाश्च। कसाय कषाय—क्रोधकषायिनो, मायाकषायिनो, मानकषायिनो, लोभकषायिनो, अकसायिनो। णाणे य ज्ञानं—मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी। आभिनिबोधकज्ञानी श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी चेति। संजम-संयमः व्रतधारणं, समितिपालनं,

कषायविनिग्रहः अशुभमनोवाक्कायानां त्यागः । इन्द्रियाणां जय इति संयमः । तत्र सामायिकसंयताः छेदोपस्थापनसंयताः, परिहारविशुद्धिसंयताः, सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः, यथाख्यातशुद्धिसंयताः, संयताऽसंयताः, असंयताश्च । तत्र सर्वसावद्यविरतिः सामायिकं, पञ्चमहाव्रतेषु, पञ्चसु समितिषु, त्रिगुप्तिषु, विषयेषु समुत्पन्नदोषस्य छेदः प्रायश्चित्तमित्यर्थछेदोपस्थापनं । परिहारविशुद्धिसंयमग्रहणकाले त्रिंशद्वर्षायुषः प्रमाणाः सप्ताष्टौ वर्षाणि तीर्थंकरकेवलिपादमूले प्रत्याख्याननामधेयमागममधीत्य प्रतिदिनं गव्यूतिष्ठत्यं गामिनः । त्रि पंच सप्त नव यतयः परमवैराग्यपराः केवलज्ञानिनं पृच्छन्ति । भगवन् ! परिहार विशुद्धिसंयमं देहि ! केवलज्ञानी ज्ञानेनावलोक्य यदि तेषामन्तराले मृत्युमुपसर्गं वा ज्ञानोत्पत्तिर्वा स्यात्, तदा न ददाति, यदि किमप्येतन्मध्ये न भवति, तदा ददाति । ते च देशान्तरे गत्वा परस्परवैयावृत्यं कुर्वाणाः कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति । षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तिनामेतेषामाचरणं परिहार विशुद्धिः । दशमगुणस्थानवर्तिनां मुनीनां सूक्ष्मलोभस्थितानामाचरणं सूक्ष्मसाम्परायः । एकादश-द्वादश-त्रयोदश-चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनामाचरणं यथाख्यातं । संयताऽसंयताः श्रावकाः मिथ्यात्वसासादन-मिश्र-अविरतसम्यग्दृष्टयः । असंयताः सिद्धश्च । दंसण—दर्शनं-चक्षुर्दर्शनीय-अचक्षुर्दर्शनीय-केवलदर्शनीयश्चेति । लेस्सा लेश्या,कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-पीतलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्याश्चेति । तत्र रौद्रो, बहुवैरकरः, कलहप्रियो, निर्दयो धर्मरहितः कृष्णलेश्या । आलस्ययुक्तो, निर्बुद्धिविषयलम्पटो, मानी, मायी, कातरो, निन्दको, वंचनपरो अतितृष्णापरो नीललेश्या । सदा रुष्टः, परनिन्दको, अकार्यकारी, शोकभयाकुलः, परपराभवकरः आत्मप्रशंसकः, परप्रतीतिरहित आत्मानमिव परं मन्यते, परस्तूयमानः तुष्यति, हानि-वृद्धि न जानाति, संग्रामेमरणप्रार्थकः कापोतलेश्या । त्यागी, विकसितवदनः, अकांक्षा-शौचयुक्तः, व्यवहारको—बहुक्षमायुक्तो, देवगुरुश्च तेषु भक्त स्तेजोलेश्या । कार्याकार्यपरिभावकः, सुखदुःखसमानो, दयादानरतः पण्डितः पद्मलेश्या । स्वपरपक्षपातरहितो, निदानशोकभयरागद्वेषपरिवर्जितः शुक्ललेश्या इति । भविया भव्याः सिद्धत्वयोग्याः जीवाः भव्यास्तद्विपरीता अभव्याः । भव्यत्वाभव्यत्वरहिताश्च सिद्धाः । सम्मत्त सम्यक्त्व, आप्तप्रतिपादितेषु पदार्थेषु जिनाज्ञया शास्त्राकर्णनश्रद्धापरोपशमसम्यग्दृष्टिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिः, क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिः, सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्चेति । तत्र सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वस्य किमुपादानं, कृतं अत्रोच्यते । यथा आम्रवनमध्ये निम्बोऽपि तद्ग्रहणेन गृह्यते । यथातो मिथ्यात्वं त्रिधा । मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वभेदात् । कोऽत्र दृष्टान्तः ? यथा यंत्रमध्ये निक्षिप्ताः कोद्रवाः केचित् समस्ता निर्गच्छन्ति, केचिदर्धदलिताः, केचित् चूर्णीभूता इति । एतदेव व्याख्येयं । तत्रानन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-सम्यङ्-मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतिसप्तानां प्रकृतीनां उपशमात् उपशमसम्यग्दृष्टिः । एतासाम् पूर्वोक्तानां सप्तप्रकृतीनाम् क्षयात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिः । अनन्तानुबन्ध्यादीनां षण्णां उदयाभावलक्षणक्षयात् सदवस्थोपशमात् सम्यक्त्वप्रकृति उदयाद्वेदकसम्यग्दृष्टिः । सम्यक्त्वात् पतितो मिथ्यात्वमद्याऽपि न प्राप्नोति । अन्तराले वर्तमानः सासादनसम्यग्दृष्टिः सर्वदेवा वन्दनीया न च निन्दनीया इति मिश्रपरिणामः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । आप्तागमपदार्थेषु विपरीताभिनिवेशो मिथ्यादृष्टिः । सण्णि संज्ञी मनोबलेन शिक्षालापग्राही संज्ञी । तद्विपरीत असंज्ञी । संज्ञ्यसंज्ञित्व रहिताश्च । आहारे विग्रहगतौ प्राप्तजीवाः समुद्घात-

केवलिनश्च अयोगिनः । सिद्धाश्च अनाहारा: शेषा आहारका: जीवा: । एवं चतुर्दशमार्गणा व्याख्याता: । तत्र गुणठाणे हिय चतुर्दशभिर्गुणस्थानैश्च जीव: ज्ञातव्य: । तत्राप्तागम पदार्थानामश्रद्धयो मिथ्यादृष्टय: ।१। सम्यक्त्वं परित्यज्य मिथ्यात्वमप्राप्यान्तराले वर्तमान: सासादनसम्यग्दृष्टय: ।२। सर्वे देवाः वन्दनीया न च निन्दनीया: इति परिणाम: सम्यग्मिथ्यादृष्टय: ।३। प्राणेन्द्रियेष्वविरतास्तत्त्वश्रद्धापरा असंयता: सम्यग्दृष्टय: ।४। त्रसवधात् विरता: स्थावरवधादविरता: संयता-संयतसम्यग्दृष्टय: ।५। व्यक्ताव्यक्तविकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयप्रमादवशतो महाव्रतधारका: प्रमत्तसंयता: ।६। नष्टाशेषप्रमादा व्रतशीलगुणान्विता ध्यानोपयुक्ता अप्रमत्तसंयता: ।७। अतीतसमयस्थितपरिणामै: सर्वथा असदृश्य परिणामामोहस्योपशमक्षपणोद्यता अपूर्वकरणास्ते चोपशमक: क्षपकाश्च ।८। एकस्मिन् समये संस्थानादिभिरिव परिणामै: परस्परं न व्यावर्तते इत्यनिवृत्तिकरणास्ते चोपशमका: क्षपकाश्च ।९। पूर्वापूर्व स्पर्धकं—यद्वेदकत्वं तस्मादनन्तगुणहीना: सूक्ष्मलोभे स्थिता: सूक्ष्मसाम्परायास्ते चोपशमका: क्षपकाश्च ।१०। कतकफलसंयोगादधस्थित पङ्कस्वच्छजलवदुपशान्ताशेषमोहा उपशान्तकषायावीतरागछद्मस्था इत्यर्थ: । छद्मस्थ इति ज्ञानावरण-दर्शनावरणस्यस्थित्वात् ।११। स्फटिकमणिभाजयस्थित निर्मलजलवत् । क्षपिताशेषमोहा: विशुद्धपरिणामा: क्षीणकषाया वीतराग छद्मस्था: ।१२। केवलज्ञानप्रकाशध्वस्त अज्ञानान्धकारा नवकेवललब्धिसमन्विता: द्रव्यमनोवाक्काययोगसहाया: दर्शनज्ञाने युगपत् ज्ञायका: सयोगिकेवलिन: ।१३। लब्धय: क: ?

> दाणे लाहे भोए उवभोए वीरिएय सम्मत्ते ।
> दंसणणाणचरित्ते, एदे णव जीवसद्भावा ।।

चतुरशीतिलक्षगुणाधिपतय: वाणी निरुद्धा अशेष योगास्रवा अयोगिकेवलिन: ।१४। एतानि चतुर्दश गुणस्थानानि, एतैरपि जीवा: ज्ञातव्या: ।।१३।।

ते च जीवा: सकलकर्मक्षयात् सिद्धा: भवन्तीत्याह—

> णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
> लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ।।१४।।

एते पूर्वोक्ता: जीवा: सिद्धा भवन्ति । कथम्भूता: संत: ? णिक्कम्मा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीय-आयुर्नामगोत्रान्तराया इत्यष्टकर्मरहिता: । अट्ठगुणा—

> सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं ।
> अगुरुलघुमव्वाबाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ।।

अत्रानन्तानुबन्धी-क्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वसंज्ञानां सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वं । अशेषविशेषत: सकलपदार्थेषु रुचिरित्यर्थ: । तस्माज्जे उत्पन्ना: दर्श-

नज्ञानमूलभूताः परमानन्दस्वरूपसंवेदका आत्मपरिणामास्त एव सम्यक्त्वं ।१। एतदेवानन्तसुखमुच्यते—युगपत् सकलपदार्थानां ज्ञातृत्वं ज्ञानं ।२। युगपदशेषपदार्थावलोकनं दर्शनं ।३। उक्तानामनन्तसुखादीनां सप्तानां गुणानां निरवधिकालं मर्यादीकृत्य एकसमयान्तरमपि न कदाचिदन्यथा भावो वीर्यं ।४। केवलज्ञानी एव यदमूर्तसिद्धस्वरूपं परिचेतुं शक्नोति न अन्यः तत् सूक्ष्मत्वं ।५। एकस्मिन् सिद्धस्वरूपे अनन्तानां सिद्धानामेकत्र समवस्थितानामवकाशोऽवगाहनं ।६। नैव गुरुत्वं नैव लघुत्वमगुरुलघुकत्वं ।७। अनन्तानां सिद्धानामेकत्र समवस्थिताना परस्परं संघर्षणाऽभावोऽव्याबाधत्वं चेति ।८। एवमष्टगुणसमन्विताः । किंचूणा चरमदेहदो—चरमदेहतः किंचूना त्रिभागेनहीनाः । लोयग्गठिदा लोकाग्रस्थिताः । णिच्चा नित्यास्तेषां काले कल्पशते गतेऽपि गतिच्युतिर्नास्ति । तथा उप्पादवयेहिं संजुत्ता उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्तास्तौ द्वौ चोत्पादव्ययाववाग्गोचरौ सूक्ष्मौ प्रतिक्षणविनाशिनौ उक्तं च—

सूक्ष्मद्रव्याद्विभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परं ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते जलकल्लोलवज्जले ।।

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधो हि सव्वदो मुक्को । उड्ढं गच्छदि सेसा विदिशावज्जं गदिं जंति ।। प्रकृतिबन्धस्थितिबंधानुभागबंधप्रदेशबंधैः सर्वदा मुक्तः सन् जीवः ऊर्ध्वं गच्छति । शेषाः जीवाः विदिशं वर्जयित्वा गतिं यान्ति ।।१४।।

जीवद्रव्यं व्याख्याय इदानीं अजीवद्रव्यस्य पञ्चप्रकारं स्वरूपमाह—

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्मआयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ।।१५।।

पुग्गलमुत्तो पुद्गलमूर्तः रूपादिगुणः । शेषा पुनरमूर्ताः । एतेषां व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं ।।१५।।

तस्य पुद्गलस्य कि स्वरूपाः पर्याया इत्याह—

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।।१६।।

पुग्गलदव्वस्स पज्जाया एते पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः भवन्ति । केते ? सद्दो आत्मनः परिस्पन्दान्नानाप्रकाराणुसंघटनात् तालोष्ठपुटव्यापारेण काचरणकाष्ठपाषाणादि परस्परसंघर्षेण च निष्पद्यते शब्दः । बंधो स्निग्धपरमाणुद्वयेन सह रूक्षपरमाणूनां चतुर्णाम् संश्लेष एकेन स्निग्धेन सह त्रयाणां रूक्षाणां संश्लेषः स्निग्धपरमाणुत्रयेण सह पंचानां रूक्षाणां संश्लेष इति बंध उपलक्षणमेतत् । सुहुमो परमाणु सूक्ष्मः । थूलो स्कन्धस्वरूपस्थूलः । संठाण भेदः समचतुरस्रसंस्थानं, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं, स्वाति संस्थानं वामलूराकृतिरित्यर्थः । वामनसंस्थानं, हुण्डकसंस्थानं, चर्मंकरहतिप्रकृति-

रित्यर्थः । **कुब्जसंस्थानमिति** ।[1] **भेद** —मुद्गयोधूमादिचूर्णं । **तम** अन्धकारः । **छाया** वृक्षादिभवा । **उज्जोद** उद्योतः ताराचन्द्रमणिमाणिक्यादिभवः । **आतव** आतपोऽग्निसूर्यभवः ॥१६॥

जीवपुद्गलयोर्धर्मो गतिसहकारी भवतीत्याह—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥ १७ ॥

गइ सहयारी गति सहकारी भवति । कोऽसौ ? **धम्मो** धर्मद्रव्यं । केषां ? **पुग्गलजीवाण** पुद्गलजीवानां । कथम्भूतानाम् **गइपरिणयाण** गतिकर्मोदयात् चतुर्गतिपरिणतानां । अत्राह-यदि तस्य गति सहकारित्वे तादृशी शक्तिरस्ति तदा स्थितिं कुर्वतां तेषां किन्तु न नयति । अत्रोच्यते—**अच्छंता णेव सो णेई** स धर्मः तेषां **अच्छंता** तान् जीवपुदगलान् स्थितिं कुर्वतां न नयति । कुतः ? अधर्मद्रव्योदयात् । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमुपमानमाह—**तोयं जह मच्छाणं** यथा तोयं पानीयं मत्स्यानां सहकारित्वं भवति । स तान् मत्स्यान् स्थितिं कुर्वतो न नयति एवं धर्मः पुद्गलजीवानामपि ॥ १७ ॥

पुद्गलजीवानामपि स्थितिसहकारित्वेऽधर्मो भवतीत्याह—

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

ठाणसहयारी स्थितिसहकारी भवति । कोऽसौ ? **अधम्मो** अधर्मः । केषां ? **पुग्गलजीवाण** पुद्गलजीवानां । कथम्भूतानाम् ? **ठाणजुदाण** स्थितिकर्मोदयात् स्थितिं कुर्वतां । अत्राह—यदि तस्य स्थितिसहकारित्वे तादृशी शक्तिरस्ति तदा गच्छन्तास्तान् किन्नस्थितिं कारयति । अत्रोच्यते—**गच्छंता णेव सो धरई** स अधर्मो गच्छन्तो नैव धरति, तान् जीवपुद्गलान् गच्छतान् नैव स्थितिं कारयति । कुतो ? धर्मद्रव्योदयात् । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमुपमानमाह-**छाया जह पहियाणं** यथा छाया पथिकानां स्थितिं सहकारित्वे भवति सति तान् पथिकान् गच्छतोऽपि न स्थितिं कारयति एवमधर्मः पुद्गलजीवानामपि ॥ १८ ॥

इदानीं पञ्चानामपि द्रव्याणामवकाशदाने आकाशद्रव्यं भवतीत्याह—

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१९॥

वियाण विशेषेण जानीहि त्वं । हे भव्य ! किं तत् ? **आयासं** आकाशं । कथंभूतं ? **अवगासदाणजोग्गं** अवकाशदानयोग्यं । केषां ? **जीवादीणं** जीवादीनां पञ्चानामपि तदाकाशं । **जेण्हं** जैनमते

१. पाठान्तर—गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः ।

दुविहं द्विप्रकारं । कथं ? लोयायासं अल्लोयायासमिदि लोकाकाशमलोकाकाशमिति ॥१९॥

तदेव आकाशद्रव्यं लोकालोकप्रकारेण द्विप्रकारं भवतीत्याह—

धम्माधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥

सो लोगो स लोको भवति । स कः ? **जावदिये आयासे संति** यावत्परिमाणे आकाशे सन्ति विद्यन्ते । के ते ? **धम्माधम्मा कालो** धर्म-अधर्म-कालाः । न केवलमेते—**पुग्गलजीवा य**—पुद्गलजीवाश्च । **तत्तो परदो अलोगुत्तो** तस्मात् परो अलोक उक्तः ॥२०॥

इदानीं कालस्वरूपमाह—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २१ ॥

पुद्गलकर्मणि **दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो** द्रव्यप्रवर्तनात् उत्पन्नः समयरूपः किम्भूतः ? मुख्यकालस्य पर्यायाख्यक्षणध्वंसी स व्यवहारकालः । **परिणामादीलक्खो** स च व्यवहार-कालः परिणामैर्लक्ष्यते । नवजीर्णरूपैः । **वट्टणलक्खो य परमट्ठो** द्रव्याणि परिवर्तयति स्वपरिणतिं नयति । तदेव लक्षणं यस्य स वर्तनालक्षणः । पुनः परमार्थकालः अयं कुतो ज्ञायते कालः ? इति लोक-वचनात्, स च नित्योऽन्यथा कथं द्रव्यवर्तावकः ॥२१॥

तस्य निश्चयकालस्य किं स्वरूपमित्याह—

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥२२॥

ते कालाणू असंखदव्वाणि ते कालाणवो असंख्यातद्रव्याणि ज्ञातव्याः । ते के ? **जे ठिया** ये स्थिताः । **हु** स्फुटं क्व ? **लोयायासपदेसे** लोकाकाशप्रदेशे । कथं स्थिताः ? **इक्किक्के इक्किक्का** एकके एकस्मिन् एकस्मिन् आकाशप्रदेशे एकैकपरिपाट्या अयमर्थो लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो तिष्ठन्तीति क्रिया ज्ञातव्या । एकैकाकाशप्रदेशेन एकैकवृत्यालोकं व्याप्य स्थिताः । रूपादि-गुणविरहिता अमूर्ताः कथं लोकं व्याप्य स्थिताः । **रयणाणं रासी इव** यथा रत्नानां राशयः संघाता एकमेकं व्याप्य तिष्ठन्ति । तथा ते तिष्ठन्ति ॥२२॥

एतानि षड्द्रव्याणि कालरहितानि पंचास्तिकाया भवन्तीत्याह—

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२३॥

एवं पूर्वप्रकारेण उत्तं प्रतिपादितं । किं तत् ? दव्वं द्रव्यं इदं प्रत्यक्षीभूतं । कति भेदं ? छब्भेयं षट्भेदं कस्मात् ? जीवाजीवप्पभेददो जीवाजीवप्रभेदतः । कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु एतानि षट्द्रव्याणि कालरहितानि पञ्चास्तिकायाः ज्ञातव्याः । दु पुनः ।।२३।।

एतेषां पंचानामस्तिकायत्वं कथं सिद्धमित्याह—

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा ।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ।।२४।।

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा ते पञ्चाऽपि जदो यस्मात् कारणात् संति विद्यन्ते स्वस्वरूपेण । तह्मा अत्थित्ति भणंति जिणवरा तस्मात् कारणात् विद्यन्ते इति जिनवरा वदन्ति । अत्रास्तित्वं साधितं । जह्मा बहुदेसा यस्मात् बहुप्रदेशास्ते क इव ? काया इव शरीराणीव अत्र कायत्वं साधितं । तह्मा काया य तस्मात् कायाश्चेति । एवं मिलित्वा । अत्थिकाया य अस्तिकाया भण्यंते । अत्र पूर्वपक्षः । ननु कायशब्दः शरीरे व्युत्पादितः । जीवादीनां । कथं ? अत्रोच्यते । तेषामुपचारादध्यारोप्यते । कुत उपचारः ? यथा शरीरं पुद्गलद्रव्यं प्रचयात्मकं । तथा जीवादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया इव काया इव काया इति ।।२४।।

कालस्याकायत्वं कथमित्याह—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।।२५।।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे पदेसा भवन्ति असंख्याताः प्रदेशाः जीवधर्माधर्माणां । अणंत आयासे अनन्ताः प्रदेशा आकाशस्य । मुत्ते तिविह पदेसा मूर्तपुद्गले त्रिविधाः प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च । कालस्सेगो कालस्यैकः प्रदेशः परमाणूनां रत्नराशिवदवस्थितत्वात् । ण तेण सो काओ तेन कारणेन स कालः कायसंज्ञां न लभते । अत्र पूर्वपक्षे ननु पुद्गलपरमाणुरप्येकप्रदेशी । तस्यापिकायत्वाऽनुपपत्तेः ।।२५।।

अस्य निराकरणार्थमिदमाह—

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।।२६।।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो नानापुद्गलस्कन्धरूपस्यैकप्रदेशोऽपि अणुर्बहुप्रदेशोऽपि भवति । कुत ? उपचारात् । यतस्तस्य पुद्गलस्य परमाणोः पुनरपिस्कन्धरूपत्वे परिणतिरस्ति कालाणोः पुनः परिणतिर्नास्ति स्कन्धरूपत्वेन यतो रत्नानां राशय इव ते स्थितास्तस्मात् । तेण य काओ भणंति सव्वण्हु तेन कारणेन च कायत्वं वदन्ति पुद्गलपरमाणोस्तत्त्वज्ञाः ।।२६।।

इदानीं प्रदेशलक्षणमाह—

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥२७॥

तं तत् **खु पदेसं जाणे** स्फुटं प्रदेशं जानीहि वा जानाम्यहं तं कं **जावदियं आयासं** यावत्प्रमाणमाकाशं । किं विशिष्टम् ? **अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं** अविभागीकृत पुद्गल द्रव्यदानयोग्यं । कथंभूतं ? प्रदेशं जाने । **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सर्वेषां जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाणूनां स्थानदानयोग्यं । अत्र पूर्वपक्षी । ननु अविभागीकृतःपुद्गलद्रव्येण यावदवष्टम्भत्वं रुद्धमाकाशं तत्प्रदेशमुक्तं । कथं तावत् प्रदेशे सर्वे पदार्थानामवगाहना ? अत्रोच्यते—आकाशस्यावगाहनालक्षणत्वात् तादृशी शक्तिरस्ति । एकस्मिन् प्रदेशे जीवादीनां पञ्चानामपि समवायः । सममातितम् तथापि तस्य पत्परिणामित्वं अयमत्र दृष्टान्तः । यथा गुह्यनागनिष्क्रमध्ये सुवर्णलक्षेपि प्रविष्टे नागस्य तन्मात्रता । तथाकाशप्रदेशस्याप्यवगाहने तादृशी शक्तिरस्ति ॥२७॥

इदानीं जीवानां पुद्गलसम्बन्धे सति परिणामविशेषसम्भवात् पदार्थानाह—

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

तेवि समासेण पभणामो तेऽपि संक्षेपेण वयं प्रभणामः । ते के ? **आसव बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खो सपुण्णपावा जे** आस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षः सपुण्यपापाः कथंभूता एते ? **जीवाजीवविसेसा** अत्र जीवपुद्गलयोर्विशेषा यतो जीवस्य पुद्गलसंबन्धादशुभपरिणामास्तस्मात्पापं पापाश्चास्रवस्तस्मात् कर्मबंधः । कर्मबन्धनिराकरणाय संवरनिर्जरे संवरनिर्जराभ्यां पुण्यं पुण्याच्छुभपरिणतिः शुभपरिणतेः कर्मक्षयः कर्मक्षयान्मोक्ष इति । तत्र शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपास्रवः । आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशात्मको बंधः । आस्रवनिरोधः संवरः । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा । सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः । अव्रतपरित्यागलक्षणं पुण्यं । मिथ्यात्वप्रवर्तन लक्षणं पापं ॥२८॥

इदानीमास्रवस्वरूपमाह—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

स विण्णेओ भावासवो जिणुत्तो स विज्ञेयो भावास्रवः जिनोक्तः । कः ? **अप्पणो** आत्मनः । स कः ? **आसवदि जेण कम्मं परिणामेण** आस्रवति कर्म येन परिणामेन **कम्मासवणं परो होदि** द्रव्यास्रवोऽन्यो भवति । स भावास्रवो द्रव्यास्रवणे हेतुर्भवति । परिणामेन शुभाशुभरूपेण यदुपार्जितशुभाशुभरूपास्रवः । स एव ज्ञानावरणादिरूपेण परिणमति एव द्रव्यास्रवो भवतीत्यर्थः ॥२९॥

एतयोर्द्वयोर्मध्ये भावास्रवस्वरूपमाह—

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया ।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अथ विण्णेया सम्यक्‌प्रकारेण विज्ञेयाः। के ते ? भेदा। कस्य **पुव्वस्स** पूर्वस्य भावास्रवस्येत्यर्थः। किं नामानो भेदा ? **मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ** मिथ्यात्वविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः। **कुतः ? पण पण पणदस तिय चदु भेदादु** पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयश्चत्वारो भेदाभेदात्। तत्र मिथ्यात्वं पञ्चप्रकारं सर्वक्षणिक मित्येकान्तदर्शी **बौद्धः**। सर्वं खल्विदं ब्रह्मे त्येकान्तदर्शी **ब्रह्म अद्वैतवादी**। विनयादेव मोक्ष इत्येकान्तदर्शी **शैवः**। जिनाः भोजनं कुर्वन्ति, साभरणे मोक्षः, स्त्री निर्वाणं च इत्येकान्तदर्शी **श्वेतपटः**। विकल्पसङ्कल्पकारकात् यथाऽज्ञानात्मको मोक्षस्तथा ज्ञानदेव इति मस्करिपूरणः श्रीपार्श्वनाथशिष्योऽप्येकान्तदर्शी। अविरति पंचप्रकारं १ हिंसा २ असत्य ३ चौर्यं ४ मैथुनसेवा ५ परिग्रहस्वीकाररूपाः। प्रमादा पञ्चदश प्रकाराः। स्त्रीभक्तराजचौरकथाश्चत्वारः। क्रोधमानमायालोभाः चत्वारः कषायाः। इन्द्रियप्रवृत्तयः पञ्च। निद्रा, स्नेह। योगास्त्रिप्रकाराः अशुभमनोवाक्कायरूपाः। क्रोधश्चतुः प्रकारः स च प्रमादमध्ये पतितो दृष्टव्यः ॥३०॥

इदानीं द्वितीयस्य द्रव्यास्रवस्य स्वरूपमाह—

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

दव्वासवो स णेओ द्रव्यास्रवः स ज्ञेयः। कतिभेदाः ? **अणेयभेओ** अनेकभेदाः केन कथिताः ? **जिणक्खादो** जिनेन प्रतिपादिताः। स कः ? **जोग्गं जं पुग्गला समासवदि** योग्यं यत्पुद्‌गलं समास्रवति। केषां योग्यं **णाणावरणादीणं** ज्ञानावरणादीनां कर्मणामष्टानां। अत्र भावास्रवो हि द्रव्यास्रवस्य हेतु।३१।

इदानीं भावबंधद्रव्यबंधयोः स्वरूपमाह—

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्ण पवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

भावबंधो सो स भावबंधो भवति। स कः ? **जेण दु चेदण भावेण**-येन पुनश्चैतन्यभावेन। **बज्झदि कम्मं** बध्यते कर्म। **इदरो** इतरो द्रव्यबन्धः। सः कथंभूतः ? **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्ण पवेसणं** कर्मात्मप्रदेशानां परस्पर प्रवेशनं ॥३२॥

स च बंधश्चतुर्विधो भवतीत्याह—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पवेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

चउविधो बंधो चतुर्विधो बंधो भवति । कस्मात् ? **पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदा दु** प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् । कस्य कस्मात् बंध इति ? **जोगापयडिपदेसा** अत्राशुभमनवचनकायेभ्यः प्रकृतिप्रदेशबन्धौ भवतः । **ठिदि अणुभागकसायदो होंति** स्थित्यनुभागबन्धौ कषायतः भवतः । तत्र ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतीनां बंधः **प्रकृतिबंधः** । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगवशात् कर्मत्वमुपगतानां ज्ञानावरणादिकर्मप्रदेशानां यावत्कालेनान्यत् स्वरूपेण परिणति याति कालस्तस्य कालस्य स्थितिरिति संज्ञा, तत्र ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमानां त्रिंशत्कोटीकोटयः । मोहनीयस्य सप्ततिकोटीकोटयः सागरः । नामगोत्रयोर्विंशति कोटीकोटयः । आयुषस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः । जघन्यस्थितिर्वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता । नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः । शेषाणामन्तर्मुहूर्ता, एतेषां स्थितिसम्बन्धः **स्थितिबंधः** । अनुभागः कर्मणां रसशक्तिर्वा अनुभागस्तस्य भागोऽनु**भागबंधः** । प्रदेशतो कर्माणुबंधाः कर्मप्रदेशास्तच्चैकस्मिन् जीवप्रदेशेऽनन्तानन्तास्तिष्ठन्ति तेषां बंधः **प्रदेशबंधः** ॥३३॥

इदानीं संवरस्य भेदद्वयमाह—

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

सो भावसंवरो खलु स भावसंवरो भवति । खलु स्फुटं । स कः ? **चेदणपरिणामो जो** यश्चेतन्यपरिणामः स्वस्वरूपपरिणतिः । किंविशिष्टः ? **कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू** समागच्छतः कर्मण आस्रवनिरोधने हेतुः स एव चैतन्यपरिणामः । **दव्वासवरोहणे अण्णो** द्रव्यास्रवरोधनेन्यो द्वितीयः द्रव्यसंवरो भवति ॥३४॥

तस्यैव निरोधने विशेषमाह—

[1]वदसमिदीगुत्तीओ, धम्माणुपिहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा [2]दव्वसंवरविसेसा ॥३५॥

णायव्वा दव्वसंवरविसेसा ज्ञातव्याः द्रव्यसंवरविशेषाः । कतिसंख्योपेताः **बहुभेया** बहुभेदाः । केते ? इत्याह—**तव समिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य चारित्तं च** । तपसमितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयाश्चारित्रं च । तत्र **तपो** द्वादशप्रकारं बाह्याभ्यन्तरभेदात्—अनशनं, अवमौदर्यं, वृत्तिपरिसंख्यानं, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनं कायक्लेशो बाह्यं तपः षड्विधं । प्रायश्चित्तं, विनयो, वैयावृत्यं, स्वाध्यायो, व्युत्सर्गः, ध्यानं अभ्यन्तरं तपः षड्विधं । **समितयः** पंचप्रकाराः ईर्याभाषाएषणाः आदाननिक्षेपो व्युत्सर्गश्चेति । **गुप्तयस्त्रिप्रकाराः** मनोवचनकाय रूपाः । **धर्मो दशविधः** उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः । **अनुप्रेक्षा** द्वादशप्रकारा ज्ञातव्या — अनित्याशरण संसार — एकत्व — अन्यत्व — अशुचित्व — आस्रव— संवर—निर्जरा-

---

१. वद २. भाव

लोक-बोधिदुर्लभ-धर्माश्चेति । **परीषहजय**द्वाविंशतिप्रकाराः—क्षुधा-पिपासा शीत-उष्ण-दंशमसक-नाग्न्य-अरति-स्त्रीचर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचना-अलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल—सत्कार—पुरस्कार-प्रज्ञा अज्ञान-अदर्शनानि । **चारित्रं** त्रयोदशप्रकारं—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योः विरतिः पञ्चप्रकाराः । समतास्तुति वन्दना-प्रतिक्रमण-स्वाध्याय प्रत्याख्यानानि षट् । असही निःसहीश्चेति चारित्रं ।।३५।।

साम्प्रतं निर्जराभेदद्वयमाह—

जह कालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ।।३६।।

जेण भावेण सडदि-येन परिणामेन सटति गलति । किं तत् ? **कम्मपुग्गलं** कर्मरूपपुद्गलं । कथम्भूतं ? **भुत्तरसं** भुक्तो रसः शक्तिर्यस्य तत् भुक्तरसं । केन कृत्वा ? **जह कालेण तवेण य** यथाकालेन सविपाकरूपेण तपसा वा हठादविपाकरूपेण इत्येवं । **दुविहा** द्विविधा—द्विप्रकार निर्जरा ज्ञातव्या । **तस्सडणं च** तद् कर्मणो गलनं च एषा द्रव्यनिर्जरा । तद्भावस्य गलनं च एषा भावनिर्जरा इति द्विप्रकाराः ज्ञातव्या ।।३६।।

इदानीं मोक्षस्वरूपमाह—

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ।।३७।।

णयो स भावमुक्खो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः परिणाममोक्षः । स कः? **जो अप्पणो हु परिणामो**-आत्मनश्चारित्रावरणीयक्षयात् यः समुत्पद्यते निर्मलपरिणामः स भावमोक्ष इति । किंभूत। ? **सव्वस्स कम्मणो खयहेदू** सर्वस्य कर्मणां क्षयहेतुः । **दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो**-द्रव्यमोक्षस्य पुनः कर्मभावसकाशादात्मनः पृथक् भावः । शुद्धचैतन्यरूपावस्थितिरित्यर्थः ।।३७।।

इदानी पुण्यपापस्वरूपमाह—

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवाः ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पापं च ।।३८।।

पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा-पुण्यं पापं चानुभवन्ति । **खलु** स्फुटं । के ते ? जीवाः । **कथंभूताः** सन्तः ? **सुहअसुहभावजुत्ता** शुभाशुभपरिणामैर्युक्ताः । शुभपरिणामात् पुण्यं अशुभात् पापमनुभवति । पुण्यस्य कानि चिह्नानि इत्याह-**सादं सुहाउणामं गोदं** सातावेदनीयं शुभायुर्नामगोत्राणि एतैश्चिह्नैर्युक्तं पुण्यं । पापस्य कानि ? पराणि पावं च । असाताऽशुभायुर्नामगोत्राणि पापं । **च** स्फुटं ।।३८।।

सम्प्रति पूर्वोक्तस्य मोक्षस्य कारणमाह—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहाराणिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

हवदि भवति । किं तत् ? कारणं हेतुः कस्य ? **मोक्खस्स** मोक्षस्य किं कारणं ? **सम्मद्दंसण णाणं चरणं च** सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं च । कदा ? **ववहारा** व्यवहारनयापेक्षया । **णिच्छयदो तत्तिय मईओ** निश्चयनयापेक्षया तत् त्रितयात्मको निजात्मा दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपो । यदेव रत्नत्रयं स एवात्मा, तदेवरत्नत्रयमित्यर्थः ॥३९॥

इममर्थं द्रढयन्नाह—

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि ।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

तह्मा तत्तिय मइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा तस्मात् त्रितयात्मको दर्शनज्ञानचारित्ररूपो भवति । हु स्फुटं । मोक्षस्य हेतुरात्मा । कस्मात् यस्मात् । **रयणत्तयं ण वट्टइ** रत्नत्रयं न वर्तते । क्व ? **अण्णदवियह्मि** अन्यस्मिन् शरीरादिपरद्रव्ये । किं कृत्वा ? **अप्पाणं मुयत्तु** आत्मानं मुक्त्वा त्यक्त्वा आत्मन्येव रत्नत्रयं वर्तते, न पर द्रव्ये ॥४०॥

रत्नत्रयस्य स्वरूपमाह—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

सम्मत्तं सम्यक्त्वं भवति । किं तत् ? **जीवादी सद्दहणं** जीवादीनां पदार्थानां श्रद्धानं रुचिः । **रूवमप्पणो तं तु** तत्सम्यक्त्व पुनरात्मनो रूपं स्वरूप नान्यस्य । **णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि** स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं नियमेन भवति यस्मिन् सम्यक्त्वे सति । किं विशिष्टं ज्ञानं ? **दुरभिणिवेसविमुक्कं** संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं ॥४१॥

दर्शने सति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्कथंभूतमित्याह—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयमेयं तु ॥४२॥

सम्मणाणं सम्यग्ज्ञानं भवति । किं तत् ? **गहणं** ग्रहणं । कस्य ? **अप्पपरसरूवस्स** आत्मनः स्वरूपस्य परवस्तुनः स्वरूपस्य । कथम्भूतं ग्रहणं ? **संसयविमोहविब्भमविवज्जियं**—संशयं हरिहरादिज्ञानं प्रमाणं जैनं वा । विमोहं अनध्यवसायो गच्छत् तृणस्पर्शापरिज्ञानं । विभ्रमः शुक्तिका रजतसकलं

यद् विज्ञानमिति तद् ग्रहणं । किं विशिष्टं ? **सायारमरणेयभेयं तु** साकारं सविकल्पकं अवग्रहेहावायधारणारूपकमनेकभेदं च । मत्यादि भेदान् ॥४२॥

दर्शनज्ञानयोः को भेद इत्याह—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये ॥४३॥

दंसणमिदि भण्णये समये तद्दर्शनमिति हेतोर्भण्यते । क्व? **समये** सिद्धान्ते वा जिनमते । तत् किं? **जं सामण्णं गहणं** यत् सामान्यग्रहणं वस्तुसत्तावलोकनं करोति । केषां ? **भावाणं** पदार्थानां । किं कृत्वा? **अविसेसिदूण अट्ठे** अविशेष्यार्थान् भेदमकृत्वाइदं कृष्णमिदं नीलमित्यादि परिछित्ति । अत्राह—ननु दर्शनं तावत् स्वभावभासकं ज्ञानं च परार्थावभासकं भिन्नानां भावानां सामान्यग्रहणमिति दर्शनस्य कथं घटते? यतस्तदेवावलोकने ज्ञानस्य प्रयोजनं । अत्र निराकरणार्थमिदमाह—**णव कट्टुमायारं** यतो दर्शनं प्रथमसमये नैव कर्तुं शक्नोति भदमित्थंभूतमिति । जलस्यानोत्थितपुरुष सन्मुखवस्त्वावलोकन वत् अतो दर्शन भण्यते । किंचिदित्येतत्प्रयोजनं ? ज्ञानस्य न पुनर्वस्तुसत्तावलोकनं । तस्मात् स्वपराऽवभासकं दर्शनं किन्तु निर्विकल्पं ज्ञानं । पुनः स्वपराऽवभासकं सन् सविकल्पकं यतोवग्रहेहावायधारणा अग्रे समुत्पद्यते ॥४३॥

इदानीं दर्शनपूर्वं ज्ञानमाह—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥

दंसणपुव्वं णाणं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं विषयविषयिणोः सन्निपाते दर्शनं । तदनन्तरमर्थग्रहणं । किंचिदिति ज्ञानं । यथा बीजांकुरौ । केषां ? **छदुमत्थाणं** छद्मस्थानां दर्शनज्ञानावरणीययुक्तानां तेषां च । **ण दुण्णि उवओगा जुगवं जह्मा** नोपयोगद्वय युगपद्यस्मात्तेषामतो दर्शनपूर्वकं ज्ञानं बीजांकुरव्रत् । **केवलिणाहे** केवलिना हेतु, केवलज्ञानयुक्ते । पुनः **जुगव तु ते दो वि** युगपत्तौ द्वौ भास्करप्रकाश-प्रतापवत् ॥४४॥

इदानीं चारित्रमाह—

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

जाण चारित्तं जानीहि चारित्रं । किं तत् ? **असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य** अशुभात्पापास्रवद्वाररूपान्निवृत्तिः शुभपुण्यास्रवद्वाररूपेण प्रवृत्तिश्च एतत् । **वदसमिदिगुत्तिरूवं** व्रतसमितिगुप्ति-

रूपं। कस्मात् ? ववहारणया दु व्यवहारनयापेक्षया। किं विशिष्टं ? जिणभणियं वीतरागप्रतिपादितं भावचारित्रं। पुनरहं ब्रवीमि परिणामः ॥४५॥

इदानीं सम्यक्चारित्रमाह—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

तं परमं सम्मचारित्तं तत् परमोपेक्षालक्षणं सम्यक्चारित्रं भवति। किं विशिष्टं ? **जिणुत्तं** जिनैः प्रतिपादितं चारित्र। कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिनो योगिनः यथाख्यातमित्यर्थः। तत् किं ? **जं बहिरब्भन्तरकिरियारोहो** यद्बाह्याभ्यन्तरक्रियानिरोधः। तत्र बाह्यव्रताचरणस्पन्दादयः अभ्यन्तरे व्रतशीलादिनित्यादयः। किमर्थं **किरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं**। संसारोत्पत्तिविनाशनार्थं।

णिज्जिय सासो णिप्फंद, लोयणोमुक्क सयलवावारो ।
जेण्णा वत्थ गओ सो जोइणत्थि संदेहो ॥इत्यर्थः ॥४६॥

इदानीं द्विविधमपि चारित्रं मोक्षकारणं भवतीत्याह—

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्त चित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

तह्मा पयत्तचित्ता जूवं झाणं समब्भसह-तस्मात् कारणात् प्रयत्नचेतसः सन्तः यूयं ध्यानं समभ्यसत्। तस्मात्। कस्मात् ? **जं** यस्मात् **पाउणदि**-प्राप्नोति। कोऽसौ ? **मुणी** मुनिः। कथं ? **णियमा** निश्चयेन। क्व प्राप्नोति ? **झाणे** ध्याने स्थित इत्यर्थः। किं प्राप्नोति ? **दुविहं पि** द्विविधमपि चारित्रं। कथंभूतं ? **मोक्खहेउ** मोक्षकारणमिति ॥४७॥

इदानीं आचार्यः शिष्यान् प्रति शिक्षामाह—

मा मुज्झह मा रज्जह मा रुस्सह[1] इट्ठणिट्ठ अत्थेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए ॥४८॥

अहो शिष्याः **थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए** स्थिर मिच्छत यदि चित्तं। किमर्थं ? विचित्रध्यान प्रसिद्धयर्थं। तदा **मा मुज्झह** मा मोहं गच्छत **मा रज्जह** मा रागं कुरुत। **मा रुस्सह** मा रोषं कुरुत। केषु ? विषयेषु। **इट्ठणिट्ठ अत्थेसु** इष्टानिष्ठार्थेषु ॥४८॥

---

१. मा दुस्सह : मा द्वेषं कुरु इति पाठः।

साम्प्रतं जपध्यानयोः क्रममाह—

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह ज्झाएह ।
परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ।।४६।।

भो शिष्याः ! **जवह ज्झाएह** जपत ध्यायत च यूयं । कानि ? अक्षराणि । केषां सम्बंधिनी ? **परमेट्ठिवाचयाणं** परमेष्ठिवाचकानां । केनप्रकारेणेत्याह–**पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च** पंचत्रिंशत् (३५) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं । षोडशा–अरहंत सिद्ध आयरिय उवझाय साहू । षट्–अरहन्त सिद्ध । पञ्च–अ सि आ उ सा । चत्वारः अरिहन्त । द्वय–सिद्ध । एकं हूँ वा ॐ । **अण्णं च गुरूवएसेण** अन्यं च गुरुपदेशेन सिद्धचक्रे उदितं ।।४६।।

इदानीं कः कथम्भूतो ध्येय इत्याह—

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ।।५०।।

विचिंतिज्जो विशेषेण चिन्तनीयो भवति भवताम् । भो शिष्याः ! कोऽसौ ? **अप्पा** स्वात्मा । कथम्भूतो ? **अरिहो** अर्हत्स्वरूपः । पुनः कथंभूतः ? **सुद्धो** शुद्धात्मस्वरूपो द्रव्यभावकर्मरहितः । पुनरपि किं विशिष्टः ? **सुहदेहत्थो**–सप्तधातुरहितः । पुन. किं विशिष्टः ? **णट्ठ चदुघाइकम्मो** नष्टचतुर्घातिकर्म । पुनः किं विशिष्टः ? **दंसण सुहणाणवीरियमईओ**–अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः समवसरणादिविभूतियुक्तो ह्यात्मो ध्येय इत्यर्थः ।।५०।।

इदानीं सिद्धो ध्येय इत्याह—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ।।५१।।

झाएह ध्यायत यूयं । कोऽसौ ? **अप्पा** आत्मा । किं विशिष्टः ? **सिद्धो** अशरीरः । पुनः किं विशिष्टः ? सिद्धः । **लोयसिहरत्थो** लोकाग्रशिखरस्थितः । पुनः किं विशिष्टः सिद्धः । **णट्ठट्ठकम्मदेहो** नष्टाष्टकर्मस्वरूप इत्थंभूतः । पुनः कथंभूतः ? **लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा** लोकालोकान्तःवर्ति समस्त वस्तु ज्ञायको द्रष्टा च युगपत् । कीदृशाकारो ध्येयः ? **पुरिसायारो** निर्गता सिक्थपुरुषप्रतिमामानवाकृति स्वरूपः ।।५१।।

इदानीमाचार्यो ध्येय इत्याह—

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ।।५२।।

अप्पा इति अध्याहार्यः **झेओ** ध्यातव्यः। कोऽसौ ? अप्पा—स्वात्मा। कथंभूतः ? किमिति भणित्वा ? **सो आयरिओ मुणी** स आचार्यो मुनिः। सः कः ? **जो अप्पं परं च जुंजइ** य आत्मानं परं शिष्यजन च सम्बन्धं करोति। क्व ? **वीरियचारित्तवरतवायारे** वीर्याचार-चारित्राचार-वरतपश्च-रणाचारो। किं विशिष्टे ? **दंसणणाणपहाणे** दर्शनज्ञानप्रधाने। यत्र तस्मिन् दर्शनज्ञानप्रधाने दर्शन पूर्वकेषु सिद्धि रिति भावः ॥५२॥

इदानीं उपाध्यायो ध्येय इत्याह—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

झेओ इत्यध्याहार्यः। **सो उवज्झाओ अप्पा** स उपाध्यायश्चात्मध्येयः। किं विशिष्टः ? **जदि-वरवसहो** यतिवरवृषभः प्रधानः। **णमो तस्स** नमस्कारोऽस्तु तस्मै। सः कः ? **जो रयणत्तयजुत्तो** यो रत्नत्रययुक्तः। पुनः किं विशिष्टः ? **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** नित्यं धर्मोपदेशने निरतः ॥५३॥

साधुर्ध्येय इत्याह—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥

झेओ अप्पा इत्यध्याहार्यः। झेओ-ध्यातव्यः। कोऽसौ ? स्वात्मा। किं स्वरूपो भणित्वा ? **साहू स मुणी** साधुः स मुनिरहं **णमो तस्स** नमस्कारोऽस्तु तस्मै। स कः ? **जो हु साधयदि** य स्फुटं साधयति। किं ? **चारित्तं** चारित्रं। कथंभूतं ? **सुद्धं** यथाख्यातं। कदा ? **णिच्चं** सर्वकालं। पुनः कथंभूतं ? **दंसणणाणसमग्गं** दर्शनज्ञानसंयुक्तं। पुनरपि कथंभूतं ? **मग्गं** मार्गं। कस्य **मोक्खस्स** मोक्षस्य ॥५४॥

शुद्धनिश्चयनयमाश्रित्य कीदृशं ध्यानं इत्याह—

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदा हु तं तस्स णिच्छयं झाण ॥५५॥

तं तस्स णिच्छयं झाण तदा तस्मिन् प्रस्तावे हु स्फुटं तत् प्रसिद्धमसहायं तस्य साधोः शुद्ध-निश्चयनयेन ध्यानं **तदा जदा साहू हवे** यदा साधुर्भवेत्। कथंभूताः ? **णिरीहवित्ती** बाह्याभ्यन्तरप्रसर-रहिता। 'णिज्जिय सासो णिफंद लोयणोमुक्क सयलवावारो इत्यर्थः। किं कुर्वन् ? **जं किंचिवि चिंतंतो** यत् किंचिद्द्रव्यस्वरूप पर्यायस्वरूपं वा। वस्तु चिन्तयन्। किं कृत्वा ? **लद्धूण य एयत्तं** ध्येये लब्ध्वा। किं एयत्तं ? किमेकत्वं अयोगित्वं ॥५५॥

इदानी ग्रन्थकारध्यानस्वरूपमुक्त्वा शिक्षाद्वारेण ध्यानमाह—

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि अन्य किंचिन्मा चेष्टतयूयं, मा जल्पत, मा चिन्तयत। तर्हि किं कुर्मः ? तत् किं चेष्टत, तत् किं जल्पत, तत् किं चिन्तयत। [1]**जेण होइ थिरो अप्पा अप्पम्मि रओ** येन चेष्टित जल्पित चिन्तयतः। **जेण होइ थिरो ह्यात्मा** आत्मनिरतः। उक्तं च—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥स.तं.॥

इणमेव परं हुवदिज्झाणं यस्मादेतदेव चेष्टितं इदमेवध्यानं भवति ॥५६॥

महात्मनामिदं रत्नत्रयात्मका भावयता भव्या इत्याह—

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तम्हा तत्तियणिरदा तस्मात् तत् त्रितया रता दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपपरताः किमर्थं ! **तल्लद्धीए** तस्य रत्नत्रयस्य लब्धिस्तस्यैव अथवा तस्य परमपदस्य लब्धि। **सदा होह** सर्वकालं भवत यूयं। कस्मात् ? **जम्हा** यस्मात्। **चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे**—आत्मा ध्यानरथं धुरन्धरो भवेत्। कथम्भूतः सन् ? **तवसुदवदवं** तपश्श्रुतव्रतवान् ॥५७॥

ग्रन्थकार **औद्धत्यपरिहारं कुर्वन्नाह**—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

सोधयंतु शुद्धं कुर्वन्तु। के ते ? **मुणिणाह** मुनिनाथाः। किं तत् ? **दव्वसंगहमिणं** द्रव्यसंग्रहमिमं। किं विशिष्टः ? **दोससंचयचुदा** रागद्वेषादि-दोषसंघातच्युता रहिता इत्यर्थः। पुनः किं विशिष्टः ? **सुदपुण्ण** श्रुतपूर्णाः (शास्त्रपूर्णाः)। इदं किं ? **भणियं जं** यद्भणितः। **णेमिचन्दमुणिणा** नेमिचन्द्रमुनिना। कथंभूतेन ? **तणुसुत्तधरेण** अल्पागमज्ञानेनेति।

परमागमिक भट्टारकश्रीनेमिचन्द्रविरचितं षट्द्रव्यसंग्रहसूत्रमिति। ततः श्रीमद्भट्टारकप्रभाचंद्रकृत संक्षेपेण टिप्पणमिति लघुब्रह्मदेववृत्तिः समाप्ता ॥

॥ संवत् १७…… वर्षे मिति द्वितीय श्रावण वदि ११ लिखी जोबनेरपुरमध्ये ॥

यावज्जिनस्य धर्मोऽयं, लोके स्थेयात् दयापरः।
यावत्सुरनदीतोयं, तावन्नन्दतु पुस्तकम् ॥

---

१. **जेण** येन ध्यानेन। किमपि स्थिरो भवति। **अप्पा** आत्मा। **अप्पम्मि रओ** आत्मनिरतः। **इणमेव परं झाण** इदमेव उत्कृष्टध्यानं। **हवे** भवेद्। **इति पाठान्तरः।**

* दान-दाताओं की सूची *

२१०१) श्री सुगनचन्दजी पहाड़िया की माताजी श्रीमती घापादेवी
११११) ,, घीसालालजी छाबड़ा की धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीदेवी
११११) ,, तनसुखजी सेठी, गोहाटी वाले
११११) ,, दीवान भगवानदासजी की धर्मपत्नी श्रीमती घीसीदेवी
११०१) ,, राजकुमारजी जयकुमारजी दीवान
११०१) ,, शान्तीलालजी बेरीवाला की धर्मपत्नी श्रीमती मनफूलीदेवी
११०१) ,, श्रीलालजी बड़जात्या की धर्मपत्नी स्वर्गीय चन्द्रीदेवी
११०१) ,, दीवान केशरीमलजी की धर्मपत्नी श्रीमती गुलाबदेवी
११०१) ,, पदमचन्दजी धाकड़ा की माताजी श्रीमती कमलादवी
११०१) ,, श्रीलालजी राजकुमारजी पहाड़िया
१०८०) ,, अंगूठी दो की कीमत (i) राजमलजी नीमच वालों की धर्मपत्नी
(ii) गुप्त
५०१) श्रीमती कृष्णादेवी धर्मपत्नी श्री धर्मचन्दजी काला
५०१) गुप्त
५०१) ,, महावीरजी कठून्दरा वाला की धर्मपत्नी
५०१) ,, नथमलजी फ्रीगरवाला
५०१) ,, गोपालजी कालिका की धर्मपत्नी श्रीमती रत्नीदेवी
५०१) ,, गंगाबक्सजी रूपगढ़ वाला की माताजी श्रीमती जोवणीदेवी
५०१) ,, मिश्रीलालजी काला की धर्मपत्नी श्रीमती फूलांदेवी
५०१) ,, उमेदमलजी छाबड़ा दूधवावाला
५०१) ,, शिखरचन्दजी मोदी की धर्मपत्नी
५००) ,, सीतारामजी दिवान की धर्मपत्नी श्रीमती रतनीदेवी
४०१) ,, प्रतापजी बिनायक्या की धर्मपत्नी
४००) ,, राजकुमारजी छाबड़ा कोछोरवाला
३०१) ,, कुन्दनमलजी छाबड़ा माण्डेता वाला की धर्मपत्नी
३०१) ,, धन्नालालजी पहाड़िया की धर्मपत्नी
३०१) ,, मगनलालजी राजमलजी नीमच वाला
३००) ,, प्रसादजी सेठी की धर्मपत्नी
२५१) मंत्राणीजी गुलाबीदेवी धर्मपत्नी श्रीनारायणजी बानूड़ा वाला
२५१) ,, महावीरप्रसादजी सेठी डाकखाना वाला
२०१) श्रीमती गीताबाईजी
२०१) श्रीमती बिदामीबाई संगही

२०१) श्री चम्पालालजी गोठड़ा वाला
२०१) ,, शिखरचन्दजी कासलीवाला की धर्मपत्नी
२०१) ,, मोहनलालजी शेषमवाला की धर्मपत्नी
२०१) गुप्त
२०१) ,, केशरीमलजी पिराका की धर्मपत्नी
२०१) ,, रामेश्वरजी दूधवावाला की ,,
२०१) ,, लालचन्दजी की धर्मपत्नी श्रीमती नरबदादेवी
२०१) ,, मोहनलालजी अजमेरा की धर्मपत्नी श्रीमती बनारसीदेवी
२०१) श्रीमती गोरादेवी माताजी रामेश्वरजी दूधवावाला
२०१) ,, रतनीदेवी धर्मपत्नी श्री भंवरलालजी भूरड़ा का बास वाला
२०१) श्री भंवरलालजी सेठी डाकखाना वाला की धर्मपत्नी
२०१) ,, इन्दरचन्दजी छाबड़ा की धर्मपत्नी श्रीमती सुमतिदेवी
२०१) ,, धर्मचन्दजी दिवान की धर्मपत्नी
२०१) ,, अभयकुमारजी दिवान की धर्मपत्नी
२०१) ,, धोद महिला समाज की ओर से
२००) ,, भींवराजजी की धर्मपत्नी
२००) गुप्त
२००) ,, गंगूजी जयपुरिया की धर्मपत्नी
२००) ,, सूरजमलजी भरत्या की धर्मपत्नी
२००) श्रीमती रतनीदेवी सुपुत्री श्री भंवरलालजी बड़जात्या
२००) श्री मदनलालजी सेठी मोरणवाला की धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीदेवी
१५१) ,, महावीरजी पिराका की धर्मपत्नी
१५१) ,, किस्तूरमलजी कजोड़ीमलजी दूजोद वाला
१५१) ,, हीरालालजी पिराका की धर्मपत्नी
१५१) ,, श्रीचन्दजी विमलकुमारजी अजमेरा
१५१) श्रीमती घेवरीदेवी धर्मपत्नी स्व० श्री कन्हैयालालजी ठोल्या रेवासा
१५१) श्री जैन ब्रादर्स नीमच वालों की तरफ से
१२५) महिला समाज बाय की ओर से
१११) ,, डालमचन्दजी बंशीधरजी पाटनी नागवा वाला
१११) ,, मदनलालजी संगही की धर्मपत्नी
१०१) ,, बालचन्दजी जीजोठ वाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, शिखरचन्दजी हीरालालजी मण्ढावाला की माताजी
१०१) गुप्त
१०१) ,, रूपचन्दजी भरत्या की धर्मपत्नी
१०१) ,, कन्हैयालालजी बानूड़ा वाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, नानगरामजी मोदी की माताजी
१०१) श्रीमती डगली बाई
१०१) ,, कमलादेवी बेरी वाली

१०१) श्रीमती जानकीदेवी बेरी वाली
१०१) ,, ग्यारसीदेवी
१०१) ,, भंवरीदेवी धर्मपत्नी श्री नथमलजी पिरथीपुरा वाला
१०१) मोसीजी पतासीबाईजी
१०१) श्री शान्तीलालजी पिराका की धर्मपत्नी
१०१) ,, सोहनलालजी छाबड़ा सिहोटवाला की माताजी
१०१) ,, नोरंगजी मीरणवाला की माताजी
१०१) ,, बसन्तीलालजी बेरीवाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, ताराचन्दजी पहाड़िया की धर्मपत्नी
१०१) ,, मदनलालजी कमलकुमारजी संगही की माताजी
१०१) ,, हुकमचन्दजी अजमेरा की धर्मपत्नी
१०१) ,, सुगनचन्दजी गोवटीवाला की धर्मपत्नी श्रीमती अंजनादेवी
१०१) श्रीमती मनोहरीबाई धोदवाली
१०१) ,, गीताबाई पहाड़िया
१०१) ,, रूकमणीबाई बड़जात्या
१०१) श्री घीसालालजी शेषमवाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, प्रेमजी रानोलीवाला की धर्मपत्नी श्रीमती मैनादेवी
१०१) श्रीमती अनीता धर्मपत्नी श्री पारसकुमारजी गदिया, अजमेर वाला
१०१) कुमारी आभा सुपुत्री श्री अभयकुमारजी दिवान
१०१) श्री सोहनलालजी सीतारामजी बड़जात्या
१०१) ,, फूलचन्दजी पंडितजी की धर्मपत्नी
१०१) श्रीमती छिगनीबाई (दीवानजी की)
१०१) श्री बंशीजी पहाड़िया की धर्मपत्नी
१०१) ,, जयचन्दजी बानूड़ावाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, राधाकृष्णजी रानोलीवाला की धर्मपत्नी आनन्दीदेवी
१०१) ,, नीरू की माताजी पिरथीपुरावाला
१०१) ,, गोपालजी श्रीमाधोपुर वाला की पुत्रवधु
१०१) ,, प्रभुदयालजी पहाड़िया की धर्मपत्नी श्रीमती पानादेवी
१०१) ,, राजकुमारजी चारण का बास वाला की धर्मपत्नी राजादेवी
१०१) ,, महावीरजी हरसवाला
१०१) ,, कन्हैयालालजी विनायक्या की धर्मपत्नी श्रीमती गुणमालादेवी
१०१) ,, कज्जूलालजी लूण्यासवाला की धर्मपत्नी श्रीमती सूरजीदेवी
१०१) ,, सूरजमलजी महालजीका की धर्मपत्नी श्रीमती बिदामीदेवी
१०१) ,, मांगीलालजी बिनायक्या की धर्मपत्नी श्रीमती रूकमणीदेवी
१०१) ,, मंगलचन्दजी मानजीका की धर्मपत्नी श्रीमती मगनीदेवी
१०१) ,, ज्ञानचन्दजी छाबड़ा की माताजी श्रीमती भंवरीदेवी
१०१) ,, भागचन्दजी हरषवाला की धर्मपत्नी
१०१) ,, भंवरलालजी रारा दूजोदवाला की धर्मपत्नी श्रीमती रतनदेवी

१०१) श्री मदनलालजी अजमेरा की धर्मपत्नी
१०१) ,, मदनलालजी बिनायक्या की धर्मपत्नी श्रीमती केशरीदेवी
१००) गुप्त
१००) ,, सोहनलालजी बिनायक्या की धर्मपत्नी श्रीमती धापीदेवी
१००) ,, धर्मचन्दजी शेषमवाला की धर्मपत्नी
१००) ,, राधाकिशनजी अमरचन्दजी छाबड़ा की माताजी
१००) ,, रामेश्वरलालजी एलानी की धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीदेवी
१००) ,, जानकीलालजी छाबड़ा की धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीदेवी
१००) ,, शान्तीलालजी गोवटी वाला की धर्मपत्नी
१००) ,, बाबूलालजी छाबड़ा मूंडवाडा वाला की माताजी
१००) ,, मदनलालजी सेठी की धर्मपत्नी
१००) ,, माणकचन्दजी धोदवाला की धर्मपत्नी
१००) ,, नन्दकिशोरजी महावीरजी पहाड़िया जयपुर वाला की माताजी
१००) ,, मोतीलालजी मीरणवाला की धर्मपत्नी
१००) श्रीमती बिदामीबाई सेठी मोचीवाड़ा वाली
१००) श्री नेमीचन्दजी धोदवाला की धर्मपत्नी
१००) ,, गोपीचन्दजी चौमू वाला
२०२५) फतेहपुर जैन महिला समाज की ओर से
१२५) फुटकर आये

३५००२) कुल रकम

आय–व्यय विवरण

आय (राशि)	आय (विवरण)	व्यय (राशि)	व्यय (विवरण)
३५००२)	चन्दे से आय	१२६२०)९६	कागज
१०००)	फुटकर आय (सीकर जैन समाज द्वारा प्राप्त)	१२६)२०	चुंगी
		८१)	ट्रांसपोर्ट जयपुर से किशनगढ़
		८०००)	छपाई ४७ फार्म दर १६०)
		७६००)	बाइन्डिग स्क्रीन प्रिन्ट दर ७)६०
		१७५०)	आर्ट पेपर ३½ रीम
		११५०)	फोटू
		५)१०	रजिस्ट्री
		१२५०)	फोटू छपाई ५०) प्रति फोटू
		१३९५)	ब्लाक खर्च नग ४२
		३००)	पोस्तीन १ रीम
		१००)	पोस्तीन छपाई
		१०५०)	सीकर, जोधपुर, किशनगढ़, आने जाने का खर्चा
		६००)	किशनगढ़ से सीकर शास्त्र पहुंचाने का भाड़ा
		२०००)	मुत्फरिक खर्च जैसे सीकर से नसीराबाद मोटर द्वारा आना जाना, मेहनताना, डाकखर्च, टेम्पोभाड़ा आदि
३६००२)		३८०२७)९६	

नोट :— १००) रुपये से कम राशि दानकर्ताओं के नाम समयाभाव के कारण दान दाता सूची में प्रकाशित नहीं कर सके इसके लिये क्षमाप्रार्थी हैं। उनकी राशि फुटकर आय में सम्मिलित कर दी गई है।